देसी रियासतों में
स्वाधीनता संग्राम का इतिहास

देसी रियासतों में स्वाधीनता संग्राम का इतिहास

राजेन्द्र लाल हांडा

स्टर्लिंग पब्लिशर्ज़ (प्रा०) लि०

3640, मोरी गेट
दिल्ली–6

695, मॉडल टाउन
जालन्धर

1960

मूल्य

25 रुपये

मुद्रक : जे० के० शर्मा
इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस, इलाहाबाद

विषय-क्रम

भूमिका

(ले० श्री एस० निजलिंगप्पा)

यह पुस्तक--"देसी रियासतों में स्वाधीनता संग्राम का इतिहास"--एक दम सामयिक है। इसमें उन सत्याग्रहों और संघर्षों पर प्रकाश डाला गया है जो रियासतों में रहनेवाले लोगों को आजादी के लिए करने पड़े। इस पुस्तक के पन्नों में जिन घटनाओं का जिक्र किया गया है वे अखिल भारतीय स्वतंत्रता संग्राम का अविभाज्य अंग हैं। लेखक ने ठीक ही कहा है कि भूतपूर्व रजवाड़ों की जनता को निजी रियासतों में शासन-सुधार और भारत की आजादी के लिए जो घोर कष्ट सहने पड़े, आधुनिक इतिहास-कारों का पूरा ध्यान अभी उस तरफ नहीं गया है। रियासतें सैकड़ों थीं और उनमें साधारण ग्राम जितनी छोटी और प्रान्त जितनी बड़ी सभी रियासतें शामिल थीं, जिनमें शासन व्यवस्था का स्तर अलग-अलग और एक दूसरे से भिन्न था। इसलिए इन रियासतों के लोगों द्वारा जो संघर्ष किये गये उनसे सम्बंधित सामग्री और जानकारी प्राप्त करना आसान नहीं। यह जानकारी अनेक स्थानों में बिखरी पड़ी है और अभी तक इसे एक जगह इकट्ठा करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। इसके विपरीत अंग्रेजों के अधीन प्रान्तों में होनेवाली हलचलों के बारे में सभी सामग्री व्यवस्थित ढंग से प्रान्तों की राजधानियों में मौजूद है। रियासती आन्दोलनों के इतिहास की अवहेलना का यही प्रमुख कारण मानना चाहिये।

प्रान्तों में होने वाले सत्याग्रह आन्दोलन सरल, समतल और लगभग एकरूप थे, क्योंकि सभी प्रान्तों का शासन और राजनीतिक परिस्थितियां एक समान थीं। और फिर प्रान्तों का अपना विशेष महत्त्व भी था। भारत की तीन-चौथाई जनता उन्हींमें निवास करती थी। प्रान्तों में होने वाले स्वाधीनता संग्राम का प्रकाशित इतिहास निःसन्देह स्तुत्य है, किन्तु यह भी सही है कि इस पुस्तक में दी गई घटनाओं और ऐतिहासिक सामग्री से अखिल भारतीय स्तर पर हमारे स्वाधीनता संग्राम की कहानी में जो कमियां रह गई थीं उनकी पूर्ति हो सकेगी।

यह सौभाग्य की बात है कि इस पुस्तक के लेखक, श्री राजेन्द्रलाल हांडा ने, स्वाधीनता से बीस वर्ष पहले रजवाड़ों में जो घटनाएं घटीं और जो सार्वजनिक आन्दो-लन हुए, उन्हें बहुत निकट से देखा है। इसलिए उनकी वर्णनशैली एक प्रत्यक्ष प्रेक्षक द्वारा कही गई कहानी के समान है, जिससे इस ग्रंथ का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है। लेखक सौभाग्य से अ० भा० रियासती प्रजा-परिषद के सभी नेताओं के सम्पर्क में

आये और उनसे व्यक्तिगत रूप से परिचित रहे। इसके अतिरिक्त रियासती प्रजा-परिषद के प्रायः सभी वार्षिक अधिवेशनों में उन्होंने भाग लिया और पत्रकार होने के नाते उनके समाचार पत्रों के लिए तैयार किये।

पुस्तक के पूर्वार्ध में रियासतों की राजनीतिक, शासनिक और आर्थिक परिस्थितियों की विस्तार से चर्चा की गई है। ये परिस्थितियां ही जनसाधारण के असन्तोष और भावी आन्दोलनों का कारण बनीं और बाद में इन्हें एक सूत्र में बांधने के लिए ही अखिल भारतीय रियासती प्रजापरिषद (आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कांफ्रेंस) की स्थापना की गई। इस संस्था का उद्देश्य राजनीतिक और सांविधानिक मामलों में सभी रियासतों के प्रजाजनों को संगठित करना और अखिल भारतीय स्तर पर आजादी के युद्ध में सहयोग देना था।

अ० भा० रियासती प्रजापरिषद और नैशनल कांग्रेस के बीच जो सम्बन्ध रहे इस विषय की चर्चा जिस अध्याय में की गई है वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि भारत के विदेशी शासक और बहुतेरे भारतीय नेता रियासती प्रजापरिषद को कांग्रेस की ही एक शाखा समझते थे, फिर भी सच्चाई यह है कि रियासती परिषद एक स्वतंत्र संस्था थी। कई अवसरों पर इसका कांग्रेस से मतभेद रहा और मतभेद को तीव्र प्रस्तावों के रूप में व्यक्त किया गया। रियासती परिषद के नेताओं की यह शिकायत थी कि अधिकतर कांग्रेस नेता प्रान्तों को ही समस्त भारत मानते हैं और रजवाड़ों के अस्तित्व की उपेक्षा करते हैं, और इसीलिए वे रियासती शासन में तत्काल शासनिक सुधारों की मांग पर यथोचित जोर नहीं देते। कुछ भी हो, मतभेद अवश्य थे, किन्तु ये मतभेद पारिवारिक मात्र थे और महात्मा गांधी के सत्परामर्श तथा जवाहरलाल, सरदार पटेल, सुभाष बोस, मौलाना आजाद और अन्य कांग्रेसी नेताओं की सहानुभूति और समर्थन के कारण ये मतभेद कभी पारस्परिक विरोध का रूप नहीं ले पाये।

रियासतों की उत्पत्ति, उनका ब्रिटिशकालीन इतिहास और उनकी प्रमुख संस्था कांग्रेस में तथा पारस्परिक सम्बन्धों का स्वरूप, ये सब राजनीतिक पृष्ठभूमि के आवश्यक अंग हैं; किन्तु मेरे विचार से पुस्तक का सबसे महत्वपूर्ण अध्याय है—"संघर्ष और प्रतिरोध की चिनगारियां"। इस अध्याय में विस्तार से विभिन्न रियासतों में प्रजामंडलों, प्रजा परिषदों अथवा स्थानीय कांग्रेस समितियों द्वारा किये गये सत्याग्रहों और विरोध आन्दोलनों का विस्तृत इतिहास दिया गया है। भावी पीढ़ियों के हित में यह सब लिखना बहुत जरूरी था। क्या कोई विश्वास करेगा कि 1939 में जबकि देश के अधिकांश प्रान्तों में कांग्रेस सत्तारूढ़ थी भारत में एक ऐसा रजवाड़ा भी था जिसने अपने लोगों को इस प्रकार कहा था : "इस रियासत को मेरे पूर्वजों ने तलवार के बल से कायम किया था और मैं तलवार से ही इसे बनाये रखूंगा।" यही नहीं,

स्थानीय प्रजा मंडल के प्रतिनिधि मंडल को महाराजा ने यह धमकी दी थी : "मैं तुम्हें सलाह देता हूं कि तुम मंडल को छोड़ दो और सब तरह के आन्दोलन बन्द कर दो--नहीं तो, याद रखो, मैं एक फौजी हूं, जैसी सीधी मेरी बात है वैसी ही सीधी मेरी गोली होगी।"

फिर भी इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सभी रियासतें पिछड़ी हुई थीं या सभी रजवाड़े इतने दकियानूसी थे जितना यह महाराजा जिसका ऊपर जिक्र किया गया है। ऐसी रियासतें भी थीं, खासकर दक्षिण में, जैसे मैसूर, त्रावणकोर और कोचीन, जहां का शासन इतना व्यवस्थित और स्थायी था कि प्रान्तीय शासन भी उसकी तुलना में पिछड़े थे। यह होते हुए भी, शासन के वैयक्तिक स्वरूप और रजवाड़ों से सम्बंधित अंग्रेजों की कूटनीति के कारण ये सुशासित रियासतें भी प्रान्तों में 1937 के बाद के सांविधानिक सुधारों के मुकाबले में पिछड़ी हुई दिखाई देने लगी थीं। यही कारण है कि प्रान्तों में स्वायत्त शासन के श्रीगणेश के बाद मैसूर और अन्य रियासतों में उत्तरदायी सरकारों की स्थापना के हेतु आन्दोलन बहुत जोर पकड़ गये। इन सभी छोटी-बड़ी रियासतों में संविधान तथा शासनिक सुधारों के प्रश्न को लेकर जो आन्दोलन चले उनके बारे में लेखक ने विस्तार से और बहुत ही सन्तुलित ढंग से इस पुस्तक में चर्चा की है। इस अवसर पर उन सभी मित्रों और साथियों के प्रति जिन्होंने रियासतों में आजादी की जंग में हिस्सा लिया और कुर्बानियां कीं, श्रद्धांजलि अर्पित करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं। उनमें से कुछ सौभाग्य से अभी भी हमारे साथ हैं, किन्तु बहुत से हमसे बिछुड़ चुके हैं। वे परिश्रम, देशभक्ति और राष्ट्रीय एकता के लिए अनथक प्रयास के रूप में अपनी स्मृतियां छोड़ गये हैं। हम आज उनके आगे साभार सिर झुकाते हैं।

रियासती प्रजाजनों के आन्दोलन में भाग लेने का मेरा भी सौभाग्य रहा है। रियासती जनगण के युद्ध के सेनानी के रूप में मैं इस पुस्तक का स्वागत करता हूं। इस प्रकाशन द्वारा एक खटकने वाली कमी ही पूरी नहीं होगी बल्कि यह अंग्रेजों के आधिपत्य से देश के छुटकारे के लिए जो संग्राम भारत में किया गया उसके इतिहास का और स्वतंत्रता के अवतरण की कहानी का आवश्यक और अविभाज्य अंग समझी जायगी--ऐसी मेरी धारणा है।

नई दिल्ली
30 जुलाई, 1968

एस० निजलिंगप्पा

प्राक्कथन

दिसम्बर, 1962 में प्रधान मंत्री जवाहरलाल नेहरू के कहने पर श्री बलवन्त राय मेहता ने देसी रियासतों में किये गये स्वाधीनता संग्राम का क्रमिक इतिहास लिखने का मुझसे अनुरोध किया था। वे इस कार्य को बहुत महत्वपूर्ण मानते थे। उनका यह भी खयाल था कि भूतपूर्व रियासती प्रजाजनों में ऐसी धारणा फैलती जा रही है कि आजादी की लड़ाई में उनके योगदान को अभी तक न तो किसी ने आंका है और न किसी ने उसकी यथोचित कद्र की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने भारत के स्वाधीनता संग्राम से सम्बंधित कुछ प्रकाशित विवरणों का जिक्र किया और दुख के साथ कहा कि उनमें से किसी में भी रियासती जनता के साथ न्याय नहीं किया गया है, यद्यपि उन्हें रजवाड़ों के तानाशाही शासनों में सुधार के वास्ते और देश को विदेशी शासन से मुक्त कराने के लिए कठिन और प्रतिकूल परिस्थितियों में घोर कष्ट सहने पड़े। बलवन्त राय जी ने कहा कि मैं उनके प्रस्ताव पर विचार करूं और बाद में उनसे बात करूं।

कुछ दिन बाद बलवन्त भाई के साथ जब श्री जवाहरलाल से मिलने मुझे प्रधान मंत्री भवन जाना पड़ा, तो स्थिति कुछ और ही थी। नेहरूजी ने चटाक मुझसे सवाल किया और पटाक उसका जवाब मांगा। इसलिए मैंने तुरन्त उनके प्रस्ताव को सधन्यवाद स्वीकार किया। हम लोग प्रधान मंत्री के साथ करीब दस मिनट रहे। नेहरूजी ने बलवन्त राय से कहा कि इस कार्य में वे पुस्तकों, रिपोर्टों और रियासती संघ द्वारा प्रकाशित अन्य साहित्य से मेरी सहायता करें और जो साधारण सुविधाएं मैं मांगूं उन्हें दिलाने का प्रयास करें।

बलवन्त भाई ने राजस्थान के डायरेक्टर आव आर्काइव्ज, श्री खड़गावत से मेरा परिचय करा दिया, जिनसे मुझे बहुत मूल्यवान सामग्री मिली। खड़गावत जी ने मुझे केवल वार्षिक अधिवेशनों के विवरण तथा प्रस्ताव आदि ही नहीं भेजे, बल्कि यदाकदा होने वाले क्षेत्रीय सम्मेलनों की कार्यवाही का ब्यौरा भी दिया। इस विपुल सामग्री के बिना मेरे लिए यह पुस्तक लिखना शायद सम्भव न हो पाता। जब कभी खड़गावत जी दिल्ली आये, सदा मुझसे मिले। हमने कई अवसरों पर पुस्तक के सम्बन्ध में और रियासती प्रजाजन के संघर्षों के बारे में खुलकर विचार विनिमय किया। इस विचार विनिमय से मुझे काफी लाभ हुआ, किन्तु यहां मैंने उसी जानकारी का उपयोग किया है जिसे पुस्तक के लिए संगत और आवश्यक समझा गया। बलवन्त-

भाई के परामर्श से मैंने यह निश्चय किया था कि इस पुस्तक को जनसाधारण के आन्दोलन तक ही सीमित रखा जाय और राजाओं तथा नवाबों के जीवन-सम्बन्धी रोचक किस्से कहानियों के वर्णन के लोभ का संवरण किया जाय। वास्तव में इतिहास से सम्बंधित घटनाओं को ही इसमें स्थान दिया गया है। इस प्रयास में मैं कहां तक सफल रहा हूं, इसका निर्णय पुस्तक के पाठक ही कर सकते हैं।

पुस्तक के अन्तिम अध्याय--"कुछ स्फुट विचार"--के बारे में दो शब्द कहने जरूरी हैं। वास्तव में केवल इसी अध्याय में वस्तुगत वर्णन के अपने आदर्श से मैं च्युत हुआ हूं। इसके दो कारण हैं। एक तो, स्वाधीनता संग्राम के सम्बन्ध में सब कुछ लिख डालने के बाद और कुछ प्रासंगिक मन्तव्य कहने को नहीं रह गया था। दूसरे, इस अध्याय में जो कुछ भी कहा गया है, पूर्वगामी 300 पृष्ठों में दी गई सामग्री ही उसका आधार है। मेरी यह दृढ़ धारणा है कि इस पुस्तक के पाठक और भारतीय इतिहास के विद्यार्थी इस अध्याय में दिये गये आत्मगत विचारों का यदि स्वागत नहीं करेंगे तो कम से कम उनको उपेक्षा-भाव से भी नहीं देखेंगे।

स्व० जवाहरलाल नेहरू के प्रति आभार और आदर का भाव जितना दिखाऊं उतना थोड़ा है। 1938 से बराबर वे रियासती प्रजा के आन्दोलन के दृढ़तम आधार रहे। यह स्वाभाविक ही था कि देसी रियासतों में स्वाधीनता संग्राम को लेखनी-बद्ध करने का विचार सबसे पहले उनके मन में आया। मैं एकदम भौंचक्का रह गया जब मुझे बुलाकर उस दिन उन्होंने ये शब्द कहे : "देखिये, बलवन्तराय मुझसे यह कहते रहे हैं कि आप इस काम को हाथ में ले सकते हैं और सरअंजाम दे सकते हैं। अब चूंकि आप राष्ट्रपति भवन से भी कार्यमुक्त हो चुके हैं, समय के अभाव की समस्या अब आपको नहीं होनी चाहिये।"

बलवन्तभाई ने यही नहीं, और भी बहुत कुछ किया। समय समय पर दिल्ली में और अहमदाबाद में उन्होंने पुस्तक के बारे में मुझसे बातें कीं और अनेक सुझाव दिये। पांडुलिपि का पहला प्रारूप अप्रैल 1965 में तैयार हो गया था, जिसे उन्होंने ध्यान-पूर्वक पढ़ा और संशोधन तथा परिवर्द्धन के बारे में अपने सुझाव दिये। उन्हीं सुझावों के आधार पर पांडुलिपि को दोहराया गया और अन्तिम रूप दिया गया। मेरे लिए यह घोर क्लेश और दुख का विषय है कि आज जब यह पुस्तक छप कर तैयार हो गई है, बलवन्तभाई संसार से विदा ले चुके हैं और अपनी प्रेरणा को फलीभूत हुआ नहीं देख सकते।

श्री खड़गावत के प्रति मैं फिर से आभार प्रकट करना चाहता हूं। इस प्रयास में उनसे मुझे सदा मुंहमांगी सहायता मिली है।

नई दिल्ली
15 अगस्त, 1968

राजेन्द्र लाल हांडा

विषय-प्रवेश

इनीगिनी पुस्तकें ही अभी तक देखने में आई हैं, जिनमें भारत की आजादी की कहानी क्रमबद्ध और रोचक ढंग से कही गई है । ऐसी पुस्तकों में हम यहां दो के नाम गिनाये बिना नहीं रह सकते : एक है डा० ताराचंद की कृति जिसमें पाठकों के लिए स्वतंत्रता आंदोलन का चित्र अधिकृत ढंग से प्रस्तुत किया गया है; और दूसरी है "अवर फ्रीडम स्ट्रगल" जिसके लेखक हैं प्रसिद्ध इतिहासकार डा० मजूमदार। कहना न होगा कि इन दोनों पुस्तकों में हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की आधुनिक और वर्तमान शताब्दी की बहुमूल्य सामग्री भरी पड़ी है। इन रचनाओं के बारे में, आलोचकों और समाचारपत्रों के पुस्तक-समीक्षकों का कुछ भी मत क्यों न हो, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि दोनों की शैली घटना-परक और भाव-निरूपण निष्पक्ष तथा वस्तुगत है।

दोनों पुस्तकें अच्छी बन पड़ी हैं। फिर भी जानकारियों का तांता होने के बावजूद, इनमें चित्र का अधूरापन आंखों में खटकने लगता है। कारण यह है कि राष्ट्रीय आंदोलन की कहानी को प्रायः उसी क्षेत्र के चौखटे में जड़ने की कोशिश की गई है जिसे कभी ब्रिटिश भारत कहते थे। हमारा अभिप्राय यह नहीं है कि उस विशाल प्रदेश का, जो देसी रियासतों में बंटा हुआ था, नाम तक नहीं लिया गया है। यह संभव भी कैसे हो सकता था ? उसका जिक्र आया है किंतु भागते दौड़ते हुए, विशेषकर इस भय से कि ब्रिटिश भारत की जिन घटनाओं का वर्णन किया जा रहा है, वे उसके बिना कहीं बेसिरपैर की न रह जाएं! यह कमी खटकती है। भला ऐसा भी कहीं देखा-सुना गया है कि एक ओर देश में ऐतिहासिक तूफान आ रहा हो और दूसरी ओर उसके एक विस्तृत भाग में क्या-कुछ हो रहा है, उससे आंख मूंद ली जाय । देसी रियासतों के बारे में, जिनमें अखंड भारत का 45 प्रतिशत भू-प्रदेश और कम-से-कम एक-चौथाई जनता सम्मिलित थी, इतिहास की इस प्रकार की चुप्पी चुभती है ।

किन्हीं लोगों का कहना है कि यदि देसी रियासतों की घटनाओं का आजादी की कहानी में समावेश न किया जाए तो भी उसका चित्र बहुत धुंधला नहीं पड़ेगा, क्योंकि स्वतंत्रता-संग्राम का बीजारोपण ब्रिटिश भारत में हुआ था और यह पौधा मुख्य रूप से उसी जमीन में धीरे धीरे पनप कर बड़ा हुआ। किंतु इस दलील में ज्यादा वजन नहीं है। दरअसल रियासतों की कहानी देश के समूचे इतिहास का अटूट अंग है और जो घटनाएं हमारी आंखों के सामने आई हैं उनका जन्म देश के विभिन्न भागों

की घटनाओं के घात-प्रत्याघात के आधार पर हुआ है। इसका प्रमाण यह है कि जब-जब प्रांतों में आंदोलन की आग भड़की पड़ौसी रियासतें उसकी चिनगारियों से अधिक दूर न रह सकीं। बहुत नहीं थोड़ी ही सही, वहां की जनता में उसकी प्रतिक्रिया जरूर दिखाई दी। रियासतों की तत्कालीन अवस्था के अध्ययन से देश के स्वाधीनता-संग्राम पर समष्टि रूप से महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। प्रारंभ में, छोटे-छोटे जागीरदारों और उनके दरबारों तक से लोहा लेना कितना कठिन काम था, यह दृश्य हमारी आंखों के सामने आ जाता है।

अपनी-अपनी ढपली और अपने-अपने राग का डंका जैसा रियासतों के प्रशासन में बज रहा था, वैसा शायद ही कहीं और देखने में आता हो। हरेक रियासत में अपने-अपने ढंग का प्रशासन था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत की समस्त जनता एक ही नृवंश और राजनीतिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से एक ही कुल की है, फिर भी उसे ब्रिटिश भारत और सैकड़ों रियासतों में बांटकर छिन्नभिन्न कर दिया गया था। ब्रिटिश भारत और रियासतों के बीच की दीवारें कितनी हास्यास्पद थीं। एक ही भाषा बोलनेवाले लोग कुछ इन दीवारों के उधर पड़े हुए थे और कुछ इधर। उनके भाव-अनुभावों और लक्ष्यों में कोई अन्तर नहीं था। फिर भी जो लोग रियासतों में रहते थे, उनमें से बहुतों को प्रायः प्रारंभिक नागरिक अधिकार तक उपलब्ध न थे। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि किसी भी रियासत में प्रतिनिध्यात्मक संस्थाएं न थीं और यदि इक्के-दुक्के स्थानों में थीं भी तो भी वहां "दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा" की परम्परागत भावना के अनुसार शासक के मुख से जो शब्द निकल गया वही कानून मान लिया जाता था। सारांश यह कि ब्रिटिश प्रान्तों में राजनीति और प्रशासन की जो उन्नति हो रही थी उसकी हवा तक इन रियासतों को न छू पाई थी।

निःसंदेह, भारत की एक चौथाई जनता इन रियासतों के एक बड़े जेलखाने में रहती थी और उसके पांवों में स्वेच्छाचारी शासन की बेड़ियां पड़ी हुई थीं। पड़ौसी ब्रिटिश प्रांतों की प्रतिनिध्यात्मक शासनपद्धति का यहां कोई चिन्ह तक नहीं था। इनमें शासक और शासन दोनों एक ही चीज माने जाते थे, और यदि जनता ने शासन में किसी सुधार के लिए आवाज उठाई तो उसे शासक के विरुद्ध राजद्रोह समझा जाता था। इस प्रकार, वहां सुधारों की मांग करने या पड़ौसी ब्रिटिश प्रांतों में चल रही आजादी की लड़ाई के प्रति सहानुभूति को अपराध मान उसे कुचलने के लिए दमनचक्र चलाना एक छोटी सी बात थी। इस स्थिति में, वहां लोकतंत्रीय शासन की स्थापना के लिए कोई आंदोलन छेड़ना ब्रिटिश प्रांतों की तुलना में भारी जान-

जोखिम का काम था। यदि ब्रिटिश भारत में नौकरशाही कायम थी तो इन रजवाड़ों में पुरातनपंथीका बोल-बाला था। यही कारण है कि भारत के स्वाधीनता-संग्राम के जानकार इतिहासकारों ने उन लोगों की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है जिन्होंने ब्रिटिश भारत से आगे बढ़कर समस्त भारत में आजादी की लड़ाई फैलाने और रियासतों के शासन को लोकतंत्र की ओर मोड़ने के लिए आवाज उठायी थी।

भारत का भूखंड छै सौ से अधिक रियासतों में कैसे बंट गया था, और सरदार पटेल ने एक ही झपट्टे में उनके स्वेच्छाचारी शासन का अंत कैसे कर दिया, यह कहानी देश के इतिहास का अंग बन चुकी है और बिस्मार्क के अधीन जर्मनी के एकीकरण की कहानी से कहीं अधिक विस्मयकारी है। हमारे स्वाधीनता के युग की सबसे बड़ी सफलता क्या है? इसे जानने के लिए हमें स्वाधीनता के पहले के चित्र पर निगाह डालनी होगी। यह तभी संभव होगा जबकि हम रियासतों की आजादी की लड़ाई की ओर उचित ध्यान दें जिसमें जनता को बहुत कठिन चुनौतियों का सामना करना पड़ा था।

इस बारे में एक ही उदाहरण काफी होगा। वर्तमान केन्द्र-शासित हिमाचल प्रदेश उन दिनों छोटे-छोटे बीस से भी अधिक टुकड़ों में विभाजित था, जिनको रियासतें कहते थे और जिनके शासक अपने को प्रभुसत्ताधारी राजा मानते थे। *1939* में, इनमें से एक राजा ने अपने महल की सीढ़ियों पर खड़े चार आदमियों को जान से मार दिया और उसका कुछ भी बाल बांका नहीं हुआ। गुजरात प्रदेश में एक रजवाड़ा ऐसा भी था जिसके महल में कुत्तों का बाड़े-का-बाड़ा था जिसकी देख-भाल पर समस्त राज्य के अस्पतालों और दवाखानों के बजट से भी अधिक रुपया खर्च होता था। उदार विचारवाले अंग्रेज भी इन राजाओं को निकम्मा कहने लगे थे और उनकी रियासतों की दीन-हीन अवस्था देखकर उनका हृदय पिघल उठता था। इन हाड़-मांस के पुतलों की सनकबाजी और ऊलजलूल करतूतों की कहानी किसी उपन्यास से कम रोचक नहीं होती बशर्ते कि उनके अत्याचारों से जनता पर मुसीबत का पहाड़ न गिर पड़ा होता।

इस रियासती प्रथा का एक स्वरूप और भी था जिसने भारत में अंग्रेजी शासन की जड़ें मजबूत करने में मदद की। राजा-महाराज और उनकी सरकारें ब्रिटिश सत्ता को आजादी के सिपाहियों की चोटों से बचाने में ढाल का काम करती रहीं। बिना लेन-देन के आपसी प्रबंध मजबूत और चिरस्थायी नहीं बन सकता। दोनों पक्ष, वास्तव में, ऐसे ही आपसी हित की कड़ी में जुड़े हुए थे : रियासतों को अपनी सीमाओं

के संरक्षण के लिए सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता की कृपा की जरूरत थी और इसके बदले में ब्रिटिश सत्ता को राजा-महाराजाओं की वफादारी की आवश्यकता थी जिससे वह देश में आजादी के आंदोलन को बढ़ने से रोक सके। इधर, आजादी के सिपाहियों ने इन रियासतों को "अल्स्टर" का नाम दे रखा था जिनकी पीठ पर विदेशी सरकार का हाथ था।

निजी स्वार्थ की रक्षा के लिए दोनो पक्षों में गठबंधन हो जाना स्वाभाविक था। ब्रिटिश सरकार भारत में अपने साम्राज्य की और देसी नरेश अपने निजी अस्तित्व की रक्षा के लिए एक दूसरे से मिल गये। देश की स्वतंत्रता का अर्थ था नरेशों के अधिकारों और विशेषाधिकारों की कपालक्रिया। ये नरेश, उनकी रियासतें और उनका राजवंश इस देश की धरती पर तभी तक कायम थे जबतक यहां ब्रिटिश सरकार का पांव जमा हुआ था। इसीलिए कांग्रेस का आन्दोलन अधिकांश राजाओं-नवाबों के लिए सिर-दर्द बन गया था; और ऐसा होना स्वाभाविक था। किन्तु इससे भी अधिक स्वाभाविक बात यह है कि इन विषम परिस्थितियों में जो लोग छाती ठोंककर स्वेच्छाचारी नरेशों के विरुद्ध मैदान में उतर पड़े, उनकी हम जी खोलकर प्रशंसा करें। इन रियासतों के विलय और उनमें प्रजातंत्रीय सरकार का प्रादुर्भाव होने के बाद, ऐसे कितने ही लोगों को शासन की जिम्मेदारी संभालने का अवसर मिला, और वे आज नव-भारत के भाग्य के निर्माण में सराहनीय योगदान कर रहे हैं।

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है, उससे साफ हो जाता है कि रियासतों के संघर्ष को उचित स्थान दिये बिना भारत की आजादी के इतिहास का कलेवर पूर्ण नहीं हो सकता। यदि यह भी मान लिया जाए कि आलइंडिया स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेंस, जो रियासती जनता का प्रधान संगठन था, इंडियन नेशनल कांग्रेस का ही एक हाथ था तो भी रियासतों के स्वाधीनता-संघर्ष की कहानी अलग से लिखने की आवश्यकता खत्म नहीं हो जाती। हम इसी पुस्तक के अगले अध्यायों में पढ़ेंगे कि रियासती जनता के प्रति पूरी सहानुभूति और सद्भावना होते हुए भी कांग्रेस उसके अरमानों को पूरा करने के लिए रास्ता नहीं निकाल सकी। शुरू से आखिर तक, वह रियासतों के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करने का रवैया अपनाये रही। लाचार होकर रियासती जनता को उत्तरदायी सरकार बनाने की अपनी लड़ाई जारी रखने के लिए अपने पांव पर खड़ा होना पड़ा। उसे अपने बीच अपने नेता पैदा करने पड़े। यह अच्छा ही हुआ क्योंकि 1946-47 तथा स्वाधीनता के तुरंत बाद, इन नेताओं के कंधों पर विकट

जिम्मेदारियां आ पड़ीं जिनको उन्होंने सफलतापूर्वक निभाया। यद्यपि रियासती जनता को कांग्रेस के तीन कर्णधारों—महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल—से हमेशा सलाह-मशविरे मिलते रहते थे, फिर भी आगे कदम बढ़ाने के लिए उसे अपने रियासती नेताओं की ओर ही ताकना पड़ता था।

आइए, अब इस प्रश्न पर विलोम रूप में विचार करें। यदि रियासती जनता के नेताओं ने अपने-अपने प्रदेशों में लोकमत संगठित न किया होता तो देश पर क्या बीतती ? देश किधर जाता ? उस दशा में, यदि जोधपुर की जनता ने, किन लोगों से उसका भाईचारा या लगाव है, यह स्पष्ट ढंग से प्रकट न कर दिया होता, तो उसके दिवंगत महाराजा-जैसे दबंग आदमी को पाकिस्तान में मिलने या स्वतंत्रता की घोषणा करने से कौन रोक सकता था ? भारत के स्वाधीन होने से दो महीने पहले तक ट्रावनकोर के दीवान का रुझान स्वतंत्रता की ओर बना रहा, और जूनागढ़ के नवाब ने तो अपनी रियासत पाकिस्तान में मिलाने की घोषणा कर दी थी। यदि उनकी जनता संगठित रूप से खड़े होकर आवाज उठाना न जानती तो दीवान जी और नवाब साहब की बंदर-घुड़कियों से रियासतों का नक्शा ही बदल गया होता। आज रियासतों के विलय और राष्ट्र के दूसरे भागों के साथ एकजीव होने की कहानी "दुनिया के इतिहास की सबसे बड़ी रक्तहीन क्रान्ति" मानी जा रही है; यदि जनता ने जी-जान की बाजी न लगा दी होती और आजादी की मशाल उनके तपे-तपाये नेताओं के मजबूत हाथों में न होती तो उसका स्वरूप ही दूसरा होता।

इसी जनता और उसके संघर्ष की कहानी इस पुस्तक में मिलेगी। कितने ही इतिहासकारों ने भारत की आजादी की कहानी लिखी है, किंतु उन्होंने रियासतों की कहानी को मूल-गाथा में क्षेपक से अधिक स्थान नहीं दिया है। आशा है कि प्रस्तुत रचना उन सराहनीय ग्रंथों के पूरक रूप में ग्रहण की जाएगी, जिनके लेखक हैं डा० ताराचंद और डा० मजूमदार जैसे कलम के धनी।

रियासतों में आजादी के सिपाहियों को निष्ठुर दमन-चक्र का शिकार होना पड़ा। इसलिए रियासतों की आजादी की कहानी पर अलग से इतिहास लिखने के लिए प्रचुर बहुमूल्य सामग्री मौजूद है। फिर भी यदि प्रस्तुत पुस्तक को समूचे भारत की आजादी की कहानी के साथ-साथ पढ़ने की कोशिश की जाय तो हमें आशा ही नहीं बल्कि विश्वास भी है कि पाठक ब्रिटिश सरकार द्वारा भारतीय जनता के गण्यमान्य प्रतिनिधियों को सत्ता सौंपे जाने से पहले इस उपमहाद्वीप में क्या-कुछ हुआ, उसका अधिक विशद, स्पष्ट चित्र पा सकेंगे।

देसी रियासतें या रजवाड़े

इतिहास और राजनीति का आपसी घनिष्ठ संबंध है। ब्रिटिश इतिहासकार प्रो० सीले का तो यहां तक कहना है कि यदि इतिहास पेड़ की जड़ है तो राजनीति को उसका फल मानना चाहिये। भारत की देसी रियासतों का अध्ययन करते समय हमें इसी कसौटी से काम लेना होगा; उनका जीता-जागता चित्र खींचने के लिए इतिहास और राजनीति दोनों पर निगाह डालनी होगी। जाहिर है, जब तक हमें उनके इतिहास की झलक नहीं मिल जाती, हम उनके राजनीतिक स्वरूप को अच्छी तरह नहीं समझ सकते हैं; और इन रियासतों के कारण राजा-नवाब, उनकी प्रजा, सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता और यहां तक कि स्वयं भारत किस राजनीतिक कीचड़ में फंस गया था, उसकी कहानी बताये बिना उनका इतिहास हमारे लिए बिल्कुल फीका पड़ जाता है।

किंतु, इन रियासतों के इतिहास पर प्रकाश डालने से पहले हमारा ध्यान जिस ओर अपने-आप चला जाता है वह यह है कि ये रियासतें कितनी थीं ? और कैसी थीं ?

भारत भर में लगभग 600 रियासतें बिखरी पड़ी थीं, जो ब्रिटिश भारत का अंग न थीं। इन रियासतों और प्रांतों के बीच इतिहास ने एक दीवार खड़ी कर दी थी जिससे ब्रिटिश सरकार उनके शासन में सीधा हाथ नहीं डाल सकती थी। इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से, दो भारत बन गये थे : एक था ब्रिटिश भारत जिस पर ब्रिटिश पार्लमेंट के विधि-विधान और कानूनों द्वारा शासन किया जाता था, और दूसरा था देसी भारत जिस पर राजाओं और नवाबों का निजी सिक्का कायम था।[1]

ये रियासतें, जिनकी गिनती से सिर चकरा उठता था और जिनके आकार-प्रकार और मान-मर्यादा में आकाश-पाताल का अंतर था, कैसे बन गई थीं, इसका वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा। यहां तो उनके रूप-रंग के बारे में कुछ मुख्य बातें लिखना ही काफी होगा।

गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट 1935 में देसी रियासतों की जो परिभाषा मिलती है, उसमें कहा गया है कि देसी रियासत "चाहे उसे स्टेट, एस्टेट और जागीर या अन्य किसी नाम से क्यों न पुकारा जाय, वह प्रदेश है जो एक ऐसे शासक के आधिपत्य या अधिराज्य में है जिसको स्वयं ब्रिटिश सम्राट् की छत्रछाया प्राप्त है किन्तु वह (प्रदेश)

---

[1] देखिए बटलर कमेटी की रिपोर्ट, पृ० 14

ब्रिटिश भारत का अंग नहीं है।" कहना न होगा कि इस परिभाषा के सहारे तत्कालीन ब्रिटिश सरकार या जनता दोनों में से एक भी यह नहीं बता सकती थी कि देसी रियासतों की ठीक-ठीक संख्या कितनी है। बटलर कमेटी और साइमन कमीशन ने इस परिभाषा के आधार पर उनकी संख्या 562 तय की थी। लेकिन भारतीय संविधान सुधार संयुक्त समितियों ने वह पूरे 600 तक पहुंचा दी थी। सचमुच, जिस किताब के पन्ने पलटिए, उसमें उनकी एक नई संख्या लिखी मिलेगी या भारत के बारे में जिस सरकारी रिपोर्ट को देखिए उसमें उनकी एक अपनी गिनती गिनाई गई होगी।

इन रियासतों के क्षेत्रफल, राजस्व और शासनतंत्रों में आकाश और पाताल का अंतर था। जहां हैदराबाद और कश्मीर जैसी रियासतें थीं जो क्षेत्रफल में ब्रिटेन के बराबर थीं, वहां शिमला की पहाड़ियों और काठियावाड़ में ऐसी नन्हीं-नन्हीं जागीरें और ठिकाने थे जिनका आकार नगरों में हवाखोरी के पार्कों से किसी कदर बड़ा न था! इन्हीं 562 में से 454 रियासतों का क्षेत्रफल 1000 वर्ग मील से भी कम, और 452 रियासतों की जनसंख्या दस लाख से भी नीचे थी। मुश्किल से उन रियासतों की संख्या 30 होगी जो क्षेत्रफल, जनसंख्या और आर्थिक साधनों की दृष्टि से ब्रिटिश भारत के किसी औसत जिले से टक्कर ले सकती थीं। किंतु इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि इनमें कम से कम 15 रियासतें ऐसी थीं जिनमें से किसी का भी क्षेत्रफल एक वर्गमील के बराबर न था। तीन रियासतों में किसी की भी जनसंख्या 100 से ऊपर न थी। दस वर्ग मील से कम क्षेत्रफल वाली रियासतों की संख्या लगभग 202 थी। किंतु इन बातों का ख्याल कौन करता था? वहां तो सब धान बाईस पंसेरी थे। शालग्राम की बटिया छोटी हो या बड़ी, सब समान हैं। उन सभी का नाम इसीलिए "स्टेट" था!

इन रियासतों के राजस्वों में भी कुछ ऐसा ही अंतर था। लगभग 19 रियासतें ऐसी थीं, जिनकी वार्षिक आय एक करोड़ रुपये या उससे अधिक थी; सात रियासतें एक करोड़ और 50 लाख के बीच में आती थीं। धीरे-धीरे यह संख्या इतनी नीचे गिर जाती है कि कुछ छोटे-छोटे ठिकानों की आय तो एक कारीगर की औसत मजदूरी से अधिक न थी।[1]

इन रियासतों की शासन पद्धतियों में भी यही अंतर था। प्रगतिशील रियासत और पिछड़ी रियासत के प्रशासनों की आपसी तुलना करना व्यर्थ होगा। फिर भी

---

[1] देखिए ह्वाइट पेपर ऑन इंडियन स्टेट्स (1948), पृ० 4

इस बारे में दो शब्द कहना आवश्यक है। नरेंद्र मंडल (Chamber of Princes) के सरकारी अभिलेखों के अनुसार, 60 रियासतों में, 1938 तक, किसी-न-किसी प्रकार की विधान सभाएं स्थापित हो चुकी थीं। कुछ दूसरी रियासतें 1945-46 में जनता को शासन-तंत्र में भाग देने की योजनाओं पर विचार कर रही थीं। फिर भी एक बात साफ है। भारत के ब्रिटिश प्रांतों में जिस स्वशासन-तंत्र का विकास हो रहा था, इनमें से अधिकांश रियासतों की प्रतिनिध्यात्मक संस्थाओं को उसकी हवा तक नहीं छू पाई थी। उनके पिछड़ेपन का इससे बढ़कर उदाहरण और क्या हो सकता है कि हैदराबाद-जैसी बड़ी रियासत जब 1948 में भारत सरकार के राज्य मंत्रालय के हाथ में आई तब तक उसमें सामान्य जनता द्वारा निर्वाचित विधान सभा तक न थी।

सच तो यह है कि राजा-नवाब, सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता या देसी शासकों के पिट्ठू, इनमें से कोई भी इस बात का दावा नहीं कर सकता था कि रियासतों में प्रगति या आधुनिकता की लहर फैल चली है। सर हरकोर्ट बटलर को तो अपनी सरकारी रिपोर्ट में यहां तक लिखना पड़ा था : "यहां वे रियासतें हैं जहां पितृतंत्र या अर्द्ध-सामंत-तंत्र का बोलबाला है, जिससे इतिहास के मध्ययुग का रूप आंखों के सामने आ जाता है, और वे रियासतें भी हैं जहां सोलहों आने एकतंत्रीय प्रशासन कायम है।"

निदान, ये रियासतें एकाधिक सदी तक बिना चीं-चपड़ किये पड़ी रहीं। वहां की जनता मुख खोलना तक न जानती थी। हां, इस बीच एक बात देखने में जरूर आई। राजनीतिक विभाग (Political Department) के उदार अधिकारियों को जनता की बुरी हालत देखकर जब कभी तरस आ जाता था तब वे उनके प्रशासन को आड़े हाथों लेने से न चूकते थे। एक बार तो स्वयं वायसराय ने बड़ी संयत भाषा में इन राजाओं और नवाबों की भर्त्सना की थी। लार्ड कर्जन ने बताया था कि रियासतों के आंतरिक प्रशासन के प्रति ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता की भी जिम्मेदारियां हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती है। उनकी यह चेतावनी हमारे इतिहास की सामग्री बन चुकी है। उन्होंने कहा था :

"कोई भी राजा या नवाब साम्राज्य में सम्राट् की वफादार प्रजा कैसे बन सकता है जबकि वह स्वयं अपनी जनता के साथ निरंकुश शासक की भांति बर्ताव करता है? उसे चाहिए कि वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग नहीं बल्कि सदुपयोग करे। उसे अपनी जनता का स्वामी और सेवक दोनों बनना अभीष्ट है। उसे जानना चाहिए कि उसके पास राज्यकोष गुलछर्रे उड़ाने के लिए नहीं, बल्कि जनता की भलाई के कामों

पर व्यय करने के लिए है। जितने ईमानदार उसके कर्मचारी होंगे उतना ही उसका भीतरी प्रशासन बुराइयों से दूर होगा। याद रखो कि उसे गद्दी इसलिए नहीं मिली है कि वह रंग-रेलियों में मस्त रहेगा और जनता के प्रति अपने कर्त्तव्यों को उठाकर ताक में रख देगा। पोलो के मैदान या घुड़दौड़ के मैदान में खेल-कूद से जी बहलाने या योरप के होटलों में जाकर मौज-बहार करने से उसकी जिंदगी का काम पूरा नहीं हो जाता है। उसका असली काम--राजा या नवाब होने के नाते उसकी असली जिम्मेदारी अपनी जनता के प्रति है। मैं इसी पैमाने से उसे मापने की कोशिश करूंगा। यह राजनीतिक संस्था जीवित रहेगी या विनष्ट हो जाएगी, इसका दारमदार आखिरकार इसी कसौटी पर निर्भर होगा"[1]।

यह बात नहीं थी कि केवल वायसराय ही इन राजाओं और नवाबों की चाल-ढाल पर क्षुब्ध हो गये थे जिससे उन्होंने उनकी डांट-डपट की थी। उनके अलावा, उन विदेशी पर्यटकों और विचारकों की भी संख्या कम नहीं है जो खुले रूप से कहते थे कि ब्रिटिश सरकार की छत्रछाया में ये रियासतें क्यों पनप रही हैं ? लार्ड रोलिसन ने इनको "बीसवीं सदी में मध्यकालीन इतिहास का कोढ़" बताया था। उनका कहना है :

"मेरे विचार से ये (रजवाड़े) आज संसार में फिजूलखर्ची के सबसे बड़े अड्डे हैं। आज के युग में उनकी किसी भी दृष्टि से कोई उपयोगिता नहीं है। जो तड़क-भड़क अब से लगभग दो सौ साल पहले मुगल सम्राटों ने एक बड़े पैमाने पर कायम की थी, वह आज भी वायसराय, प्रांतों और रियासतों के शासनों के चारों ओर छायी हुई है।"

अपनी बहु-पठित पुस्तक "लास्ट होम ऑफ मिस्ट्री" में कर्नल पावेल ने यही विचार प्रकट किया है। उसका कहना है : "यह मानने से कौन इन्कार कर सकता है कि भारत के राजा और नवाब जिस तड़क-भड़क से रहते हैं और उस पर जो धन व्यय करते हैं, यदि कहीं उतना व्यय बड़े-बड़े यूरोपीय देशों के शासकों पर भी किया जाए तो उनका दिवाला निकल जाएगा या उनमें क्रांति हो जाएगी। ... भारत की जनता तो यूं ही गरीब है। इस पर तुर्रा यह कि उसके राजा और नवाब अपने आमोद-प्रमोद पर रुपये को पानी की तरह बहाते रहते हैं।"

कितनी लज्जा की बात है कि इन राजाओं और नवाबों की चालढाल को देखकर स्वर्गीय श्रीनिवास शास्त्री से भी अधिक चुप न रहा गया था। आखिरकार इन

---

[1] दि स्पीचेज ऑफ़ लार्ड कर्जन : पृ० 310

विनम्र और उदार राजनीतिज्ञ को भी अपना मुख खोलना पड़ा था। कोचीन की एक भरी आम सभा में वे इन स्वेच्छाचारी शासकों के बारे में कह बैठे थे :

"जनता के रुपये से जहां कहीं भोग-विलास की सामग्री खरीदी जा सकती है वहां ये (राजा-नवाब) हमेशा दिखाई देंगे। चाहे लंदन हो, चाहे पेरिस हो या कोई और फैशनेबुल नगर हो, आपको वहां कोई-न-कोई राजा या महाराजा अवश्य मिल जाएगा। उसके दो ही काम हैं: उसकी तड़क-भड़क से या तो यूरोप के लोगों की आंखें चकाचौंध हो जाती हैं या जो कोई उसके पास जाता है उसको वह बिगाड़ कर रख देता है।"

भारत के राजा-महाराजाओं से कोई एक बात यही सीख सकता था कि दोनों हाथ से धन कैसे फेंका जाता है। जनता की खून-पसीने की कमाई से गुलछर्रे कैसे उड़ाये जा सकते हैं? उनके अपने निजी खर्च की रकम को "प्रिवी पर्स" कहते थे। "प्रिवी पर्स" में कितना रुपया जाना चाहिए? रियासत की आय कितनी है? और जनता की आवश्यकता क्या है? इन बातों पर कोई भी राजा या नवाब अपना दिमाग खपाने को तैयार न था। वह तो जी खोल कर खर्च करने को धन ले लिया करता था। इन राजाओं को अपने हीरे-जवाहरात दिखाने का बड़ा शौक था और कहां तक लिखें वे बड़े भद्दे ढंग से अपनी धन्नासेठी दिखाते रहते थे। कर्नल पावेल ने, जिनका जिक्र पहले भी हो चुका है, अपनी पुस्तक में नरेंद्र मंडल के एक वार्षिक सम्मेलन में भाग लेनेवाले राजाओं और नवाबों का कुछ वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि यह सम्मेलन नयी दिल्ली में हुआ मानो राजाओं-महाराजाओं को भारत की राजधानी में अपने हीरे-जवाहरात दिखाने और पोलो के घोड़ों पर चढ़कर निकलने का एक स्वर्ण अवसर मिल गया। "दिल्ली में केवल एक पखवाड़ा बिताने के लिए एक राजा, 300 मील दूर से, अपने साथ एक विशाल अमला लाया था—उसमें 40 मंत्री, न्यायालय-अधिकारी, अंगरक्षक और सचिव, 100 से अधिक नौकर-चाकर, डेरे की चौकसी के लिए संतरियों की पलटन, 30-40 मोटरकारें और लगभग 60 पोलो खेलने के घोड़े थे।"

समय बीतते इन राजाओं-महाराजाओं के विरुद्ध इतनी घृणा बढ़ गई और वे इतने बदनाम हो गये कि दूसरे महासमर से पहले भविष्यवक्ता की कौन कहे, एक सामान्य पुरुष भी यह साफ-साफ कहने लगा कि अब उनका नाम-निशान अधिक दिनों तक नहीं रहेगा। फिर भी, जब-जब इन रियासतों की जनता और उसके नेताओं ने इन राजाओं और नवाबों के खत्म होने के बारे में अपना मत प्रकट किया, उसे यह कह कर ठुकरा दिया गया कि वे अपने शासकों की एकतर्फा आलोचना कर रहे हैं।

जब कभी कांग्रेसी नेताओं और ब्रिटिश भारत के सार्वजनिक नेताओं ने राजाओं और उनकी रियासतों के शासन-तंत्रों की आलोचना की, तब भारत सरकार ने वह इसलिए अनसुनी कर दी कि इन लोगों को विदेशी सरकार और उसके कार्यों में मीन-मेष निकालने की कुटेव पड़ गई है। फिर भी इस बात पर पर्दा नहीं डाला जा सकता था कि पढ़े-लिखे लोग, चाहे वे भारतीय थे या विदेशी, यह भांप गये थे कि रजवाड़ा-प्रथा में भीषण दरारें पैदा हो गई हैं और हमारे देखते-देखते किसी दिन यह महल धराशायी हो जायगा। जनता को अब यह बात कहां बर्दाश्त थी कि शासन की बागडोर एक आदमी के हाथ में रहे? और जब इस आदमी का बचाव एक बाहरी ताकत करती हो जिसका सामना करने में वह असमर्थ थी तब उसका यह क्षोभ बढ़ना और भी स्वाभाविक था। इस विषम स्थिति का जिक्र करते हुए, रंगा अय्यर ने लिखा है:

"आदमी चाहे योग्य क्यों न हों, फिर भी एक आदमी का शासन बुरा होता है। किंतु जब यह शासन एक ऐसे आदमी के हाथ पड़ जाता है, जिसमें पूर्वी देशों के निरंकुश शासकों के भयंकर से भयंकर दुर्गुण समाये हुए हैं, अर्थात् वह कामिनी, कादम्बिनी, और जनता की उपेक्षा करके रंग-रेलियों में मस्त रहता है—तो फिर उसके परिणाम की कल्पना करना मुश्किल है। यदि आज इन रियासतों की जनता की मत-गणना की जाय तो इसमें संदेह नहीं है कि वह अपने-अपने प्रदेश को ब्रिटिश भारत में मिलाने के पक्ष में हंसी खुशी से वोट देगी। आज ये रियासतें केवल ब्रिटिश सरकार की दया पर निर्भर हैं।

"इन रियासतों में जैसा भ्रष्टाचार और बेईमानी फैली हुई है, जैसा दमनचक्र चल रहा है और जिस कदर एक-तंत्र का बोलबाला है, उसका यदि एक हजारवां अंश भी ब्रिटिश भारत में होता तो ब्रिटिश राज न मालूम कब का धरती पर से उठ गया होता।"

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है, वह तस्वीर का एक पहलू है। यह सोचना ठीक न होगा कि राजा-महाराजा नितान्त काहिल थे, और हाथ-पर-हाथ धरे बैठे रहते थे। वे निःसंदेह अपनी रक्षा करना जानते थे और इसके लिए उनके पास धन और बुद्धि की कमी न थी। उनके दलालों की हलचलों से लंदन गूंजता रहता था और वे ब्रिटिश संसद के कितने ही सदस्यों को तोड़फोड़ कर अपने पक्ष में मिलाये रहते थे। कितने ही सदस्यों के विचार उनके अनुकूल थे। जब बटलर कमेटी की रिपोर्ट तैयार हो रही थी तब इन राजाओं ने अपने पक्ष की वकालत, के लिए ब्रिटेन के एक विख्यात वकील और लेखक, ए० पी० निकलसन, को अपने काम पर लगाया था।

निकल्सन ने राजाओं के दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए एक पुस्तक लिख डाली थी जिसका नाम था "स्क्राप्स ऑफ पेपर"। उसने लिखा था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी और मौजूदा नरेशों के पुरखाओं के बीच जो संधियां हुई थीं उनके आधार पर इनके साथ प्रभुसत्तासम्पन्न राजाओं-जैसा व्यवहार किया जाना चाहिए।

निकल्सन ने केवल इतना ही नहीं लिखा था कि इन भारतीय नरेशों को राजनीतिक विभाग की गुलामी से छुटकारा मिलना चाहिए, बल्कि वह यहां तक कह बैठा कि देसी रियासतों की शासनपद्धति ब्रिटिश भारत के प्रांतों से कहीं अधिक उपयोगी है। इस कथन के समर्थन में उन्होंने सर वाल्टर लारेंस के निम्नांकित शब्दों को उद्धृत किया था :

"मैं भारतीयों की प्रशंसा करता हूं, उनके महान् गुणों का आदर करता हूं और उनके महान् भविष्य में विश्वास रखता हूं। और, मेरा ख़्याल है कि हाल में जो परीक्षण किया गया है—जो रियायतें की गई हैं—उनसे किसी को लाभ नहीं पहुंचता बल्कि उल्टी हमारी सरकार कमजोर बन जाती है और जनता में परेशानी और नाराजगी पैदा होती है। इस हालत में, मैं एक नया परीक्षण करने का सुझाव देना चाहता हूं—एक नये प्रकार की सरकार बनाई जाए जो भारतीय आदर्श के अनुकूल हो और ब्रिटिश संबंधों को कमजोर न होने दे। मैं समस्त ब्रिटिश भारत को देसी रियासतों में बदल देना चाहता हूं।"

भारत की ये रियासतें किसी योजना के आधार पर नहीं बनाई गई थीं। उन्हें तो ऐतिहासिक घटनाओं की उपज कहना अधिक न्याय-संगत होगा। यही कारण है कि कितनी ही रियासतों के प्रदेश टुकड़ों-टुकड़ों में बंटे थे और वे एक-दूसरे से अलग-अलग पड़े हुए थे। यदि हमें कहीं यह देखने को मिलता था कि ब्रिटिश प्रांत की भूमि किसी रियासत के इलाके में घुसी चली गई है तो इस प्रकार के उदाहरणों की संख्या भी कम न थी कि रियासतें ब्रिटिश प्रान्तों के उदर में रखी हुई हैं। वे छोटी-छोटी थीं और चारों ओर से ब्रिटिश प्रदेश द्वारा घिरी होने के कारण ऐसी लगती थीं मानो कमीज पर जेब लगी हुई है। इससे भी विचित्र बात यह थी कि एक रियासत का एक टुकड़ा कहीं है और दूसरा टुकड़ा कोसों दूर अलग कटा पड़ा है। इस विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए हमें पटियाला, नाभा और जींद का उदाहरण देना होगा। इन सिख रियासतों ने 1857 का महान विप्लव कुचलने में ब्रिटिश सरकार की सहायता की थी और उसके पुरस्कार में उन्हें एक-एक जिला दिया गया था। ये जिले अलवर और दिल्ली के बीच में थे और इन रियासतों की ठेठ भूमि से सौ-सौ मील दूर पड़े हुए थे।

शिमला की पहाड़ियों में स्थित छोटी-सी कलसिया रियासत की कहानी इससे भी अजीब है। उसके अंतर्गत एक उपजाऊ गांव का ब्लाक, 150 मील दूर फीरोजपुर जिले में स्थित था। इसके अतिरिक्त कुछ और भी आवश्यक चीजें थीं जिनके कारण ब्रिटिश और रियासती प्रदेशों के बीच कड़ी जोड़नी पड़ती थी। संचार-व्यवस्था को ही लीजिए। देश को एक धागे में पिरोनेवाली सड़कें, रेल-तार मार्ग आदि ब्रिटिश और रियासती प्रदेशों का भेदभाव भूलकर सीधे चले जा रहे थे। आर्थिक हितों—वाणिज्य और व्यापार ने इन कृत्रिम सीमाओं को ढाह दिया था। व्यापारियों का एक पांव ब्रिटिश भारत में था तो दूसरा किसी-न-किसी रियासत में। यदि किसी कारण से आर्थिक जगत में प्रांतों और राज्यों के सहयोग के बीच कोई दीवार खड़ी हो जाती थी तो उसका दुष्परिणाम समूचे देश को भोगना पड़ता था। इस संबंध में 1938 के राजकोट कांड की याद आ जाती है। रियासत और बंबई के कांग्रेसी मंत्रिमंडल के बीच जो संघर्ष उठ खड़ा हुआ था, उसके कारण महात्मा गांधी तक को अनशन करना पड़ा था।

धर्म या सम्प्रदाय की दृष्टि से इन रियासतों की जनता ने एक और विकट समस्या खड़ी कर दी थी। यद्यपि अधिकांश रियासतों में रहनेवाली जनता के बहुमत का वही धर्म था जोकि उसके शासक का था फिर भी कुछ महत्त्वपूर्ण रियासतें ऐसी थीं जिन पर यह बात लागू नहीं होती थी। इस श्रेणी में सबसे ऊपर हैदराबाद और कश्मीर के नाम लिखे जाएंगे। भोपाल और जूनागढ़ भी यद्यपि उतनी बड़ी रियासतें न थीं फिर भी इसी छूत की बीमारी से पीड़ित थीं। इन रियासतों में शासक का धर्म या मजहब अपनी बहुसंख्यक जनता के धर्म से भिन्न था। यदि हम सम्प्रदाय के आधार पर भारत की जनसंख्या का अध्ययन करें तो ब्रिटिश प्रांतों और रियासतों की हिंदू-मुस्लिम जनसंख्या के अनुपात में कोई गहरी विषमता नहीं मिलेगी। विभाजित भारत की जनसंख्या के आंकड़ों से ज्ञात होता है कि भारत के हिंदुओं और मुसलमानों की जनसंख्या का क्रमशः 27 और 26 प्रतिशत भाग इन रियासतों में रहता था। इसी प्रकार इन रियासतों में रहनेवाले क्रिश्चियनों और सिखों की जनसंख्या भी क्रमशः 50 और 26 प्रतिशत थी।

इन रियासतों में भिन्न-भिन्न प्रकार के वित्तीय ढांचे और राजस्व कानून प्रचलित थे। एक ओर जहां बहुत-सी छोटी-छोटी रियासतों में लागू कठोर कर-व्यवस्था ने जनता के गरीब वर्ग का जीवन दूभर बना दिया था, वहां दूसरी ओर हैदराबाद, इंदौर और ग्वालियर जैसी बड़ी रियासतों में आय-कर नाम की कोई चीज न थी। इससे इन रियासतों में ब्रिटिश प्रांतों और दूसरी रियासतों की पूंजी धड़ाधड़ पहुंच रही थी।

और नये-नये उद्योग-धंधों पर लगाई जा रही थी। 1947 तक इन रियासतों में कितने ही महत्त्वपूर्ण उद्योग स्थापित हो चुके थे।

भारत के भीतरी मामलों में रियासतों की जनता को ब्रिटिश प्रजा नहीं माना जाता था। हां, आगे चलकर रियासतों के लोगों को अवश्य अखिल भारतीय सेवाओं की प्रतियोगिता में भाग लेने की छूट मिल गई थी। किंतु जहां अंतर्राष्ट्रीय कानून का क्षेत्र आ जाता था वहां इन लोगों को ब्रिटिश प्रजा ही माना जाता था। कारण यह था कि विदेशी मामलों की देखभाल का अधिकार केवल भारत की ब्रिटिश सरकार के ही हाथ में था।

यह है देसी रियासतों और उन पर शासन करनेवाले राजा-महाराजाओं और नवाबों की कहानी। इनका क्या महत्त्व था? जो विदेशी भारत के प्राचीन इतिहास और स्मारकों की खोज में यहां आते थे वे भले ही इन सबको देखकर थोड़ी देर के लिए ऊहापोह में लग जाते होंगे। ये अनगिनत रियासतें, उनकी ऊटपटांग सीमाएं, उनकी स्वेच्छाचारितापूर्ण तथा-कथित पूर्वीय शासन पद्धतियां और सबसे बढ़कर हीरा-जवाहरात के आभूषणों से लदे उनके राजा-महाराजा इन विदेशियों के कौतू-हल का कारण बन जाते थे। किंतु उनका यह मनबहलाव थोड़ी देर को ही था। जब उन्हें यह मालूम पड़ता था कि इस विशाल "अजायबघर" की सजावट के लिए इन रियासतों के $7\frac{1}{2}$ करोड़ लोग पशु का जीवन बिता रहे हैं, तो उनकी सहानुभूति अपने-आप जनता के साथ हो जाती थी, और वे उसके मूलभूत अधिकारों के संघर्ष की पीठ ठोंकने लगते थे। इतना ही क्यों, वे उसकी इस मांग का भी समर्थन करते थे कि यदि इन रियासतों में उत्तरदायी सरकार नहीं बन रही है तो भी सरकार नाम की जो कोई व्यवस्था हो उसे जनता के सुख-दुख का ख्याल तो रखना ही चाहिए।

रियासतों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

"फ्रांसीसियों और अंग्रेजों में पहले पहल लड़ाई कर्नाटक में छिड़ी। इन छोटी-छोटी मुठभेड़ों ने आगे चलकर ऐसा उग्र रूप धारण किया कि ईस्ट इंडिया कम्पनी बुरी तरह से दक्षिण भारत के युद्ध और राजनीति में फंस गई। उधर प्लासी के मैदान में क्लाइव के हाथ सिराजुद्दौला को जो करारी हार खानी पड़ी, उससे अंग्रेज बंगाल के मालिक बन बैठे। यह घटना 1757 की है। इससे सिर्फ 16 साल बाद, 1773 में नार्थ का रेग्युलेटिंग एक्ट बना और वारेन हेस्टिंग्स ने मुगल सम्राट् को नजराना देना बंद कर दिया। फिर क्या देखने में आया? भारत का विशाल प्रदेश अंग्रेजों के चरणों पर पड़ा हुआ था जिसके शासन की बागडोर उनके हाथ में थी और विभिन्न राजा-महाराजाओं और सरकारों के साथ उनका घनिष्ठ संबंध था।"

—सर सिडनी लो

देसी रियासतें कैसे बनी थीं? इसका इतिहास बहुत ही रोचक है; और भारत में ब्रिटिश सर्वोच्च सत्ता की स्थापना से जुड़ा हुआ है। यद्यपि बहुत-सी रियासतें ऐसी थीं जिनकी ज़ड़ें भारत में अंग्रेजी राज स्थापित होने से पहले भी मौजूद थीं फिर भी अधिकांश रियासतों को जन्म देनेवाले अंग्रेज ही थे। उनकी पीठ पर एक गहरी ब्रिटिश नीति काम कर रही थी। उन्होंने कुछ रियासतें इसलिए बनायी थीं जिससे भारत में ब्रिटिश हितों की नींव मजबूत हो जाए और कुछ इसलिए ताकि लड़ाई-झगड़ों का निबटारा होकर स्थिति स्थिर हो जाए। इस प्रकार उनके एक नहीं, अनेक उद्देश्य थे। कभी-कभी ईस्ट इंडिया कम्पनी ने किसी किसी राजाको केवल इसी-लिए मान्यता दे दी थी कि वह या तो उसका मित्र बन जाए या उसके विरुद्ध उसके शत्रुओं की मदद न करे। कभी-कभी ऐसा भी देखने में आया कि जो शासक उपद्रवी थे उनसे बचने के लिए कम्पनी ने एक सस्ता नुसखा निकाला: वह "जो चाहे सो करो" की छूट देकर उन्हें ब्रिटिश प्रदेश से हाथ दूर रखने को राजी कर लेती थी। इस श्रेणी में राजस्थान की टोंक रियासत का नाम लिया जा सकता है। इतिहास में पिंडारियों के उपद्रवों की याद अब भी हरीभरी हो उठती है। उनके कुख्यात नेता चेतू के उत्तरा-धिकारी को राजी करने के लिए यह रियासत बनाई गई थी ताकि वह लूटमार मचाना बंद कर दे। यथासंभव अंग्रेज आये-दिन की लड़ाइयों और झंझटों से बचना चाहते

थे। जहां तक उनके स्वार्थों की पूर्ति हो सके और उनकी सुरक्षा पर कोई आंच न आए, वहां तक जाने को वे सदा तैयार रहते थे। यदि किसी वर्तमान राजा को मान्यता देने या नया राजा बनाने से उनकी कठिनाइयां हल होती थीं तो वे ऐसा करने में न चूकते थे। इस नीति का यह परिणाम हुआ कि 1757 से 1857 के भीतर सौ वर्षों में रियासतों की संख्या बढ़ती ही गई। इनमें से कुछ रियासतें जानबूझकर बनाई गई, कुछ मजबूर होकर स्वीकार की गईं और शेष अपने-आप बन गईं।

वी० पी० मेनन के इस कथन में कम सचाई नहीं है कि ईस्ट इंडिया कम्पनी की कोठी बढ़ते-बढ़ते एक प्रांत बन गई और प्रांत बढ़ते-बढ़ते एक साम्राज्य बन गया। हम जानते हैं कि ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भारत में अंग्रेजी राज्य स्थापित करने में अपनी जी-जान की बाजी लगा दी थी, किंतु उसके एजेंटों को अपने इग्लैंड के मालिकों से अभीष्ट सहयोग कभी नहीं मिला। इसके विपरीत, वे तो सदा उन्हें इस काम के लिए अनुत्साहित करते रहते थे। फिर भी कम्पनी ने समय रहते इस देश में महान् ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना कर दी। देसी रियासतें, जो देश भर में फैली हुई थीं, इसविशाल साम्राज्य का महत्त्वपूर्ण अंग थीं और उनकी स्थापना कम्पनी की नीति की "महान सफलता" की द्योतक थी।

लगभग 562 रियासतें थीं। इनमें बहुतों का यह दावा था कि उनके राजवंश का इतिहास प्राचीन है। यद्यपि उनका यह दावा इतिहास की कसौटी पर खरा नहीं उतरता था और प्रायः सच न था फिर भी अपनी मान-मर्यादा बढ़ाने के लिए वे गला फाड़ कर इतिहास की दुहाई देते थे। हैदराबाद, भोपाल, रामपुर, आदि-जैसी रियासतें इस प्रकार की डींग नहीं मार सकती थीं क्योंकि उनका इतिहास मुस्लिम कालसे अधिक पुराना न था। उन्हें इतने पर ही संतोष करना पड़ा कि उनके राजवंश का उद्भव विख्यात मुगल सूबेदारों या मुस्लिम वीरों से हुआ था। हां, ट्रावनकोर, उदयपुर, जोधपुर और कुछ अन्य रजवाड़े ऐसे थे जिनके राजवंशों की प्राचीनता का दावा नहीं ठुकराया जा सकता था। इनको छोड़कर अधिकांश रियासतें कम्पनी की उस रीति-नीति के कारण बनी थीं जिसे वह समय-समय पर अपनाती रही। उनकी पीठ पर इतिहास की कहानी नहीं, बल्कि इतिहास की घटनाओं का हाथ था।

औरंगजेब की मृत्यु के बाद मुगल-साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया। देखने में मुस्लिम साम्राज्य का महल खड़ा हुआ था, पर उसके अधीनवर्ती सूबेदार जगह-जगह अपनी हुकूमत चला रहे थे। दिल्ली के मुगल दरबार के प्रति उनकी वफादारी दिखावे भर

को थी। यदि यही ढर्रा बना रहता और यूरोप की शक्तियां—फ्रांसीसी और विशेषकर अंग्रेज—इस मैदान में न आ कूदतीं, तो यह साफ था कि समय आने पर मराठे इस बची खुची मुस्लिम ताकत को उखाड़ फेंकते और भारत में मुगलों की जगह अपना साम्राज्य बना लेते। लेकिन ईस्ट इंडिया कम्पनी की पैंतरेबाजी के आगे उनकी दाल न गल सकी। 1757 में प्लासी की लड़ाई में क्लाइव की जो विजय हुई उससे कम्पनी की आंखों के सामने नया चित्र आ गया। उसने सैनिक संधियां करके विभिन्न शक्तियों के बीच जोड़-तोड़ का बाजार गर्म कर दिया जिसका उद्देश्य था कि किस प्रकार भारत में अंग्रेजों के हितों की रक्षा की जाए और उस अराजकता के तूफान का मुकाबला किया जाए, जिसमें देश फंस गया था। ईस्ट इंडिया कम्पनी के अधिकारियों ने केवल अपने बचाव के लिए संधियां करने पर ध्यान दिया था। किंतु उनके इस काम से जान या अनजान में भारत में देसी रियासतें बनने का द्वार खुल गया।

ईस्ट इंडिया कम्पनी की इन हलचलों का काल विभाजन दो भागों में किया जा सकता है: 1757 से 1813 और 1813 से 1857

1757-1813 में ईस्ट इंडिया कम्पनी की नीति यह थी कि भारत में जहां-जहां उनकी कोठियां थीं वहां और उनके आसपास के इलाकों तक ही वह अपना व्यापार सीमित रखे और वह अपनी बस्तियों के बाहर हाथ-पैर न फैलाए। 1784 के पिट इंडिया बिल में लिखा था कि "भारत में राज्य कायम करने की योजनाओं पर चलना एकऐसी बात है जो इस राष्ट्र की इच्छा, आत्मसम्मान और नीति से मेल नहीं खाती"। किंतु आगे जो कुछ हुआ उससे साफ प्रकट होता है कि ब्रिटिश सरकार की इस घोषणा और इतिहास की घटनाओं में रात-दिन का अंतर था। यह ठीक है कि गवर्नर-जनरल इंग्लैंड में कम्पनी के डायरेक्टरों की इच्छाओं का पालन करना चाहता था और अहस्त-क्षेप तथा सीमित जिम्मेदारियों की नीति बरतना चाहता था, फिर भी आये दिन नयी-नयी संधियां होती रहीं और कम्पनी की छत्रछाया में नये-नये देसी रजवाड़े आते गये। शाय यह अच्छा ही था कि भारत के ब्रिटिश अधिकारी इग्लैंड के डायरेक्टरों के आदेशों का पालन आंख मींच कर नहीं करते थे। वे अपनी सूझबूझ से भी काम लेते थे। भारत में जो घटनायें हो रही थीं, उनसे यह बात साबित हो जाती है। ब्रिटिश इतिहासकारों ने उनकी इस सूझबूझ की सराहना की है। एक ने लिखा है:

"मुगल सत्ता आखिरी सांस ले रही थी; मराठों के आक्रमण बढ़ रहे थे; अंग्रेजों-फ्रांसीसियों का युद्ध चल रहा था और रियासतों में अंग्रेजों की जड़ें खोखला करने के

लिये फ्रांसीसी षड्यंत्र जारी थे; हैदरअली और टीपू-जैसे सैन्यवादी अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा करने की घात में थे; नेपोलियन भारत पर चढ़ाई करने का स्वप्न देख रहा था; नेपाल भारत का प्रदेश हड़पने की घात में था; रणजीतसिंह पंजाब में सतलज के उस पार का राज्य सतलज के इस पार ब्रिटिश क्षेत्र में फैलाना चाहते थे; पिंडारियों की लूटमार की धूम मची हुई थी और जो कमजोर रियासतें थीं उनमें उन्होंने अपने अड्डे बना लिये थे जहां से मौका पाकर वे अपने पड़ौसी प्रदेशों पर धावा बोलते थे। इन परिस्थितियों से मजबूर होकर ब्रिटिश अधिकारियों को सैनिक संधियों की आवश्यकता पड़ी ताकि वे अपने हितों की रक्षा और अपने मित्रों का बचाव कर सकें; तथा उपद्रवों के भंवर में फंसे उपमहाद्वीप में शांति स्थापित कर सकें जिसके बिना कम्पनी का व्यापार नहीं चल सकता था। इसका अर्थ यह हुआ कि जो नीति अब तक कम्पनी के प्रभाववर्ती इलाके के भीतर तथा आसपास की रियासतों के साथ संधियां करने तक ही सीमित थी, वह आगे चल कर भारत में दूर-दूर तक फैली रियासतों को भी अपनी छत्रछाया में लेने लगी और उनके साथ साझेदारी तथा संघ स्थापित करने लगी जिसने अंत में भारत में सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता का रूप धारण कर लिया।"[1]

कितनी ही रियासतों ने कम्पनी के साथ संधियां कर लीं। ज्यों-ज्यों कम्पनी को रणक्षेत्रों और कूटनीति में सफलता मिलती गई त्यों-त्यों उसकी धाक बढ़ना स्वाभाविक बात थी। कम्पनी और देसी नरेशों के बीच प्रारंभ में जो संधिपत्र लिखे गये उनकी भाषा से प्रकट होता है कि ब्रिटिश अधिकारियों ने रियासतों के साथ समानता का व्यवहार किया था। हां, इतना अवश्य है कि समान होते हुए भी कम्पनी को बड़ा माना गया था। लेकिन बाद में हवा का रुख बदल चला। ज्यों-ज्यों देसी नरेश ब्रिटिश संरक्षण के लिए उतावले हो गये और यह संरक्षण उनके जीवन-मरण का प्रश्न बन गया, ब्रिटिश अधिकारियों की आवाज में फर्क आ गया; और उसी का असर संधिपत्रों की भाषा पर पड़ने लगा। हम देख सकते हैं कि प्रारंभिक चरण के संधिपत्रों में दोनों पक्षों के बीच स्थायी मित्रता का उल्लेख किया गया है। किंतु आगे चलकर यह चीज नहीं रही। कम्पनी का पद बड़ा और रियासतों का छोटा होने पर भी नरेशों को कोई संकोच न था।

---

1. सर ज्योफ्रे डी मोंटमोरेंसी—"दि इंडियन स्टेटस् एंड इंडियन फेडरेशन"—पृ० 34-35

धीरे-धीरे यह स्पष्ट हो गया कि भारत की प्रधान शक्ति ब्रिटिश है और अब देसी रजवाड़ों की भलाई "इसीमें थी कि वे सही रास्ते पर चलें। पहले चरण में, रियासतों और कम्पनी के बीच जो संधियां हुई थीं उनमें साफ तौर पर केवल यही लिखा था कि कम्पनी के व्यापार को उनके प्रदेश में प्रतिस्पर्धियों के विरुद्ध विशेष रियायतें प्राप्त रहेंगी।"[1] लेकिन बाद में, यह दुनिया बिल्कुल बदल गई, जिसकी झलक मेनन के नीचे लिखे शब्दों से पाठकों को मिल सकती है :

"लार्ड हेस्टिंग्स के अवकाश ग्रहण करने के बाद रियासतों के आंतरिक प्रशासन परकम्पनी का प्रभाव तेजी से बढ़ने लगा। पहले कम्पनी के जो रेजिडेंट रियासतों में रहते थे वे एक विदेशी सरकार के राजनीतिक प्रतिनिधि भर थे। किंतु अब धीरे-धीरे उनका चोला बदल चुका था। वे अपने को एक वरिष्ठ सरकार द्वारा नियुक्त प्रबंधक और नियंत्रक अधिकारी मानते थे और उसी तरह का आचरण करते थे। उन्होंने इतनी शक्ति हथिया ली थी कि एक कर्नल मेकोले ने कोचीन के राजा को लिखा था : "रेजीडेंट महोदय कोचीन पहुंच रहे हैं और आप (राजा) उनसे मिलने के लिए उपस्थित होंगे।"[2]

परिस्थितियों के करवट बदलते ही कम्पनी और नरेशों के आपसी संबंधों में हेरफेर होने लगा : कम्पनी का दबदबा बढ़ता गया और राजा-महाराजा झुकते गये, यहां तक कि आगे जो करारनामे लिखे गये उनमें एक नया खंड जोड़ दिया गया। लिखा गया : "सामान्य हित के उद्देश्य से (कम्पनी को) रियासतों में उत्तराधिकार के झगड़े निबटाने, रियासतों को खंड-खंड होने से बचाने, उनमें वैध शासक के विरुद्ध विद्रोह कुचलने, कुशासन की रोकथाम करने, अमानुषिक कुरीतियां बंद करने और धर्म-पूजा की स्वतंत्रता देने के मामलों में हाथ डालने का अधिकार होगा।"

इसी शर्त की आड़ लेकर डलहौजी ने सतारा, झांसी और नागपुर की रियासतों को छीनकर ब्रिटिश राज्य में सम्मिलित कर लिया था और उत्तराधिकारी गोद लेने की नई प्रथा की घोषणा की थी। जब 1857 में ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध भारतीय जनता ने संगठित होकर पहली बार विद्रोह का झंडा खड़ा किया तब तक कम्पनी कितने ही देसी रजवाड़ों को खत्म कर चुकी थी और उन प्रदेशों पर सीधा ब्रिटिश

---

[1] वी० पी० मेनन : दि स्टोरी ऑफ इंटीग्रेशन ऑफ दि इंडियन स्टेट्स—

[2] वही

शासन कायम हो चुका था। दूसरे शब्दों में तब तक भारत का दो-तिहाई भू-प्रदेश और आधे-से-अधिक जनसंख्या ब्रिटिश प्रांतों का अंग बन चुकी थी।

1858 में सम्राज्ञी विक्टोरिया की घोषणा से रियासतों के इतिहास के तीसरे चरण का श्रीगणेश होता है। कहना न होगा कि इस ऐतिहासिक घोषणा ने राजाओं और नवाबों के घावों पर मरहम का काम किया। उन्हें आश्वासन मिल गया कि उनकी रियासतों की सीमाओं पर कोई आंच न आएगी और उनके राजवंश सदा राज्य करते रहेंगे। राजकीय घोषणा में कहा गया था :

"हमें अपने राज्य की सीमाओं के विस्तार की इच्छा नहीं, और यद्यपि हम अपने राज्य और अधिकारों पर किसी प्रकार का प्रहार बर्दाश्त नहीं कर सकते फिर भी हम देसी नरेशों के अधिकार, प्रतिष्ठाओं और मर्यादाओं का उतना ही आदर करेंगे जितना कि हमें अपनी प्रतिष्ठा, मर्यादा और अधिकारों की परवाह है। साथ में, हम यह भी चाहते हैं कि उनकी और हमारी अपनी प्रजा की वह सब आर्थिक समृद्धि और सामाजिक प्रगति होनी चाहिए जो किसी राज्य में आंतरिक शांति और सुशासन कायम होने पर भी संभव हो सकती है।"

डलहौजी की नीति से देसी नरेशों के दिलों में जो घाव हो गये थे वे अब भी टीस मार रहे थे। फिर भी 1857 के विद्रोह में अधिकांश नरेशों ने हाथ नहीं डाला। उलटे कुछ ने तो अपनी सेना और अधिकांश प्रजा की बात अनसुनी करके विद्रोह दबाने में ब्रिटिश शासकों की मदद की। लार्ड केनिंग ने इन रियासतों के इस काम की प्रशंसा की थी। उन्होंने नपे-तुले शब्दों में कहा था कि जब देश "विद्रोह के भयंकर तूफान में फंस गया था तब ये रियासतें बिखरी हुई चट्टानों की भांति सीना ताने खड़ी रहीं"। एल्फिन्स्टोन ने साफ शब्दों में कहा है—"यदि सिंधिया, निजाम और सिखों की रियासतें ब्रिटिश राज्य में मिला ली गई होतीं, यदि प्रेसीडेंसियां खत्म कर दी गई होतीं और देश की सारी सेना एक बना दी गई होती और राजस्व-प्रथा भी एक कर दी गई होती, तो आज हम कहां होते?" विद्रोह से भारत के ब्रिटिश शासकों की आंखें खुल गईं। वे जान गये कि भारत में ब्रिटिश शासन कायम रखने के लिए देसी रियासतें बहुत जरूरी हैं। यही कारण था कि ब्रिटिश पार्लमेंट ने विक्टोरिया की घोषणा पर अपनी छाप लगाने में देर नहीं की। उसने 'भारत में बेहतर शासन एक्ट' नामक कानून पास किया जिसमें कहा गया था कि "कम्पनी ने जो संधियां कर रखी हैं, ब्रिटिश सम्राज्ञी उन सबका पालन करेगी।" इस एक्ट के बाद रियासतों को ब्रिटिश प्रदेश में नहीं मिलाया गया। उनके अस्तित्व के लिए खतरा मिट गया। अब नरेशों के प्रति ब्रिटिश नीति में

एक नया मोड़ शुरू हुआ। ब्रिटिश शासकों ने ऐसी नरमी और आत्मीयता दिखाई कि धीरे-धीरे राजा-महाराजा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के कल्पनातीत स्तम्भ बन गये।

इसका अर्थ यह नहीं है कि 1857 के बाद देसी नरेशों के इतिहास का प्रवाह रुक गया। सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता ने अब जो नीति अपनाई उससे उनमें एक नई प्रतिस्पर्धा पैदा हो गई। समय-समय पर ब्रिटिश सरकार मनमाने ढंग से कुछ नरेशों की पद-वृद्धि करने लगी। 1883 से प्रायः यह देखने में आया कि छोटी-छोटी रियासतों का पद ऊंचा उठा कर बड़ों के बराबर किया जाने लगा। ब्रिटिश सरकार का कहना था कि ऐसा करना साम्राज्य की नीति का अंग बन गया है और उपयोगी है। बस, उसने कुछ नरेशों की सनदों में समय-समय पर संशोधन करके उनका पद ऊंचा कर दिया और उन्हें अधिक अधिकार दे दिये।

उड़ीसा का इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। उड़ीसा के कितने ही जागीरदारों का भाग्य अचानक चमक उठा। कल तक जो कोरे जागीरदार थे, वे अब राजा बन गये। 1939 में, उड़ीसा रियासती जांच कमेटी ने साफ शब्दों में लिखा था कि उड़ीसा की रियासतें पहले कहां थीं! वे तो अभी-अभी बनी हैं। अपने इस मत के समर्थन में, उसने राजनीतिक विभाग के प्रतिवेदनों और दस्तावेजों से प्रमाणों के ढेर लगा दिये थे। बताया था कि 1888 से पहले इन रियासतों को ब्रिटिश भारत का इलाका माना जाता था और इनके राजाओं को जागीरदारों से अधिक ऊंचा पद प्राप्त न था। फिर ये जागीरें रियासतें कैसे बन गईं? इसकी घटना बड़ी विचित्र है। उच्च न्यायालय के एक फैसले ने वह कर दिखाया जो कभी-कभी तलवार भी नहीं कर सकती: उच्च न्यायालय ने मयूरभंज के केस में एक फैसला दिया था, उसके आधार पर भारतमंत्री ने निर्णय किया कि उड़ीसा की ये रियासतें ब्रिटिश भारत का प्रदेश नहीं हैं। फिर क्या था? 27 अक्टूबर 1894 को इनको नयी सनदें मिल गईं जिनमें इन नये रजाओं के पद, अधिकार और प्रतिष्ठा का उल्लेख था।

ऊपर बताये गये मयूरभंज केस के बारे में यहां दो शब्द लिखना अप्रासंगिक न होगा। उड़ीसा रियासत जांच कमेटी का कहना है कि जुलाई 1881 में बंगाल उच्च न्यायालय की एक बेंच ने एक फौजदारी मामले में फैसला दिया कि मयूरभंज ब्रिटिश भारत का अंग है। कनिंघम और प्रिसेप दोनों जजों ने इस बारे में जो तर्क दिये वे बड़े ही युक्तिपूर्ण थे। उच्चन्यायालय के इस फैसले से मयूरभंज के राजा का माथा ठनक उठा। उसने बंगाल सरकार का उस ओर ध्यान दिलाया। उड़ीसा की ये रियासतें 'महाल' कहलाती थीं और ब्रिटिश सरकार को कर देती थीं। इन महालों

के अधीक्षक का उनके बारे में क्या मत था उसकी झलक नीचे दी गई पंक्तियों से मिल जाएगी :

"जब प्रशासन के संचालन के लिए कानून बनाये जा रहे हैं तब उसके अध्यक्ष के हाथ से कार्यांग और न्यायांग की सम्पूर्ण सत्ता छीनकर उसे सरकार द्वारा नियुक्त विशेष अधिकारियों को दे देना ठीक न होगा। यदि ऐसा करना लाजिमी हो तो बरामिनी के उत्तर के महालों अर्थात् मयूरभंज, नीलगिरि, क्योंझर और पल्लवेड़ा को मिलाकर एक क्षेत्र बना दिया जाए और उसका शासन एक डिप्टी कमिश्नर के सिपुर्द कर दिया जाए जिसका मुख्यालय अंगुल में हो। उसके मातहत अफसरों के ठिकाने भी सुविधा की दृष्टि से जगह-जगह बनाये जा सकते हैं और उन्हें मालगुजारी वसूल करने तया फौजदारी के मामले निबटाने के उचित अधिकार दिये जा सकते हैं। ···महालों के राजाओं के साथ हमारा ऐसा कोई भी करार नहीं है जो इस नयी व्यवस्था के रास्ते में अड़ंगा लगा सके। उनके साथ वैसे ही करार किये गये थे जैसे कि जमींदारों के साथ थे जिनकी जायदादों के बारे में सरकार ने कानून बना दिये हैं। ···यदि महालों के राजाओं से कार्यांग और न्यायांग के अधिकार छीन लिये गये तो फिर उनका पद एक प्रकार के स्थायी जमींदार से अधिक न रह जाएगा और वे न्यायालयों के सामान्य अधिकार क्षेत्र के भीतर आ जाएंगे। फिर इन महालों का कार्यांगीय और न्यायांगीय प्रशासन अब से कहीं अधिक उत्तरदायित्व-पूर्ण हो जाएगा।"

जब मयूरभंज के राजा ने बंगाल सरकार के सामने अपना मामला पेश किया तब करद महालों के अधीक्षक ने फिर अपना मत प्रकट किया। उसने अपनी चिट्ठी में लिखा :

"बड़े विचार और अध्ययन के बाद मैंने यह नतीजा निकाला है कि उड़ीसा के करद महाल ब्रिटिश भारत के अंग हैं जैसाकि 1868 के अधिनियम 1 अनुभाग 2, खंड 8 से विदित होता है···।"

अंत में, बंगाल सरकार ने भी इसका दो टूक फैसला कर दिया। बंगाल के लेफ्टिनेंट-गवर्नर ने भारत सरकार को जो पत्र भेजा था उसमें साफ-साफ लिखा था :

"लेफ्टिनेंट-गवर्नर भारत सरकार को इस प्रश्न के बारे में लम्बा-चौड़ा ब्यौरा और जानकारी भेज रहा है और उसे यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं है कि ये करद महाल ब्रिटिश भारत के अंग हैं। इस समय जहां तक न्यायालय के फैसले का सम्बन्ध है, उच्च न्यायालय की पूरी बेंच ने 11 मार्च 1882 को जो व्यवस्था (रूलिंग)

दी है वह मेरे विचार के विरुद्ध जान पड़ती है। फिर भी उससे यह साफ हो जाता है कि उच्च न्यायालय की दो बेंचों के मत भिन्न-भिन्न हैं और यदि सम्पूर्ण न्यायालय की पूर्ण ब्रेंच विचार करे तो संभवतः वह यही फैसला देगी कि ये महाल ब्रिटिश भारत के अंग हैं।"

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उससे साफ है कि बंगाल सरकार का केवल यही कहना न था कि उड़ीसा के महाल ब्रिटिश भारत के अंग हैं बल्कि वह यह भी चाहती थी कि भारत सरकार इसकी स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दे।

फिर भी इन सब प्रमाणों के बावजूद, भारतमंत्री ने घोषणा कर दी कि उड़ीसा के महाल ब्रिटिश प्रदेश नहीं हैं और उनको सनदें दे दीं, जिससे उन्हें "आंशिक प्रभुसत्ता मिल गई और उनके शासक ब्रिटिश सरकार की छत्रछाया में करद राजा बन गये।" अब यह बात किसी से छिपी न रही कि सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता भारत में जितनी रियासतें बना सकती है, बनाने को व्यग्र है। वह इसके लिए इतिहास और जनता के हितों को भी उठाकर ताक में रख सकती है। सर जोन स्ट्रेचे ने 1910 में सच ही लिखा कि "1857 के गदर ने यह बात दो टूक सिद्ध कर दी थी कि देसी रियासतें अंग्रेजों के लिए दुर्बलता नहीं बल्कि शक्ति का स्रोत बन गई हैं।"

इस ब्रिटिश नीति का छोटे-छोटे रजवाड़ों पर भारी कुप्रभाव पड़ा। उनका पद बढ़ गया है या बढ़ाया जानेवाला है, इससे उनका दिमाग आसमान पर चढ़ गया। बस क्या था, वे अपने ठाठ-बाट पर बेशुमार रुपया खर्च करने लगे। उनकी 'प्रिवी पर्स' में मनमाना इजाफा हो गया और उनकी थैलियों का मुंह खुल गया। उधर पद बढ़ता था, इधर प्रिवीपर्स की रकम बढ़ जाती थी। चाहे छोटी छोटी रियासतों के आय के साधन सीमित ही क्यों न थे, उनके राजाओं के महलों का खर्च किसी कदर कम न था। चादर की लम्बाई के अनुसार पैर फैलाने की बात उनके कानों तक को पसंद न थी। उनके बीच तो एक-से-एक अधिक खर्चीला बनने की होड़ चलती रहती थी। उन पर बाहरी दिखावे की एक सनक सवार थी।

महारानी विक्टोरिया की घोषणा ने देसी नरेशों के मन में यह विश्वास पैदा कर दिया था कि अब उनके राजवंशों पर कोई आंच नहीं आएगी और उनके राज्य बदस्तूर कायम बने रहेंगे। जब उनका ध्यान इस ओर जाता था कि 1857 के विद्रोह में उन्होंने ब्रिटिश सरकार की जो सेवा की है उसके कारण ब्रिटेन के बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों की दृष्टि में देसी रियासतों का महत्त्व बढ़ गया है, तब उनका यह विश्वास और भी मजबूत हो जाता था। उधर इंग्लैंड के सरकारी क्षेत्र राजा-महाराजाओं की अडिग

निष्ठा की वाहवाही करने लगे थे और कहते थे कि यदि भविष्य में इसी प्रकार का तूफान कहीं फिर आ गया तो वे लोग ब्रिटिश सरकार के दाहिने हाथ का काम देंगे। इसी समय सम्राज्ञी ने भारत के गवर्नर-जनरल को वायसराय और गवर्नर-जनरल बनाकर मानो इस बात का ढिंढोरा पीट दिया कि ब्रिटिश सरकार की आंखों में देसी नरेशों का महत्त्व पहले से बढ़ गया है।

विक्टोरिया की घोषणा के बाद जमाने की हवा ही बदल गई। फिर ब्रिटिश सरकार ने किसी रियासत पर लालचभरी निगाह नहीं डाली। यदि किसी रियासत ने स्वयं ब्रिटिश प्रदेश में विलय का प्रस्ताव भी किया तो सरकार ने उसे ठुकरा दिया। इस प्रसंग में, यहां मैसूर का उल्लेख करना आवश्यक है। ब्रिटिश सरकार ने यह रियासत एक हिंदू राजा को लौटा दी जिसके पुरखों ने उस पर पहले कभी राज्य किया था। एक दूसरा उदाहरण बनारस का है। लगभग सौ वर्षों तक ब्रिटिश प्रांत में सम्मिलित रहने के बाद, 1911 में वह फिर एक अलग रियासत बन गयी।

सम्राज्ञी की घोषणा ने रियासतों का कायापलट कर दिया। भारतीय राजनीतिक ढांचे में उनका पाया एकाएक मजबूत बन गया। गिनती ही नहीं, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से भी ब्रिटिश साम्राज्य के नक्शे में उनको एक महत्त्वपूर्ण अलग स्थान मिल गया। किंतु सब दिन समान नहीं होते। डाक-तार, रेलों, सड़कों, सिंचाई के लिए नहरों तथा इसी प्रकार की दूसरी योजनाओं ने उनकी इन बनावटी सीमाओं को फिर से तोड़ना शुरू कर दिया। संचार और परिवहन साधनों के फैलाव के सामने यह भेद-भाव ज्यादा देर तक न टिक सका कि कहां ब्रिटिश प्रदेश है और कहां रियासतों की भूमि है। एक ही रेलें, सड़कें, डाक-तार दोनों की छाती को चीरते हुए, आगे तक चले गये। इसका श्रेय अंग्रेजों को ही देना होगा। जब संचार या परिवहन के विकास का सवाल उनके सामने आया, तो उन्होंने राजाओं और महाराजाओं की भावनाओं का तनिक भी ख्याल नहीं रखा। वे ब्रिटिश प्रदेश के रेलमार्गों और सड़कों को रियासती प्रदेश से होकर ले जाने में नहीं हिचकिचाये। ऐसा जान पड़ता था मानो रियासती प्रदेश पर भारत सरकार का ही सीधा नियंत्रण हो। कुछ राजाओं को यह बात खटकती थी कि संधियों का उल्लंघन आंख मींच कर किया जा रहा है, किंतु उनकी एक भी न चली। इसके अलावा नमक के उत्पादन और निर्यात के सवाल पर भी दोनों पक्षों में झगड़ा उठ खड़ा हुआ। कच्छ और मंडी जैसी रियासतें नमक की खानों या नमक के उत्पादन पर अपना एकाधिकार कायम करना चाहती थीं। किंतु भारत सरकार इस सर्वोपयोगी आवश्यक चीज को कुछ लोगों के

हाथ में सौंपकर सामान्य जनता और प्रशासन को उनकी दया पर नहीं छोड़ना चाहती थी। सारे उपमहाद्वीप में नमक-जैसे जीवनोपयोगी पदार्थ कास मान वितरण और समान नियंत्रण ठीक ही था।

नमक के बाद अफीम का सवाल आया। जहां नमक के उत्पादन और वितरण को जनता में बढ़ावा देना था वहां अफीम के उत्पादन को अधिक-से-अधिक कम करना था। कुछ रियासतों की आमदनी का मुख्य जरिया अफीम की खेती ही थी। उधर अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं इस बात पर जोर दे रही थीं कि जिन देशों में अफीम की खेती अंधाधुंध रूप से बढ़ रही है, उनमें उसकी कमी का प्रोग्राम अपनाया जाए। इन रियासतों ने इस प्रोग्राम का विरोध किया किंतु यहां भी उन्हें मुंह की खानी पड़ी। यद्यपि इस बारे में दिखाने के लिए समझौता वार्ताएं चलायी गईं किंतु असलियत यह थी कि राजनीतिक विभाग के अधिकारियों ने प्रायः कलम पकड़ कर अफीम समझौता पत्रों पर राजाओं के हस्ताक्षर करवा लिये थे। सारांश यह कि संधियों को ताक में रखकर ब्रिटिश अधिकारी राजाओं-महाराजाओं से कोई भी करार करवा लेते थे।

राजाओं का परम्परागत विशेष अधिकार भी झगड़े का सवाल बन गया। देसी नरेश यह मनवाने की चेष्टा करते थे कि वे प्रभुसत्तासम्पन्न राजा हैं। किंतु उनका यह प्रयास फिस्स हो गया। "ब्रिटिश सत्ता का इस मामले में यही निर्णय था कि देसी नरेश को अर्ध प्रभुसत्ता प्राप्त है और वे ब्रिटिश ताज के अधीन हैं। इस स्थिति को तनिक भी तोड़ा-मरोड़ा नहीं जा सकता।" 19 वीं शताब्दी के मोड़ पर, यह देखने में आया कि दोनों पक्षों का ख्याल था कि यदि कहीं रियासत में एक इंच मिल जाए तो एक गज लिया जा सकता था। इसकी झलक सर ज्योफ्रे डि मांटमोरेंसी के नीचे लिखे अवतरण में मिल जाएगी :

"कुछ समय बाद यह साफ हो गया कि यद्यपि अब महत्त्वपूर्ण संधियां करने के दिन लद चुके हैं फिर भी ब्रिटिश अधिकारियों और नरेशों को एक नया अखाड़ा मिल गया था। दोनों पक्ष आये-दिन संधियों के व्यावहारिक स्वरूप की व्याख्या करने में लगे रहते थे। संधि-पत्रों में यह लिखा था कि सर्वोच्च ब्रिटिश सत्ता को सामान्य जनता की भलाई की दृष्टि से कार्रवाई करने का अधिकार बना रहेगा। किंतु इस भलाई के अंतर्गत कौन-कौन सी बातें आती हैं, इसका निर्देश नहीं किया गया था। इसके अतिरिक्त, यह भी कहा जाने लगा कि करारों को आंशिक रूप से नहीं बल्कि पूर्ण रूप से दृष्टि में रखकर उनकी तह में क्या भावना थी, उसके आधार

पर नीति निर्धारित की जानी चाहिए। ये बातें राजाओं-नवाबों और उनके सलाहकारों के मन में खटकने लगी और वे किन्हीं किन्हीं बातों को खुलकर आलोचना करने लगे।"[1]

ये रियासतें कोढ़ में खाज की तरह कुशासन-प्रबंध का भी शिकार थीं। इनके शासकों के ऊपर ब्रिटिश सरकार का हाथ था। इसलिए बाहरी आक्रमण और अंदरूनी विद्रोह से डरने का उनके लिए सवाल ही नहीं उठता था। इसका फल यह हुआ कि वे एकदम स्वेच्छाचारी बन गये। "इन नरेशों पर जनता का कोई अंकुश न था। नतीजा यह हुआ कि कुछ को छोड़कर सभी रियासतों में कुप्रबंध और दुःशासन की नकेल ढीली पड़ गई।" "सत्ता तो हो किंतु जिम्मेदारी न हो, वहां जो दुष्परिणाम निकलते हैं, वे सब यहां देखने में आ रहे थे"। जब सुराज की बात करना पाप हो जाता है और रंग-रेलियों की वागें ढीली कर दी जाती हैं, तब अनाचार के अलावा और क्या हो सकता है।

कुछ राजा-महाराजा तो चौबीस घंटे नाचरंग में डूबे रहते थे। इतना ही क्यों, वे रियासतों को अपनी निजी जायदाद मान बैठे थे। इससे बढ़कर आश्चर्य की बात क्या होगी? इक्की-दुक्की रियासतों को छोड़कर, सबका प्रशासन खराब था। कहीं-कहीं तो यह इतना खराब था कि सबके मालिक को आखिरकार इनके बीच में बोलना पड़ा और किसी-किसी नरेश को गद्दी से भी उतारना पड़ा। उदाहरण के लिए, 1875 में बड़ौदा के महाराजा मल्हारराव को "अनाचार, रियासत के कुप्रबन्ध और शासन-सुधार में असमर्थ सिद्ध होने के अभियोगों में" राजसिंहासन से हटा दिया गया। 1891 में मणिपुर के युवराज को कठोर दंड मिला। गद्दी से उतार कर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और आसाम के चीफ कमिश्नर की हत्या के अभियोग में उन्हें फांसी पर लटका दिया गया। इंदौर के महाराजा और नाभा के राजा की कहानी भी इससे बहुत भिन्न नहीं है। उन्हें क्रमशः 1926 और 1925 में गद्दी से उतार दिया गया।

ऊपर की घटनाओं से राजा-महाराजाओं के मन में कुछ भी आशंकाएं पैदा क्यों न हो गई हों, एक बात कम साफ न थी कि ब्रिटिश सत्ता के रहते उनकी रियासतें सुरक्षित हैं। वे ब्रिटिश प्रदेश में नहीं मिलाई जाएंगी। फिर भी उन्हें इस बात की शिकायतें करने का मौका मिल गया कि सर्वोच्च सत्ता रियासतों के अंदरूनी मामलों में अनुचित

---

[1] "दि इंडियन स्टेटस् एंड इंडियन फेडरेशन"—पृ० 112

[2] फ्रेंक मोरेस—इंडिया टुडे—पृ० 60

हस्तक्षेप करने से नहीं चूकती पर उनके इस रवैये के सामने सर्वोच्च सत्ता भला कहां झुकने वाली थी। उल्टे उसने दो-टूक शब्दों में घोषणा की कि यदि किसी रियासत का शासक अयोग्य है तो ब्रिटिश ताज को उसके विरुद्ध कदम उठाने का पूरा पूरा हक है। ऐसा विचार स्वयं लार्ड कर्जन-जैसे वायसराय ने प्रकट किया था। उन्होंने कहा था : "···'कानूनी अनाचार और दंडनीय अपराधों के सिलसिले में, सर्वोच्च सत्ता की ओर से वायसराय को निर्विवाद रूप से किसी भी राजा को गद्दी से उतारने का विशेष अधिकार प्राप्त है। निःसंदेह उसे इस अधिकार का प्रयोग करते समय बहुत दुःख होगा; और वह मामले की पूरी तरह से छानबीन किये तथा भारतमंत्री से सलाह लिये बिना इस प्रकार का कदम नहीं उठाएगा।"

पैरामाउंट पावर या सर्वोच्च सत्ता

रियासतों की चोटी जिस सरकार के हाथ में थी, उसे सर्वोच्च सत्ता के नाम से पुकारते थे। यह एक भारीभरकम मशीनरी थी और, ऊपर से नीचे को, इसके क्रमवार कलपुर्जे थे--गवर्नर-जनरल, राजनीतिक विभाग (Political Department) और उसके द्वारा नियुक्त रेजिडेंट तथा एजेंट। सर्वोच्च सत्ता नरेशों के लिए विष और रस दोनों थी। विष-जैसी कड़वी इसलिए थी कि उसकी मनमानी नीति ने राजाओं-महाराजाओं और नवावों को नाकों चने चववा रखे थे। जव जिधर चाहती, उन्हें हांकती रहती थी। और रस-जैसी मीठी इसलिए थी कि राजवंश उसकी छाया में फलफूल रहे थे--रियासतों का छप्पर मुख्य रूप से उसके खम्भे पर टिका हुआ था। यदि सर्वोच्च सत्ता की संगीनों की ओट उन पर न होती तो ये राजा वहुत पहले ही धूल में मिल गये होते। उनका वही दयनीय अंत होता जो संसार के अन्य निरंकुश राजाओं का देखने में आया है। पर वे एक लम्वे अर्से तक चैन की वंशी वजाते रहे। यद्यपि यह ठीक है कि ये राजा-नवाव व्रिटिश ताज के प्रति गैर-वफादार न थे और हो भी कैसे सकते थे, फिर भी राजनीतिक विभाग के अफसरों से उनकी अधिक न वनती थी। जव कभी रियासतों के अधिकारियों और राजनीतिक विभाग के अफसरों के वीच छोटा-मोटा मतभेद उठ खड़ा होता, तभी वेचारे रियासती अधिकारियों को उनके आगे सदा घुटने टेक देने पड़ते। यह कहना वेजा न होगा कि राजनीतिक विभाग की अलिखित आचार-संहिता के इशारे पर ये लोग कठपुतली की तरह नाचते रहते थे, और यहां तक कि उसके हाथ की कान-पकड़ी बकरी थे। ऐसे दव्वू थे कि ताज के प्रतिनिधि से उनकी शिकायत करने का सवाल तक न उठता था। कुछ ऐसी ही स्थिति के वारे में जवान खोलकर एक राजा ने, जो पं० मोतीलाल नेहरू का लंगोटिया यार था, द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान में, उनसे एक बार कहा था कि राजा-महाराजाओं की वागें इतनी कसी हुई हैं कि उनके लिए एक साथ दो घोड़ों पर सवार होने की बात सोचना दूभर है। वे अपने लिए दो में से किसी एक पथ को चुन सकते हैं--कांग्रेस को या राजनीतिक विभाग को।

रियासतों के वारे में व्रिटिश ताज के प्रतिनिधि को इतने व्यापक अधिकार प्राप्त थे कि उनका ठीक-ठीक वर्णन करना कठिन है। सर्वोच्च सत्ताका अधिकारक्षेत्र इतना लम्वा-चौड़ा था कि उसकी सीमाएं ही न थीं। इसलिए उसकी व्याख्या करने में वड़े-वड़े विद्वानों की वुद्धि चकरा उठी। सर विलियम ली-वार्नर का कहना है कि

सर्वोच्च सत्ता भारत के शासकों का एक "असाधारण अधिकारक्षेत्र" था। लिखा है :

"तथाकथित असाधारण अधिकार-क्षेत्र की जड़ में किसी अधिकार या किसी समर्पित सत्ता का योगदान है, ऐसा कहकर असलियत पर पर्दा डालने की कोशिश कभी नहीं की गई । यह अधिकारक्षेत्र तो राज्य के एक क़ानून पर टिका हुआ है और, न्याय की दृष्टि से, इसके बारे में कुछ भी कहना एक टेढ़ी खीर है। रियासतों के मामलों में भारत सरकार, सर्वोच्च सत्ता होने के नाते, अपना हाथ डालती है; और जैसा कि दूसरे मामलों में हस्तक्षेप की वैधता दिखाने के लिए वह कानून को तोड़ती-मरोड़ती या कानूनी बाल की खाल निकालती है, वह यहां वैसा बहाना न करके सीधा दखल देती है और अपने हस्तक्षेप के अधिकार को किसी कदर कमजोर नहीं होने देती।"

ली-वार्नर का आगे कहना है : "जब हम एक ही संधिपत्र के विभिन्न अनुच्छेदों को पढ़ते हैं, जब हम देसी नरेशों को समय-समय पर औपचारिक ढंग से लिखे गये पत्रों पर निगाह डालते हैं; और जब हम व्यावहारिक दृष्टि से अन्य संधिपत्रों की समान शर्तों के साथ उनकी तुलना करते हैं, तब हमें मानना ही होगा कि केवल संधियों की शर्तों के आधार पर देसी रियासतों के अंदरूनी मामलों में सर्वोच्च सत्ता द्वारा हस्तक्षेप करने का जो आरोप लगाया जाता है, वह कुछ-कुछ कमजोर पड़ जाता है।"

अंत में ली-वार्नर का कहना है :

"देसी नरेशों की जिन जिम्मेदारियों का भार सम्राट की सरकार ने अपने ऊपर ओढ़ रखा है वे हैं---देसी नरेश अपनी प्रभुसत्ता को छिन्नभिन्न होने से बचाएं, अपनी-अपनी रियासतों में अच्छे शासन की व्यवस्था करें, और भिन्न-भिन्न धर्मों को स्वतंत्रता के साथ पनपने दें। यदि देसी नरेश इन तीनों जिम्मेदारियों को अच्छी तरह निबाहते हैं तो उनकी रियासतें सर्वोच्च सत्ता के हस्तक्षेप से बच सकती हैं। रियासतों और उनकी प्रजाओं के हितों के अतिरिक्त, ब्रिटिश सरकार के सामने और भी हित हैं। उसके सामने २३ करोड़ २० लाख ब्रिटिश प्रजा का भी हित है-'उसकी नैतिकता और सुख-समृद्धि बढ़ाने की कितनी जिम्मेदारी ब्रिटिश सरकार पर है, उसका वर्णन शब्दों में नहीं किया जा सकता ।"

रियासतों पर सर्वोच्च सत्ता का अधिकारक्षेत्र कितना व्यापक था, इसकी झलक ऊपर के उद्धरणों से साफ-साफ मिल जाती है। रियासतों की न केवल विदेश नीति, रक्षा और अंतः-राज्यीय संबंधों पर सर्वोच्च सत्ता का पूरा-पूरा नियंत्रण था बल्कि वह उनके अंदरूनी मामलों में भी दखल देने का अधिकार रखती थी। यद्यपि ब्रिटिश

सरकार और देसी रियासतों का आपसी संबंध 160 वर्षों से भी अधिक समय तक बना रहा, फिर भी रियासतों के विषय में सर्वोच्च सत्ता की ठीक-ठीक आचार-संहिता क्या थी या व्यवहार-नीति के क्या-क्या नियम थे, इस बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं लिखा गया । हां, कुछ अस्पष्ट नियमों का उल्लेख अवश्य मिलता है, जो बड़े ही लचर थे और तोड़मरोड़ कर उनका कोई भी अर्थ निकाला जा सकता था। इसी लिए ली-वार्नर ने सर्वोच्च सत्ता की व्याख्या एक "परिभाषा-विहीन अधिकार-क्षेत्र" के नाम से की है। राजनीतिक विभाग के सब-के-सब कर्मचारी अंग्रेज ही थे, जिन्हें सर्वोच्च सत्ता का अर्थ लगाने की पूरी छूट थी। इस दशा में, वे ऐसा अर्थ निकालते थे, जिससे ब्रिटिश हितों की पूरी पूरी रक्षा होती रहे। वास्तव में, ये विशुद्ध ब्रिटिश हित होते थे, किंतु कहलाते थे ब्रिटिश भारत के हित।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे एक और महत्त्वपूर्ण सवाल हमारे सामने आ जाता है। वह है सर्वोच्च सत्ता और उसके संदर्भ में रियासतों का दर्जा। यद्यपि ब्रिटिश सरकार और रियासतों के बीच संधियां और करार मौजूद थे फिर भी आगे चल कर आपसी हितों के टकराने पर उनके कुछ अनुच्छेदों को तोड़ मरोड़ कर जो अर्थ लगाये गये उनसे उनके आपसी मतभेद प्रायः आंखों के सामने आ गये। 1857 के विप्लव के बाद सम्राज्ञी की घोषणा से राजवंशों और उनकी गद्दियों का भविष्य निष्कंटक हो गया। फिर भी देसी नरेशों के मन में इस भय ने घर कर लिया था कि रियासतों के प्रति सर्वोच्च सत्ता की रीति-नीति पूरी तरह से साफ नहीं है। वे यह तो मानते थे कि अब उनकी रियासतों को छीनकर ब्रिटिश प्रदेश में नहीं मिलाया जाएगा, किंतु इतने भर से उनका भय दूर नहीं हो गया था। ज्यों-ज्यों ब्रिटिश साम्राज्य अधिक सुगठित होने लगा त्यों-त्यों वे यह अनुभव करने लगे कि सर्वोच्च सत्ता उनके हितों के प्रति सौतेली मां का व्यवहार कर रही है और उनका दर्जा गौण बन गया है।

यह ढर्रा इसी तरह तब तक चलता रहा जब तक कि नरेंद्र मंडल (Chamber of Princes) की स्थापना नहीं हो गयी और उसमें खड़े होकर राजा लोग अपने-अपने मन की उन उलझनों और परेशानियों को मुंह फाड़ कर नहीं कहने लगे जिनके कारण पिछले कई दशकों से उनका दम घुटा जा रहा था।

नरेशों को यह बात सूझने लगी थी कि उनके आर्थिक और राजनीतिक हितों की उचित ढंग से रक्षा नहीं हो रही है। अपने आर्थिक हितों की रखवाली के लिए वे ब्रिटिश भारत और रियासतों के बीच विद्यमान वित्तीय और आर्थिक संबंधों की जांच करके उनमें फेर-बदल करवाना चाहते थे। लेकिन राजनीतिक हितों की समस्या

कहीं अधिक उलझन-भरी थी। इस बारे में उनकी दो मांगें थीं : पहली, सर्वोच्च सत्ता के सामने उनका क्या दर्जा है : इसकी व्याख्या स्पष्ट शब्दों में कर दी जाए और साथ ही राजनीतिक विभाग के निश्चित अधिकारों और कर्त्तव्यों की भी घोषणा की जाए। दूसरी, ब्रिटिश भारत में चालू राजनीतिक आंदोलन को देखते हुए, उनका यही आग्रह था कि "पहले से उनकी अनुमति लिए बिना सर्वोच्च सत्ता का कोई अधिकार या जिम्मेदारी उन लोगों के हाथ में न दे दी जाए, जो उसके सीधे नियंत्रण में नहीं हैं। दूसरे शब्दों में इससे उनका अभिप्राय ब्रिटिश भारत से था जो भारतीय विधान मंडल के प्रति जिम्मेदार था।"

राजाओं की मांग के कारण, ब्रिटिश सरकार को 1927 में रियासतों के लिए एक सरकारी समिति नियुक्त करनी पड़ी, जिसके अध्यक्ष थे सर हारकोर्ट बटलर। उन्हींके नाम पर इस समिति का नाम बटलर कमेटी पड़ गया। पहले इस कमेटी ने सभी बड़ी-बड़ी रियासतों का दौरा करके भारत में गवाहियां लेखनीबद्ध कीं और बाद में इंग्लैंड में जाकर नरेशों के दृष्टिकोणों को उपस्थित करनेवाले उनके वकीलों की गवाहियां संकलित कीं। राजा-महाराजाओं को रुपया लुटाने में कब हिचकिचाहट होती थी। उन्होंने चोटी के कानून-पंडितों और विधिज्ञों को फीस देकर अपने पक्ष की वकालत करने के लिए खड़ा किया। उनके नेता सर लेसली स्काट ने कमेटी के सामने उनका केस पेश किया।

कानून के इन प्रकांड पंडितों ने जो दलीलें दीं उनमें से कुछ पाठकों की जिज्ञासा के कारण नीचे दी जा रही हैं :

1. मौलिक प्रभुसत्ता के जो अधिकार ब्रिटिश ताज को हस्तांतरित कर दिये गये हैं, उनको छोड़ कर देसी रियासतों को अन्य सभी प्रभुसत्तात्मक अधिकार प्राप्त हैं।

2. रियासतों और ताज के बीच आपसी संबंधों की व्याख्या करते समय कानून के सिद्धांतों का उल्लेख किया जाए और उन्हींका प्रयोग किया जाए। यह कहा गया कि ये आपसी संबन्ध संधियों व अन्य नियमित करारों पर आधारित हैं।

3. यह संबंध दो पक्षों के बीच का संबंध है—एक पक्ष हैं देसी रियासतें और दूसरा है ब्रिटिश ताज। इस बात की ओर ध्यान खींचा गया कि ब्रिटिश ताज की अधिकार और जिम्मेदारियां ऐसे ढंग की हैं कि वे न तो उन लोगों को सौंपी जा सकती हैं और न उन लोगों द्वारा कार्य रूप में परिणत ही की जा सकती हैं, जो उसके अपने कंट्रोल में नहीं हैं।

कुछ न सही, बटलर कमेटी ने कम-से-कम उनकी आखिरी बात तो मान ही ली। उसने सिफारिश की कि "नरेशों की पूर्व अनुमति के बिना उनका भाग्य उस नयी

सरकार को न सौंपना चाहिए जो भारतीय विधान सभा के प्रति जिम्मेदार है।" किंतु उसने वकीलों की दूसरी दलीलें पूरी तरह स्वीकार नहीं कीं। उसने लिखा : "रियासतों के साथ सर्वोच्च सत्ता के संबंध का स्रोत अब केवल वे करार नहीं हैं, जिनका स्वरूप एकाधिक सदी पहले की गई संधियों में मिलता है। अब तो यह एक जीवित और वर्धमान संबंध है, और जैसा कि प्रो० वेस्टलेक का मत है, इसको वर्तमान सांचे में ढालने का श्रेय जहां एक ओर परिस्थितियों को है, वहां दूसरी ओर इतिहास, सिद्धांत और आधुनिक तथ्य इन तीनों पर आधारित नीति को भी है। कानून की दृष्टि से सीमित सर्वोच्चता के करार का जो नया सिद्धांत पेश किया गया है, उसके समर्थन में कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसके अलावा, शिकायतों की जो लम्बी सूची हमारे पास भेजी गई है, उसे भेजकर स्वयं यह मान लिया गया है कि सर्वोच्च सत्ता को उक्त प्रकार के करार-क्षेत्र से बाहर तक हाथ-पांव फैलाने का अधिकार है। इस प्रकार इस सूची से उक्त सीमित सर्वोच्चता के सिद्धांत पर चोट लगती है। उसी दशा में यह सिद्धांत ठहर सकता है जबकि संधियों को समष्टि रूप से ग्रहण किया जाए, किन्तु उसका विरोध स्वयं सिद्धांत-प्रणेता कर रहे हैं। यह कहना इतिहास की दृष्टि से कतई सही नहीं है कि ब्रिटिश सत्ता के साथ गठजोड़ होने से पहले देसी रियासतें स्वतंत्र थीं, उनमें से हरेक प्रभुसत्ता का उपयोग कर रही थी और उस ऊंचे दर्जे तक पहुंची हुई थी कि उसे देखकर आधुनिक अंतर्राष्ट्रीय कानून-पंडित यह कहने का साहस कर सकता था कि वे अंतर्राष्ट्रीय कानून की परिधि में आती हैं। सच तो यह है कि किसी भी रियासत को अंतर्राष्ट्रीय दर्जा प्राप्त न था। लगभग सभी रियासतें मुगल साम्राज्य, मराठा-प्रभुत्व या सिख-राज के अधीन थीं या उनको कर देती थीं; और इस प्रकार उनके आश्रित थीं। ब्रिटिश सत्ता ने कुछ को इस अधीनता से छुड़ाया था और दूसरों को स्वयं जन्म दिया था।

सर्वोच्चता का काफी ब्यौरा देने के बाद, बटलर कमेटी की रिपोर्ट में कहा गया है—"ये सर्वोच्चता की कुछेक जिम्मेदारियां और उनके उदाहरण हैं। हमारी तरह पहले भी लोग कोशिश कर चुके हैं कि सर्वोच्चता के प्रयोग के लिए नियम बनाये जाएं, किंतु हम और वे सब अब तक ऐसा करने में असफल रहे हैं। इस असफलता का कारण क्या है? साफ है कि दुनिया की हालत तेजी से बदल रही है। साम्राज्य की जरूरतें और नयी-नयी हालतें नया तकाजा कर रही हैं; और नई परिस्थितियां भविष्य में सिर उठाकर हमारे सामने खड़ी हो सकती हैं। इसलिए सर्वोच्च सत्ता को यथानाम सबसे ऊंची सत्ता के रूप में रहना ही पड़ेगा। जमाने की हवा और

रियासतों की बढ़ती हुई हलचलों को देखते हुए, उसे समय-समय पर अपने को एक ऐसे सांचे में ढालते रहना चाहिए ताकि वह अपनी जिम्मेदारियां बखूब पूरी कर सके। हमारे इस अभिमत को जान कर रियासतों को घबड़ाने की जरूरत नहीं।"

एक चीज जो यहां हमारी आंखों से ओझल न होनी चाहिए, यह है कि भारत में अंग्रेजी राज से पहले इन रियासतों का राजनीतिक दर्जा क्या था? यह बात किसी से छिपी नहीं है कि संधिपत्रों और जब-तब के आश्वासनों के बावजूद, देसी रियासतों का दर्जा ढाक के तीन पात-जैसा सदा एक-समान बना रहा—जब तक ईस्ट इंडिया कम्पनी की सरकार कायम रही तब तक वे उसकी मातहत बनी रहीं और जब उसकी उत्तराधिकारी सरकार, जिसे भारत सरकार कहते थे, बन गई तब वे उसके नीचे आ गईं। सरकारी दस्तावेजों और अभिलेखों में जिस "ब्रिटिश डोमीनियन इन इंडिया" वाक्यांश का प्रयोग बहुधा हुआ है, उसके भीतर ब्रिटिश भारत और देसी रजवाड़े दोनों माने गये हैं। "गदर" के बाद प्रत्येक गवर्नर-जनरल के भाषणों और वक्तव्यों से इसकी पुष्टि हो जाती है। 1857 के विप्लव का अंत होने पर, लार्ड केनिंग को भारत का प्रथम वायसराय बनने का गौरव प्राप्त हुआ था। इस विषय में इसलिए उनका मत विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। 1860 में उन्होंने घोषणा की थी: "इंग्लैंड का ताज समूचे भारत का सर्वमान्य और सर्वोपरि शासक है, और आज इग्लैंड का अधिराजत्व (suzerainty) हमारी आंखों के सामने ऐसा मूर्तिमान है जैसा कि पहले कभी देखा-सुना नहीं गया; और रियासतों के शासकों ने बड़ी उत्सुकता से उसे स्वीकार कर लिया है।" इन्हीं कैनिंग ने आगे कहा है: "ताज के अधिराज्य की छत्रछाया में जो प्रदेश हैं वे (ब्रिटिश सरकार द्वारा) सीधे शासित उपनिवेश (Dominion) की भांति ही महत्त्वपूर्ण और भारत का अटूट अंग हैं।" सारांश यह है कि संधिपत्रों में "समान और अबाधित" शासनाधिकारों के उल्लेख के बावजूद, बड़ी से बड़ी देसी रियासत निर्विवाद रूप से सर्वोच्च सत्ता के अधीन थी। आगे चलकर 19 में लार्ड कैनिंग ने दूसरी बहुत-सी बातों का जिक्र करते हुए हैदराबाद के निजाम को लिखा था:

"जिन पैराग्राफों का मैंने हवाला दिया है, उनमें आपने अपनी स्थिति पर प्रकाश डालते हुए यह साबित करने की चेष्टा की है कि हैदराबाद रियासत का शासक होने के नाते, उस रियासत के अंदरूनी मामलों में आपका अधिकार और स्थान वही है जो ब्रिटिश भारत के अंदरूनी मामलों में ब्रिटिश सरकार का है। आपके इस तरह के भावों के बारे में अधिक न कहकर, मैं श्रीमान् (निजाम साहब) के अपने ही शब्दों को यहां

उद्धृत करना चाहता हूं। आपने लिखा था : विदेशी शक्तियों के साथ संबंधों और विदेश नीति को छोड़कर हैदराबाद के निजाम अपनी रियासत के आंतरिक मामलों में उतने ही स्वाधीन हैं जितनी कि ब्रिटिश भारत में ब्रिटिश सरकार है। मैंने जिन विषयों का ऊपर नाम लिया है, उनको छोड़कर, वे उन सभी अंतः सरकारी प्रश्नों का हमेशा पूर्ण स्वतंत्रता और स्वाधीनता से निपटारा करते रहे हैं जो समय-समय पर प्रायः पड़ौसियों के बीच पैदा हो जाते हैं। किंतु बरार का प्रश्न उक्त अपवाद के भीतर नहीं आता और न आ सकता है । उस पर विचार करते समय विदेशी मामलों से संबंधित किसी अधिकार या नीति का सवाल हमारे रास्ते में अड़चन नहीं डालता है। निदान, अब यह विषय केवल ऐसी दो सरकारों के बीच विवाद का स्वरूप धारण कर लेता है, जो समान धरातल पर खड़ी हुई हैं और एक-दूसरे से न तो कम हैं और न एक-दूसरे की अधीनवर्ती हैं।"

"आलीजाह निजाम का सर्वोच्च सत्ता से जो संबंध है, उसके बारे में आपके इन शब्दों से भ्रम पैदा हो सकता है। सर्वोच्च सम्राट् सरकार का प्रतिनिधि होने के नाते, उस भ्रम को दूर करना मेरा कर्त्तव्य है। यदि अभी मैं इस विषय पर मौन बना रहा तो आशंका यह है कि कहीं आगे चल कर मेरी इस चुप्पी का अर्थ यह न लगाया जाए कि आपकी उक्त व्याख्या सही थी।

"भारत में ब्रिटिश ताज की प्रभुसत्ता सर्वोच्च है, इसलिए भारत की रियासतों का कोई शासक राजा समान दर्जे से ब्रिटिश सरकार के साथ राजकाज के विषयों पर किसी प्रकार की बातचीत करने का दावा कैसे कर सकता है ? ब्रिटिश ताज की सर्वोच्चता का स्रोत केवल संधिपत्र और करार ही नहीं हैं बल्कि उनके बाहर भी उसकी जड़ धंसी हुई है। और, विदेशी शक्तियों से निबटने तथा विदेश-नीति के संचालन के बारे में जो विशेषाधिकार उसे प्राप्त हैं, उनके अतिरिक्त उसका यह कर्त्तव्य और हक है कि देसी रियासतों के साथ किये गये करारों और संधियों का आदर करते हुए भी, वह समस्त भारत में शांति और सुव्यवस्था स्थापित रखे।"

इनसे अधिक साफ और बेलपेट शब्दों में किसी शासनाध्यक्ष की घोषणा शायद ही कहीं और मिलेगी। इससे देसी नरेशों के कान खड़े होना स्वाभाविक था। इससे निजाम की ही नहीं बल्कि सभी नरेशों की आंखें खुल गईं कि उनका अंदरूनी स्वाधीनता या प्रभुसत्ता का दावा कितना थोथा है। इस घोषणा से यह मसला हमेशा के लिए अपने-आप तय हो गया कि सर्वोच्च सत्ता के सामने देसी रियासतों का राजनीतिक और संवैधानिक दर्जा क्या है। यदि भारत की सबसे बड़ी और महत्त्वपूर्ण रियासत

हैदराबाद अपने अंदरूनी मामलों में सर्वोच्च सत्ता के हस्तक्षेप से अछूती नहीं बच सकती थी तो उनके बारे में क्या कहा जा सकता था जो (कश्मीर को छोड़ कर) क्षेत्रफल, जनसंख्या और आर्थिक साधनों की दृष्टि से उसके आधे के बराबर भी न थीं। चाहे छोटी हो या बड़ी, किसी रियासत को बराबरी के आधार पर सर्वोच्च सत्ता से बातचीत चलाने का अधिकार न था। यदि कोई रियासत छोटे दर्जे से बातचीत करने को राजी न हुई तो सर्वोच्च सत्ता ने स्वयं विवादग्रस्त मामले को जज या पंच की हैसियत से तय कर दिया। उसके फैसला करने के अधिकार या कार्यवाही पर न तो कोई रियासत अंगुली उठा सकती थी और न उसके फैसले को चुनौती दे सकती थी। सर सिडनी लो का कहना है कि "स्वयं सर्वोच्च सत्ता के ही यह सोचने की बात है कि वह क्या करे या क्या न करे। वह जो चाहे सो निर्णय कर सकती है और उसके इन फैसलों को कानून का कथन माना जाता है जिसके सामने करारनामों या संधिपत्रों की शर्तें फिस्स हो जाती हैं।"

यदि कभी सर्वोच्च सत्ता के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च सत्ता और किसी रियासत के बीच गहरा मतभेद पैदा हो गया या रियासत ने आदरपूर्वक उसका कोई विरोध भी कर दिया, तो भी सर्वोच्च सत्ता ने उसकी कभी परवाह नहीं की और बदस्तूर अपने ढर्रे पर चलती रही। जब रियासतों ने मिलकर इस बारे में शिकायत की कि सर्वोच्च सत्ता उनके हितों के प्रति उदासीन है और यह मांग भी की कि सर्वोच्च सत्ता के क्या अधिकार और कार्य हैं, उन पर प्रकाश डाला जाए, तब उन्हें इसका क्या उत्तर मिला, वह हम बटलर कमेटी की रिपोर्ट में पढ़ सकते हैं।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका मतलब यह नहीं है कि रियासतों के प्रति सर्वोच्च सत्ता का व्यवहार अनावश्यक रूप से असंगत और अन्यायपूर्ण था। और न यहां पर यह दिखाने की चेष्टा की गई है कि ब्रिटिश सरकार निर्दोष रियासतों पर अत्याचार के पहाड़ ढा रही थी। इन दोनों बातों से कोसों दूर रह कर, ब्रिटिश सरकार ने भारतीय भूमि पर राजा-महाराजाओं और नवाबों की जड़ें मजबूत करने में कोई कसर नहीं रखी थी। सर्वोच्च सत्ता और एकमात्र सर्वोच्च सत्ता की बदौलत इनके राजवंशों का शासन पीढ़ी दर पीढ़ी निर्बाध रूप से चलता रहा। कभी-कभी सर्वोच्च सत्ता उन्हें राजी रखने के लिए रियायतें दे देती थी। सर्वोच्चता तथा संधियों की कुछेक स्पष्ट शर्तों के बावजूद, ब्रिटिश सरकार नरमी से काम लेती रही। फिर भी, यदि नरेशों को राहत महसूस नहीं होती थी तो इससे अधिक क्या कहा जाए कि निर्दय काल चक्र ही उनके प्रतिकूल था। सचमुच, वे दिन लद गये थे जबकि इन

रियासतों की सीमाएं पवित्र मानी जाती थीं। उन दिनों सारा देश एक सैनिक शिविर बना हुआ था, जहां बड़े पैमाने पर छीन-झपट या लूट-खसोट का बाजार गर्म था। यद्यपि संगठित जीवन का बीज नष्ट नहीं हो गया था——छोटे-छोटे गांवों और जाति-बिरादरियों में वह मौजूद था——फिर भी एक बड़े पैमाने पर उसके दर्शन दुर्लभ थे। यहां राष्ट्रीय एकता-जैसी कोई चीज तो स्वप्न में भी न थी। परिवहन और संचार-व्यवस्था न-बराबर थी, और यदि तत्कालीन परिवहनों की माप आधुनिक मानदंड से की जाए तो उनकी गति बहुत मंद थी। सुतरां, अलग अलग राज्य बनाने और सत्ता हथियाने वालों की पौ बारह थी। उनके लिए यह समय बहुत अनुकूल था। ये रियासतें ज्यादातर उन राज्यों का ही बचा-खुचा प्रदेश थीं जिनकी रचना शुरू में या तो किसी साहसी सैनिक ने की थी या किसी राज-सेवक ने।

पर एक सौ वर्षों की शांति और संगठित प्रशासन से देश का कायापलट हो गया। ब्रिटिश राज ने भारत को उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक एकता के एक धागे में पिरो दिया, चाहे यह धागा बहुत मजबूत भले ही न था। परिवहन और संचार साधनों के प्रसारण से इस विशाल देश के दूरवर्ती नगर एक-दूसरे के निकट आ गये और यात्रा घंटों की जगह मिनटों का काम बन गई। कश्मीर से कन्याकुमारी और काठियावाड़ से मणिपुर तक समस्त भारत एक देश बन गया, जिसका भ्रमण करने में एक सप्ताह से अधिक नहीं लगता था। रेलों, डाक-तार आदि ने सब प्रांतों को एक माला में गूंथ दिया और पड़ोसियों की आंखों को भी विस्तृत भारत का चप्पा-चप्पा दीखने लगा।

जब रेलों-तारों का जाल बिछने लगा तब रियासतें ब्रिटिश प्रांतों से अलग-थलग कैसे रह सकती थीं। परिवहन और संचार-व्यवस्था तो दोनों के लिए समान रूप से लाभप्रद थी। फिर भी यदि किसी रियासत ने आंखें होते हुए भी यह देखने की कोशिश नहीं की तो उसकी एक न चली; और समूचे देश के हितों का ध्यान रखकर रेलमार्ग बनने और तारों के खम्भे गड़ने लगे। किसी-किसी रियासत ने तो यहां तक आपत्ति उठायी कि संधिपत्रों की शर्तों के अनुसार उनके साथ "बराबरी" का व्यवहार नहीं किया जा रहा है। लेकिन घटनाओं से साफ जाहिर होता है कि उनका यह शोर-गुल नक्कारखाने में तूती की आवाज से अधिक सुनाई नहीं दिया। सब जानते हैं कि इन "समान दर्जे के साथियों" को कभी बराबरी का स्वीकार नहीं किया गया। ऐसा करना देश के लिए समष्टिरूप से हितकर भी न था। यद्यपि सर्वोच्च सत्ता राजाओं और नवाबों को बनाये रखने के लिए कम चिंतित न थी, फिर भी किन्हीं-किन्हीं मामलों

में अपनी दूरदर्शिता के कारण उसे अखिल भारतीय हितों को उन पर प्राथमिकता देनी पड़ी। जहां राष्ट्रीय या अखिल भारतीय सवाल सामने आया, रियासतों को पीछे धकेल दिया गया। ठीक भी यही था।

भारत में अंग्रेजी राज की कहानी उन अनेक दृश्यों से भरी पड़ी है, जो हमारी आंखों में कांटों की तरह खटकते हैं। यद्यपि ब्रिटिश प्रशासक अपने हितों की रक्षा के लिए जागरूक थे, फिर भी यह बात माननी ही पड़ेगी कि उनके ऊपर चौबीस घंटे संकीर्ण साम्राज्यवाद का भूत सवार नहीं रहता था। उन्होंने जानबूझकर भारतीय एकता को अंकुरित होने और पनपने का अवसर दिया जिसके कारण देश में संचार, परिवहन और व्यापार के साधनों की उन्नति उस हद तक संभव हो सकी जोकि आज हमारी आंखों के सामने है।

संधियां और रियासती जनता

सर्वोच्च सत्ता (प्रारंभ में ईस्ट इंडिया कम्पनी) और देसी रियासतों के बीच जो संधियां और करार हुए थे उनकी शर्तें अक्षरशः समान न थीं। इनमें अधिकांश संधियां आक्रमणात्मक और रक्षात्मक थीं और वे जिन परिस्थितियों में की गई थीं, उन पर उनकी गहरी, विचित्र छाप थी। इस विभिन्नता के बावजूद, सभी संधियों के मूल में एक व्यापक समानता मिलती है, जिसके दो मुख्य रूप ये हैं :

1. आक्रमणात्मक और रक्षात्मक सैनिक संधियों के अंतर्गत उस दशा में सैनिक सहायता देना अनिवार्य था जबकि दोनों संधिकर्ता पक्षों में से किसी के साथ तीसरे पक्ष ने युद्ध छेड़ दिया हो।

2. रियासतों को अपने-अपने यहां आंतरिक विद्रोह या विप्लव के विरुद्ध बचाव की गारंटी दो शर्तों पर मिली हुई थी—पहली, ब्रिटिश ताज के प्रति वफादारी और दूसरी, रियासतों में सु-शासन की स्थापना।

आइचीजन के ग्रंथ समुच्चय को आदि से अंत तक देखने पर भी ऐसी कोई संधि या करार नहीं मिलेगा, जिसमें यह शर्त साफ तौर पर न लिख दी गई हो कि रियासतों को बाहरी खतरे या आंतरिक विद्रोह से बचाने की गारंटी उसी दशा में प्राप्त है जबकि वहां "सु-शासन" स्थापित हो। प्रत्येक संधि में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस भाव को स्थान दिया गया है। अब सवाल यह उठता है कि ताज के प्रति वफादारी और सु-शासन दोनों में से किस पर अधिक बल दिया गया है। ध्यान देने से यह बात अपने-आप समझ में आ जाती है कि दोनों को बराबर महत्त्व दिया गया है। यह भी यहां कम महत्व की बात नहीं है कि ये संधियां ईस्ट इंडिया कम्पनी के अफसरों और उन राजा-महाराजाओं के बीच हुई थीं जो 'व्यक्ति नहीं, बल्कि अपनी-अपनी रियासतों (राज्यों) के सांविधानिक अध्यक्ष" थे। निःसंदेह, इन "राज्यों" में उनकी जनता भी सम्मिलित थी।

यह कहना सही नहीं है कि ये संधियां करारनामों से अधिक नहीं थीं, जोकि देसी नरेशों और सर्वोच्च सत्ता के बीच की गई थीं और, इस दशा में, रियासतों की जनता को बीच में घुसेड़ने का सवाल ही पैदा नहीं होता। संधिपत्रों के अध्ययन से साफ हो जाता है कि जनता की उपेक्षा करना संधियों की शर्तों की भावना के विरुद्ध था। इन संधियों को एक साथ पढ़कर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे बिना नहीं

रह सकते कि उनमें जनता को शासन के कुप्रबंध के विरुद्ध बचाव की उतनी ही जबर्दस्त गारंटी दी गई थी, जितनी रियासतों की सीमाओं को बाहरी या भीतरी विद्रोह से सुरक्षित रखने की। देसी नरेशों को जो गारंटी मिली थी, वह यह थी कि उनके राजवंशों पर आंच न आएगी और उनका शासन जारी रहेगा। परंतु यह गारन्टी बिना शर्त न थी। राजाओं और नवाबों से अन्य बातों के साथ जो दो बातें अपेक्षित थीं वे ये थीं :--

(1) उनकी अंग्रेजी ताज के प्रति अडिग-निष्ठा (2) उनकी रियासतों में सु-शासन। ये दोनों शर्तें पूरी की जा रही हैं या नहीं, इसकी एक कसौटी थी---इसमें वे नियम-विनियम और व्यवहार-पद्धतियां शामिल हैं जो लगभग 150 वर्षों तक चालू रहीं।

क्या ईस्ट इंडिया कम्पनी के शासन-अधिकारियों के मन में "परजन सुखाय" की भावना थी? संभव है कि वे इस ऊंचाई तक ऊपर न उठ सके हों। फिर भी, सभी संधियों में रियासतों के अच्छे शासन-प्रबंध की आवश्यकता पर बल दिया गया था। रियासतों और ब्रिटिश शासित प्रदेशों के बीच कोई प्राकृतिक सीमाएं नहीं थीं। उन्होंने यह भी भांप लिया था कि समूचा भारत एक बड़ा देश है और उसके मूल में एकता है। इस दशा में, यह कहां संभव था कि देश के एक भाग में फैली हुई उथल-पुथल की प्रतिध्वनि दूसरे भाग में न हो। कु-शासन की तुलना तो भयंकर छूत के रोग से की जा सकती है। यह कैसे हो सकता है कि एक प्रदेश में छूत का रोग फैल रहा हो और उसका पड़ौसी उसके विनाशकारी परिणामों से चिरकाल तक बचा रहे। हो सकता है कि आत्म-हित की इसी भावना से कम्पनी का माथा ठनक उठा हो। इसीलिए उसने नरेशों के साथ संधियां करते समय अपनी मित्र रियासतों में सुशासन को उतना ही ऊंचा स्थान दिया, जितना नरेशों की ताज-निष्ठा को।

इतिहास ने आगे चल कर बता दिया कि कम्पनी और रियासतों के बीच जो संधियां हुई थीं उनकी शर्तें कोरे दिखावे की चीज न थीं। समय आने पर कम्पनी के अधिकारी उनका इस्तेमाल करने से कभी नहीं चूके। जब कभी कम्पनी के विचार से नरेशों ने ब्रिटिश ताज के प्रति गैर-वफ़ादारी की रुझान दिखाई या उनकी रियासतों में दुःशासन की बेल फैलने लगी, तभी उसने उन्हें आड़े हाथ लिया। ऐसे मामलों में उसके हाथ डालने का अपना अनोखा तरीका था : पहले, कम्पनी के अधिकारी कुप्रबंध या दुःशासन के उत्तरदायी राजा को चेतावनी दे दिया करते थे। रियासतों की जनता की सुख-समृद्धि के लिए क्या-क्या सुधार किये जाएं, इस बारे में ठोस सुझाव

दिया करते थे। यदि बारंबार चेतावनी देने पर राजा सीधे रास्ते पर चलने की कोशिश नहीं करता था तो उस पर आखिरी हथियार चला दिया जाता था। यह आखिरी हथियार था युद्ध। कभी-कभी राजा को सिंहासन च्युत करके उसके राज्य को ब्रिटिश प्रदेश में मिला लिया जाता था। इस बारे में एक उदाहरण कुर्ग का दिया जा सकता है। इस रियासत में कुप्रबंध और भ्रष्टाचार का इतना बोलबाला था कि उस पर काबू पाना कठिन हो गया था। कम्पनी ने कुर्ग के शासक को एक के बाद दूसरी और फिर कई चेतावनियां दीं; किंतु इससे उसके कानों पर जूं तक न रेंगी। अंग्रेज अधिकारियों ने, अंत में, उसके विरुद्ध यह आरोप लगाया कि संसार के "सभी सभ्य राष्ट्र दूसरे देशों के अपने यहां स्थित प्रतिनिधियों के साथ व्यवहार करने में एक सर्वमान्य आचार-संहिता का पालन करते हैं; किंतु राजा ने उसका नितांत उल्लंघन किया है।" इसके उत्तर में राजा ने जो पत्र पर पत्र भेजे उनमें बड़े ही अपमानजनक शब्दों का प्रयोग किया था। आखिर में, गवर्नर-जनरल ने कुर्ग को युद्ध के लिए ललकारा और इसका परिणाम यह हुआ कि कुर्ग का नाम रियासतों के नक्शे से मिट गया। वह ब्रिटिश प्रदेश में मिला ली गई।

कुर्ग की यह घटना बड़े मार्के की है। कुप्रबंध ने रियासत को मटियामेट कर दिया और यह एक उसीकी मिसाल है। दुरवस्था का अंत करने के लिए ब्रिटिश सरकार के सामने इसके सिवा और कोई चारा न था कि उसे ब्रिटिश प्रदेश में शामिल कर लिया जाए। ली-वार्नर ने ठीक ही लिखा है : "ब्रिटिश सरकार का एक ही ध्येय था कि किसी न किसी प्रकार कुर्ग की जनता को न्यायपूर्ण और ईमानदार प्रशासन की सुखद छाया में बैठने का अवसर मिल जाए।"

इसी प्रकार किसी भी नये प्रदेश को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के लिए चटपट यही बहाना पेश किया जाता था कि "लाख-लाख जनता को कुशासन के चंगुल से छुटकारा दिलाया जा रहा है।" याद रहे, ब्रिटिश पार्लमेंट ने 1784 का "पिट इंडिया एक्ट" पारित करके भारत में ब्रिटिश सरकार को अ-हस्तक्षेप की नीति पर चलने के लिए विवश कर दिया था। पर 1793 में यह एक्ट रद्दी की टोकरी में फेंक दिया गया। उक्त एक्ट में साफ बताया गया था कि "भारत में नये प्रदेश जीत कर साम्राज्य का विस्तार करने की कार्रवाई इस (ब्रिटिश) राष्ट्र की इच्छा, सम्मान और नीति के प्रतिकूल है।"[1] इस घोषणा तथा गवर्नर-जनरलों द्वारा उक्त एक्ट के पूर्ण परिशीलन

---

[1] राबर्ट्स : "हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया—पृ० 305

की प्रबल इच्छा के बावजूद, भारत में कम्पनी के राज्य की सीमाएं एक दशक के लिए भी जहां-की-तहां स्थिर न रहीं। उनके हाथ-पांव लगातार बाहर फैलते गये। जब यह दुहाई दी जाने लगी कि जो लाखों-करोड़ों लोग रात दिन कुप्रबंध और अत्याचारी शासन के पांव तले कुचल रहे हैं, उनका उद्धार करना कर्त्तव्य है, तब उक्त घोषणा एक ओर धरी रह गई और नम्र स्वभाववाले गवर्नर-जनरलों की आत्मा की आवाज दब चली। कुर्ग इसका एक ज्वलंत उदाहरण था। दूसरा उदाहरण अवध का था, जिसके शासक को 1856 में पेंशन दे कर प्रदेश को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया था। इससे पहले 1839 में लॉर्ड विलियम बेंटिंक ने मैसूर के राजा को गद्दी से उतार दिया और पेंशन दे दी। किसी भी इतिहासकार ने उसके इस काम की आलोचना नहीं की। उल्टे, उसको यह कह कर उचित बताया कि बेंटिंक को "कुप्रबंध से घृणा थी और उसका उद्देश्य ब्रिटिश प्रभाव या ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार करना नहीं था।"[1]

इसी टट्टी की ओट में सिंध पर शिकार खेला गया। भारत में कम्पनी के राज्य के विस्तार की इससे घृणित कहानी शायद ही कोई दूसरी होगी। फिर भी अंग्रेज इतिहासकारों ने इस घटना की लीपापोती करने की सिरतोड़ कोशिश की है। अपनी दैनंदिनी में सर चार्ल्स नेपियर ने, जिसने सिंध को जीता था, लिखा है: "हमें सिंध पर कब्जा करने का हक नहीं। फिर भी हम इसे हथियाये बिना न रहेंगे। नीचता ही सही, परंतु यह नीचता का बहुत ही लाभकारी उदारतापूर्ण उदाहरण होगा।" नेपियर ने सिंध की विजय को एक उदार कार्य बताया है। इसका कारण यह था कि अमीर की सरकार बहुत कमजोर और अयोग्य थी, और जनता सरकारी अधिकारियों के अत्याचारों और लूटखसोट से तंग आ गई थी। राबर्ट्स का मत तो यह है कि नेपियर को इस बारे में "पूरा-पूरा विश्वास था कि सिंध पर ब्रिटिश शासन स्थापित हो जाने से जनता को सुख की नींद आने लगेगी और देश भर में चैन की बंशी बज उठेगी। सचमुच, उसने इसकी परवाह न की कि अमीर की सल्तनत पर हमला करने के रास्ते में कितनी क़ानूनी, तकनीकी और नैतिक अड़चनें आती हैं। उसने उन सबको उठा कर ताक में रख दिया और जनता को उसकी इच्छा के विरुद्ध लाभ पहुंचाने के लिए कमर कस ली।"[2]

उक्त विचारों से ली-वार्नर भी सहमत जान पड़ते हैं। उनका कहना है: "भारत

---

[1]राबर्ट्स: "हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया"—पृ० 311

[2]वही पृ० 362

के गवर्नर-जनरलों ने ब्रिटिश साम्राज्य के विस्तार को न्याय-संगत ठहराने के लिए जिन दो मुख्य उद्देश्यों का नाम गिनाया है वे हैं--साम्राज्य का विदेशी आक्रमण से बचाव और जनता के लिए बेहतर शासन की स्थापना।"

नेपियर द्वारा सिंध की सल्तनत का ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाया जाना क़ानूनी दृष्टि से ठीक था या नहीं, इस विषय पर पोथे के पोथे रंगे जा सकते हैं। पर एक बात दर्पण की तरह साफ है। जनता का इससे बड़ा सौभाग्य क्या हो सकता था कि वह अमीर के भ्रष्टाचारपूर्ण शासन से मुक्ति पा जाए। अमीर के विनाश में जनता की मुक्ति छिपी हुई थी। ब्रिटिश शासन में आ जाने से सिंध का भाग्य जाग उठा।

1857 के बाद

भारत में "गदर" से पहले जो स्थिति थी या जो नीति बरती गई, अभी तक हमने उसी पर प्रकाश डाला है। आगे हम "गवर्नमेंट आफ इंडिया" की नीति की चर्चा करेंगे। 1858 के बाद, ईस्ट इंडिया कम्पनी का अंत हो गया और उसकी जगह जिस सत्ता ने ले ली उसे "गवर्नमेंट आफ इंडिया" या भारत सरकार कहा जाता था। हम उन परिवर्तनों पर भी विचार करेंगे जो भारतीय साम्राज्य के ब्रिटिश ताज के सीधे नियंत्रण में चले जाने के बाद हमारे सामने आये। इन परिवर्तनों का (1) भारत सरकार और देसी नरेशों के आपसी संबंधों, तथा (2) भारत सरकार और रियासतों की जनता के आपसी संबंधों पर क्या असर पड़ा, यह भी बताया जाएगा।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से भारत शासन की बागडोर निकलते ही तथा उस पर ब्रिटिश ताज का सीधा नियंत्रण स्थापित होते ही, ताज और देसी नरेशों के आपसी संबंधों में एक नया युग शुरू हो गया। सिपाही विद्रोह से पहले, एक शक्ति के रूप में, भारत में अंग्रेज़ों का नाम भर लिया जाता था। किन्तु विप्लव के बाद देश में उनकी सत्ता का डंका बजने लगा। ब्रिटिश सत्ता सर्वोच्च सत्ता मान ली गई और बाकी ताकतों ने उसकी खुले रूप से अधीनता स्वीकार कर ली। यहीं से ब्रिटिश सरकार और देसी नरेशों के आपसी सहयोग का पहला चरण आरंभ होता है। अब भारत की धरती पर अंग्रेजों का पांव इतनी मजबूती से जम गया था कि कोई देसी राजा उनका बाल बांका करने की कौन कहे, उनकी ओर आंख उठाकर भी नहीं देख सकता था। इस प्रकार सर्वोच्च सत्ता और नरेशों के बीच "अधीनस्थ अलगाव" की नीति ने "अधीनस्थ संघ" का रूप ग्रहण कर लिया। दोनों पक्ष एक-दूसरे के निकट आने

लगे। इस दिशा में पहला कदम सम्राज्ञी विक्टोरिया की वह ऐतिहासिक घोषणा मानी जाती है जो उन्होंने "ग़दर" की इतिश्री होने पर की थी। उन्होंने कहा कि ब्रिटिश सरकार भारत में साम्राज्य बढ़ाने की नीयत नहीं रखती और वह भारतीय राजाओं- महाराजाओं और नवाबों के "हकों, मर्यादा और सम्मान" की रक्षा का वचन दे रही है। निदान, देसी रियासतों के राजवंशों को गद्दी से उतार देने और उनका राज्य हड़प लेने की ब्रिटिश नीति यहां से खत्म होती है; और लार्ड डलहौजी की उत्तराधिकार की जिस नीति से देसी नरेश भयभीत हो उठे थे, वह हमेशा के लिए विदा हो गई।

सम्राज्ञी की घोषणा से जो परिवर्तन हुआ उससे रियासतों के प्रति सर्वोच्च-सत्ता की जिम्मेदारी कम होने के बजाय और भी महत्वपूर्ण बन गई। सुशासन और सुरक्षा दोनों एक गाड़ी के लिए दो बैलों के समान आवश्यक थे। देसी शासक को अपने अस्तित्व की सुरक्षा की गारंटी उस हद तक ही उपलब्ध थी जिस हद तक उसकी रियासत में सुशासन स्थापित था। राबर्ट्स ने लिखा है: "राजाओं को अपनी-अपनी रियासतों की सुरक्षा की गारंटी और गोद लेने का हक मिल गया था। इससे संतान न होने की दशा में उनकी रियासत छिनने और ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाये जाने का भय दूर हो गया था। इस प्रकार उनके और सर्वोच्च सत्ता के बीच घनिष्ठता के एक नये अध्याय का श्रीगणेश होता है। इस सुरक्षा की भावना से और देश में रेलों, डाक-तार और नहरों का जाल फैलने से दोनों पक्ष दिन-पर-दिन एक-दूसरे के अधिकाधिक निकट आते गये। देसी रियासतों में बुरा शासन-प्रबंध और राजा-महाराजाओं की प्रतिष्ठा को किसी प्रकार की ठेस लगाना—ये दोनों बातें अब सर्वोच्च सरकार को समान रूप से नापसंद थीं।[1]

सुशासन स्थापित करवाने की गारंटी से रियासतों की जनता के प्रति सर्वोच्च सत्ता की जिम्मेदारी अपने-आप स्पष्ट हो जाती है। उधर उसने राजाओं को अपनी सुरक्षा का वचन दे रखा था। इस प्रकार उसके ऊपर दो जिम्मेदारियां अपने-आप आ पड़ी थीं। जिस सत्ता ने जनता को राजाओं के अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध विद्रोह करने के अवसरों से वंचित कर दिया था, वह इस संदर्भ में अपने कर्त्तव्य को बख़ूब समझ रही थी। रियासतों के प्रशासन के मर्मज्ञ सर जार्ज मैकमम भी इससे सहमत हैं। उन्होंने लिखा है:

---

[1] राबर्ट्स: "हिस्ट्री ऑफ ब्रिटिश इंडिया"—पृ० 312

5046

संधियां और रियासती जनता

"लोग यह कहे बिना नहीं रहेंगे कि सर्वोच्च सत्ता की इस प्रकार की शर्तें संधियों के सिलसिले में परेशानी पैदा करती हैं और अनावश्यक भी हैं। किंतु यहां यह न भूलना चाहिए कि पूर्व के ऊबड़खाबड़ देशों में स्वेच्छाचारी शासन से तंग आकर जनता गदर, विद्रोह या राजहत्याओं का ही सहारा लेती रही है। वह उनके सिवा और कोई उपचार नहीं जानती है। उन उपद्रवों के विरुद्ध ब्रिटेन ने राजाओं-महाराजाओं को सुरक्षा की गारंटी दे दी। चूंकि पीड़ित पक्ष के लिए अपनी मुसीबतों से छुटकारा पाने का रास्ता बंद हो गया, इस लिए सर्वोच्च सत्ता की जिम्मेदारी बन गई कि वह रियासतों की जनता के लिए न्याय की व्यवस्था कराये और यदि आवश्यक हो तो उसके लिये शक्ति का प्रयोग करे।"

इस प्रकार, रियासतों में अच्छा शासन-प्रबंध करवाने के लिए सर्वोच्च सत्ता को हस्तक्षेप करने का अधिकार मिल गया। इस दिशा में उसने क्या-कुछ किया, इसका उल्लेख आगे किया जा रहा है। सर्वोच्च सत्ता ने कुप्रबंध के अभियोग में किन्हीं-किन्हीं राजाओं के मामले न्यायाधिकरण के पास भेज दिये और बाद में उन्हें गद्दी से उतार दिया।

रियासतों में कुप्रबंध और अत्याचारों का अन्त करने के लिये सर्वोच्च सत्ता ने जो नीति अपनायी थी, उसके दो मुख्य उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं। बड़ौदा और मणिपुर दोनों के मामले बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं, जिनसे पाठकों को सर्वोच्च सत्ता की तत्कालीन नीति की झलक मिल जाएगी।

बड़ौदा का मामला

1870 में मल्हार राव को बड़ौदा की राजगद्दी मिली। वह एक निकम्मा शासक सिद्ध हुआ। थोड़े ही दिनों में उसके कुप्रबंध और दुर्व्यवहार की चर्चा घर-घर होने लगी। जब रियासत का प्रत्येक सरकारी विभाग भ्रष्टाचार और जुल्म का गढ़ बन गया तब लाचार होकर जनता को उनके विरुद्ध आवाज उठानी पड़ी। स्वयं महाराजा गायकवाड़ के विरुद्ध गंभीर आरोप लगाये जा रहे थे। भारत सरकार ने बिगड़ती हालत देखकर एक जांच कमीशन बैठा दिया और उसे अपना प्रतिवेदन देने का आदेश दिया। गायकवाड़ ने इस कार्रवाई को रियासत के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप बताया और उसका विरोध किया। उत्तर में वायसराय और गवर्नर-जनरल ने महाराजा को जो पत्र लिखा वह बड़े ही मार्के का था। उससे हस्तक्षेप के सिद्धांत, तथा

रियासत बनाम सर्वोच्च सत्ता के अधिकारों और जिम्मेदारियों पर पूरा-पूरा प्रकाश पड़ता है। वायसराय ने लिखा था :

"यद्यपि इस हस्तक्षेप के लिए संधियों की भाषा में काफी गुंजाइश थी, फिर भी उसके अन्य आधार भी थे। श्रीमान् ने ठीक ही कहा है कि 'भारत में ब्रिटिश सरकार' निःसंदेह सर्वोच्च सत्ता है और देसी रियासतों का अस्तित्व और समृद्धि उसकी कृपा-दृष्टि और उदारतापूर्ण संरक्षण पर निर्भर है। यह बात बड़ौदा रियासत के संबंध में विशेष रूप से लागू होती है क्योंकि उसकी सीमाएं ब्रिटिश प्रदेश की सीमाओं से मिलती हैं और स्वयं महाराजा की जान-माल की रक्षा करने और उसकी वैध सत्ता अक्षुण्ण रखने के लिए एक ब्रिटिश सहायक सेना वहां रहती है।

"मेरे मित्र, यदि कोई गलत काम करता है तो मैं उसकी रक्षा के लिए ब्रिटिश सेना के प्रयोग की अनुमति देने में असमर्थ हूं। यदि ब्रिटिश सरकार की छत्रछाया में रहकर किसी सरकार का शासन-प्रबंध खराब है तो उसकी जिम्मेदारी से ब्रिटिश सरकार कैसे बच सकती है? इस दशा में यह ब्रिटिश सरकार का कर्त्तव्य है कि वह रियासत के प्रशासन में सुधार करवाए और उसकी बुराइयों को हटवाए।

"ब्रिटिश सरकार की यह नीयत कभी नहीं रही है कि बड़ौदा के राज-प्रबंध में टांग अड़ाई जाए और न ऐसा करने की मेरी ही इच्छा है। फिलहाल, रियासत के शासन की सीधी जिम्मेदारी गायकवाड़ पर है और उन्हीं पर रहनी चाहिए। उन्हें बड़ौदा का प्रभुसत्ताधारी शासक स्वीकार किया जा चुका है; और उन्हें ब्रिटिश सरकार तथा अपनी प्रजा दोनों के प्रति अपने कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का उचित ध्यान रखकर अपनी प्रभुसत्ता का प्रयोग करना चाहिए और वे इसके लिए जिम्मेदार हैं। यदि ये जिम्मेदारियां पूरी नहीं की जाती हैं, यदि भीषण कुप्रबंध की नकेल ढीली कर दी गई है, यदि बड़ौदा रियासत की प्रजा के साथ पर्याप्त न्याय नहीं होता है, यदि प्रजा के जान-माल की हिफाजत नहीं की जाती है, और यदि देश और जनता की सुख-समृद्धि की लगातार अवहेलना जारी रहती है, तो ब्रिटिश सरकार इन बुराइयों को दूर करने और अच्छा शासन स्थापित करने के लिये जो तरीका ठीक समझती है, उस पर अमल करके निश्चय ही हस्तक्षेप करेगी। समय रहते, रियासत को कुप्रबंध में फंसकर विनाश के गड्ढे में गिरने से बचाने के लिए जो हस्तक्षेप किया जायगा, वह महाराजा गायकवाड़ और प्रजा दोनों के लिए हितकर होगा। एक ओर जहां ब्रिटिश सरकार ऐसा करके गायकवाड़ की प्रजा के प्रति अपना कर्त्तव्य निवाहेगी,

वहां दूसरी ओर स्वयं महाराजा के प्रति भी उसका यह काम किसी कदर कम मित्रता-पूर्ण न होगा।"

भारत में ब्रिटिश सरकार के अध्यक्ष का उक्त वक्तव्य इतना स्पष्ट है कि उसकी आगे व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। किसी रियासत में खराब शासन-प्रबंध होने पर सर्वोच्च सत्ता की क्या वैधानिक जिम्मेदारियां और क्या नैतिक कर्त्तव्य थे, वे उससे बिल्कुल साफ हो जाते हैं। इस वक्तव्य में रियासतों की जनता के प्रति सर्वोच्च सत्ता की जिम्मेदारियों को भी साफ शब्दों में दोहराया गया है।

इसके लगभग 60 वर्षो बाद, बटलर कमेटी ने भी इस विषय पर प्रकाश डाला कि रियासतों के अंदरूनी मामलों में सर्वोच्च सत्ता को हस्तक्षेप के क्या-क्या अधिकार हैं। उसकी जांच से भी उपर्युक्त मत की कमवेश पुष्टि होती है। 48 वें पैराग्राफ में कमेटी ने लिखा है :

"विद्रोह और विप्लव से रियासतों का बचाव करना सर्वोच्च सत्ता का कर्त्तव्य है, जो संधियों और सनदों में उल्लिखित अनुच्छेदों पर आधारित है, और ब्रिटिश सम्राट् ने राजाओं तथा नवाबों के हकों, अधिकारों तथा प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखने की जो प्रतिज्ञा की है और जो रीति-नीति अपनाई है, उसके अनुकूल है। जहां कहीं सर्वोच्च सत्ता के हस्तक्षेप की मांग की जाती है या वह आवश्यक हो जाता है, वहां इस कर्त्तव्य ने उस पर दोहरी जिम्मेदारियां थोप दी हैं। तात्पर्य यह है, एक ओर उसने राजाओं को विद्रोह से बचाव की गारंटी दे रखी है और दूसरी ओर उसे राजाओं से अपनी अपनी जनता की वैध शिकायतें दूर करवाने का अधिकार प्राप्त है और साथ ही उसे, इस बारे में क्या-क्या कदम उठाये जाएं ये सुझाव देने का भी हक है।"[1]

इस बारे में सर जोन मालकम के विचार उद्धृत करना प्रासंगिक होगा। राजाओं के साथ संधियां करने का अवसर सर जोन से अधिक किसी ब्रिटिश अधिकारी को नहीं मिला था। इसलिए इस क्षेत्र में जहां तक अनुभव, ज्ञान और सूझबूझ का सवाल है, उनके आगे कौन ठहर सकता है? सर जोन अहस्तक्षेप नीति के प्रबल समर्थक थे। 1822 के आसपास उन्होंने लिखा था :

"यदि परिस्थितियां (ब्रिटिश सरकार को) अहस्तक्षेप की नीति छोड़ने के लिए लाचार कर दें तो देश की प्रभुसत्ता को सीधे अपने हाथ में लेकर उस पर अमल करना अधिक समझदारी का काम होगा। यह काम उससे कहीं बेहतर होगा कि प्रभुसत्ता

---

[1]बटलर कमेटी की रिपोर्ट—पैरा 48

को उन्हीं लोगों के हाथ में बना रहने दिया जाए जो जनता की निगाहों में पहले ही नीचे गिर चुके हैं और एक मखौल बन गये हैं; और फिर उनको उस सत्ता का उपयोग करने दिया जाए जिससे उनकी रियासतों का शासन-प्रबंध दिन-पर-दिन बिगड़ता जा रहा है। यह रवैया ठीक न होगा कि अगाध ब्रिटिश मित्रता और प्रश्रय के कारण बिगड़ी हुई रियासतों को अपने हाथ अपने पांव कुल्हाड़ी मारने दी जाए; वे बरबाद व तबाह हो जाएं और हम खड़े-खड़े देखते रहें। हमारी मित्रता के कारण उनका अंदरूनी प्रबंध बिगड़ गया है जिसके भंवर में फंसकर अब उनकी नौका डांवाडोल हो रही है। इस तरह उनके विनष्ट होने से बेहतर यही होगा कि उनकी सरकारों का तख्ता जल्द से जल्द पलट दिया जाए क्योंकि इससे हम तेजी से उस स्थान पर (जो भारत और ब्रिटेन दोनों की दृष्टि में वैध होगा) पहुंच जाएंगे जबकि देश की बागडोर हमारे हाथ में आ जाएगी और वह हमारे शासन से लाभ उठा सकेगा।"[1]

इसी आशय की घोषणा लार्ड हेस्टिंग्स ने की थी। उन्होंने कहा था कि चेतावनी पर चेतावनी देने के बाद भी यदि किसी नरेश की आंखें नहीं खुलतीं और वह अपनी रियासत में अच्छा प्रबंध नहीं करता तो प्रजा को उसके "शासन से मुक्त" कर देना चाहिए।

मणिपुर का मामला

1891 में मणिपुर में रक्तरंजित घटना हो गई, जिससे रियासत की चूलें हिल गईं, यहां तक कि महाराजा को गद्दी छोड़नी पड़ी। असम के चीफ कमिश्नर क्विंटन को आदेश मिला था कि वह उक्त विवाद के निपटारे के लिए मणिपुर जाएं। जब चीफ कमिश्नर रियासत में दाखिल हो गये तब उनके चार अफसरों को धोखे से पकड़ लिया गया और मणिपुर के सेनापति और प्रधान मंत्री के हुक्म से उनके सिर उतार दिये गये। मणिपुर का सेनापति स्वयं महाराजा का ही भाई था। यह खबर पाकर ब्रिटिश सरकार आग-बबूला हो उठी और मणिपुर को खून का दंड देने के लिए एक फौज भेजी गई। फिर क्या था, हत्या के अपराधियों को पकड़ कर अदालत के सामने पेश किया गया और बाद में फांसी पर लटका दिया गया। मुकदमे के दौरान प्रतिवादी के वकील ने यह दलील दी कि मणिपुर एक स्वाधीन राज्य है और उसके शासकों पर सम्राज्ञी के विरुद्ध युद्ध छेड़ने का अभियोग लगाकर मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

अब सारे मामले पर इस छोर से उस छोर तक विचार करने के बाद, भारत

1 हिंदुस्तान रिव्यू में प्रकाशित स्वर्गीय मेजर दुबे के लेख से उद्धृत

सरकार ने सर्वोच्च सत्ता और देसी रियासतों के आपसी संबंध पर एक बार फिर प्रकाश डाला। सपरिषद गवर्नर-जनरल ने इस विषय पर एक प्रस्ताव जारी किया, जिसमें रियासतों की स्थिति साफ कर दी गई। प्रस्ताव में लिखा था :

"मणिपुर रियासत भारतीय साम्राज्य के कहां तक अधीन है, यह बात ऐसे मामलों में कई बार स्पष्ट की जा चुकी है। और, इसे अंतिम रूप से मान लेना चाहिए कि मणिपुर एक अधीनवर्ती संरक्षित राज्य है जो सर्वोच्च सत्ता के नीचे है ··· 'सम्राज्ञी की प्रतिनिधि भारत सरकार एक ओर और महामहिम सम्राज्ञी की अधिराज्य-सत्ता के अधीनस्थ देसी रियासतें दूसरी ओर—इन दोनों पक्षों में आपसी संबंधों पर अंतर्राष्ट्रीय कानून के सिद्धांत लागू नहीं होते। भारत सरकार की सर्वोच्च सत्ता का सीधा अर्थ यही है कि रियासतें उसके मातहत हैं ···।"

यद्यपि मणिपुर के मामले से यह पता नहीं चलता है कि देसी रियासतों की जनता के क्या अधिकार थे, फिर भी यह बिल्कुल साफ हो जाता है कि देसी रियासतों के पास कितनी "प्रभुसत्ता" थी और उन्हें कितनी स्वाधीनता प्राप्त थी। भीतरी और बाहरी मामलों में वे पूरी तरह सर्वोच्च सत्ता के अधीन थीं, यह बात एक बार फिर सिद्ध हो जाती है। संविधान और कानून की दृष्टि से सर्वोच्च सत्ता को रियासतों के भीतर शासन-प्रबंध खराब होने और प्रजा में असंतोष बढ़ने की दशा में हस्तक्षेप करने की पूरी छूट थी। इतना ही नहीं, यदि कहीं सर्वोच्च सत्ता रियासतों में फैले कुप्रबंध या अत्याचार को खत्म करवाने के लिए हस्तक्षेप नहीं करती थी तो उल्टे उस पर जानबूझ कर अवहेलना करने और अपराधों के उकसाने के आरोप लगाये जाते थे।

इससे सहज में आभास मिल सकता है कि रियासतों के करोड़ों लोगों के प्रति सर्वोच्च सत्ता की क्या जिम्मेदारियां थीं। अनेक ऊंचे सरकारी अधिकारी भी इस व्याख्या से सहमत हैं। इनमें यहां लार्ड मिन्टो का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि उनके विचारों की पीठ पर इतिहास का हाथ अधिक है। 3 नवम्बर 1909 को लार्ड मिंटो ने उदयपुर में कहा था :

"कुछ इनेगिने अवसरों को छोड़कर देसी रियासतों के अंदरूनी मामलों में अहस्तक्षेप की नीति हमारी नीति बन चुकी है। लेकिन उनकी आंतरिक स्वाधीनता की गारंटी और बाहरी आक्रमण से बचाव का भार ग्रहण करने के साथ, शाही सरकार पर अपने आप कुछ जिम्मेदारियां आ पड़ती हैं—यह उसकी जिम्मेदारी बन जाती है कि इन रियासतों में आमतौर पर शासन-प्रबंध अच्छा रहे, यहां तक कि उनमें कुप्रबंध होने का लांछन उस पर कोई अप्रत्यक्ष रूप से भी न लगा सके ···।"

लार्ड मिंटो से पहले यही उद्‌गार लार्ड केनिंग के मुख से निकला था। एक रियासत की राजधानी में भाषण करते समय उन्होंने दो-टूक शब्दों में कहा था : "गोद लेने की गारंटी से ब्रिटिश राज्य में रियासतों के मिलाये जाने का हौवा खत्म हो गया है। किंतु इसका मतलब यह नहीं है कि रियासतों को कुप्रबंध अथवा सर्वोच्च सत्ता की आज्ञा का उल्लंघन करने की छूट मिल गई है।"

श्री मांटेग्यु और लार्ड चेम्सफोर्ड ने अपनी भारतीय संविधान सुधार की रिपोर्ट में भी रियासतों की स्थिति पर प्रकाश डालते हुए उनके अधिकारों का जिक्र किया था। लिखा है :

"रियासतों को बाहरी खतरों से सुरक्षा की गारंटी दी गई है : सर्वोच्च सत्ता ने विदेशों तथा अन्य रियासतों संबंधी उनकी नीति अपने हाथ में ले रखी है; और जब उनके भीतर शांति गंभीर रूप से भंग होती है तब वह हस्तक्षेप करती है। दूसरी ओर, इन रियासतों के विदेशों के साथ केवल वही संबंध हैं जो सर्वोच्च सत्ता ने अपने लिए जोड़ रखे हैं; दोनों पक्षों की एक सामान्य प्रतिरक्षा नीति है; अपने प्रदेशों में अच्छा शासन-प्रबंध कायम करने और जनता की सुख-समृद्धि बढ़ाने की एक सामान्य जिम्मेदारी है।"

1909 में ब्रिटिश प्रांतों में नये शासन-सुधारों का सूत्रपात होते ही, रियासती जनता ने अंगड़ाई ली। उसने भी अपनी-अपनी रियासतों में उत्तरदायी सरकार बनाने की आवाज उठाई। राजा और उनकी सरकारें उसकी मांग को दबाने के लिए संधियों की शर्तों की ओट लेने लगे। वे उनपर ऐसा मुलम्मा चढ़ाने लगे मानो संधियां रियासतों को सु-शासन से वंचित करने के निमित्त की गई थीं। लेकिन इस टट्टी की आड़ में शिकार खेलना आसान था; और हुआ भी यही। उन्होंने ढोल पीटना शुरू कर दिया कि राजा लोग राज-सत्ता को अपने हाथ में इसलिए केंद्रित रखना चाहते हैं ताकि सर्वोच्च सत्ता के प्रति अपनी संधियों की जिम्मेदरियां पूरी कर सकें। जब 1937 में, गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट, 1935 के अनुसार ब्रिटिश प्रांतों में स्वायत्त शासन चालू हो गया और रियासती जनता का अपने-अपने यहां निरंकुश शासन के विरुद्ध आंदोलन बल पकड़ने लगा, तब राजाओं और उनके मंत्रियों के सामने इसके सिवा और दूसरा चारा न था कि संधियों का शिखंडी-जैसा प्रयोग किया जाए और जनता को शासन में भाग लेने से दूर रखा जाए। उदाहरण के लिए, सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर-जैसे प्रसिद्ध राजपुरुष और संविधानवादी ने 1939 में खुले आम घोषणा की थी कि रियासतों में उत्तरदायी सरकार बनना "फिल-हाल असंभव है क्योंकि इस

कदम से राजाओं और सर्वोच्च सत्ता के वीच की गयी संधियों का उल्लंघन होगा।"

नवाव-वहावलपुर और अन्य अनेक राजाओं ने अपनी जनता की उत्तरदायी सरकार की स्थापना की मांग इसी आधार पर ठुकरा दी। किन्तु धीरे-धीरे हालत इतनी विगड़ गई कि दूसरे महासमर से ठीक पहले भारतमंत्री को एक सार्वजनिक वक्तव्य में यह कहना पड़ा कि यदि स्थिति अनुकूल है तो संधिपत्रों में ऐसी कोई शर्तें नहीं हैं, जिनसे रियासतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के रास्ते में अड़चन पड़ती है।

आश्चर्य की वात तो यह है कि अव से केवल एक सदी पहले संधियों के वारे में भारतीय रियासत जांच समिति ने जो विचार प्रस्तुत किये थे, उनकी ओर किसी राजा या उसके प्रवक्ता ने ध्यान तक नहीं दिया। संधियों का हवाला देते हुए, इस समिति ने कहा था :

"राजाओं के साथ जो संधियां और करार किये गये हैं उनकी वैधता और उनके अधिकारों, विशेषाधिकारों तथा प्रतिष्ठाओं की रक्षा पर सर्वोच्च सत्ता ने हमेशा जोर दिया है। साथ ही, उसने उनका पालन भी किया है। किंतु, आवश्यकता पड़ने पर सर्वोच्च सत्ता ने देश की वदलती हुई राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक अवस्थाओं को दृष्टि में रखते हुए कभी कभी सर्वोच्चता के नाम पर ऐसे कामकाज किये हैं जो संधि की शर्तों के वाहर थे। किंतु सच तो यह है कि संधियां करने के वाद ही ऐसे कामकाजों का तांता शुरू हो गया था।"[1]

"दि नेटिव स्टेट्स ऑफ इंडिया" नामक पुस्तक में उक्त प्रकार के उदाहरण जगह-जगह देखने को मिलते हैं। ली-वार्नर ने तो संधियों की अपेक्षा "रीति-नीति और व्यवहार पद्धति" पर अधिक वल दिया है, जिनके आधार पर ब्रिटिश सरकार और रियासतों का आपसी संवंध टिका हुआ था। उसने लिखा है :

"ब्रिटिश न्यायालयों के निर्णय ब्रिटिश पार्लमेंट के अधिनियमों की व्याख्या करके उनका स्वरूप तक वदल देते हैं। रियासतों के मामलों में निर्णय करने के लिए ब्रिटिश सरकार इसी प्रकार की प्रक्रिया का अनुसरण करती है। इसलिए संधियों को भी व्यवहार और चलन की कसौटी पर ही परखना चाहिए।"

संधियों का क्या अर्थ था और उनका क्या महत्त्व था, इस वारे में राजपुरुषों और इतिहासकारों के विचारों का संकलन ऊपर किया जा चुका है। रियासतें और उनके शासक उन पर किसी अनुचित पक्षपात का लांछन नहीं लगा सकते। ली-वार्नर

---

[1]वटलर कमेटीज रिपोर्ट

और बटलर कमेटी दोनों इस बारे में एकमत हैं कि 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और 19 वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जो विशेष परिस्थितियां उपस्थित थीं उनमें ईस्ट इंडिया कम्पनी और राजाओं के बीच संधियां और करार हुए थे और उनमें दोनों पक्षों की आपसी तूमापलटी और तत्कालीन हितों का ध्यान रखा गया था। इसलिए यह ठीक है कि ये संधियां सार्वकालिक नहीं हो सकती हैं। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, भारतीय इतिहास के उस युग में जो परिस्थितियां थीं वे अब नहीं रही हैं। समय के साथ दोनों पक्षों के स्वार्थों में हेरफेर होना स्वाभाविक था। ईस्ट इंडिया कम्पनी की उत्तराधिकारी सर्वोच्च सत्ता ने रियासतों के साथ की गई संधियों को आक्रमणात्मक या रक्षात्मक रूप में देखना बंद कर दिया। समय ने ऐसी करवट बदली कि आत्मरक्षा का प्रश्न गौण हो गया और उसके स्थान पर विभिन्न पक्ष अपने-अपने अधिकार के दावों और रियासतों के संघटन के सवालों पर जोर देने लगे। पिछले पचास वर्षों में भारत सरकार की नीति में जो मोड़ आया वह इसका प्रमाण है। ए० पी० निकलसन ने अपनी पुस्तक "स्क्रैप्स ऑफ पेपर्स" में, तथा सर एल० स्काट और उसके सहयोगियों ने लिखा है कि भारत सरकार के राजनीतिक विभाग ने रियासतों के संघटन की जो नीति अपनाई उसकी अच्छाइयों की ओर राजाओं का ध्यान नहीं गया। इसके विपरीत, उन्होंने इस नीति को लेकर सर्वोच्च सत्ता के विरुद्ध शिकायतों का एक लम्बा चिट्ठा तैयार किया। इसी प्रकार, ब्रिटिश सरकार की सीमित जिम्मेदारी आदि की पुरानी नीतियां अब व्यर्थ हो चुकी थीं। इससे हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि जब रियासतों और अंग्रेजों के बीच संधियां और करार हुए थे तब वे भले ही महत्त्वपूर्ण थे; लेकिन अब भारत में राजनीतिक जागृति पैदा हो गई थी और देश आजादी की आवाज उठा रहा था, इस दशा में उनमें बिना आवश्यक हेरफेर किये उन्हें लागू करना एक दुःसाहस-पूर्ण विचार था।

संक्षेप में; राजा-महाराजा संधिपत्रों के आधार पर जिन अधिकारों की कल्पन में डूबे रहते थे, वे उन्हें कतई प्राप्त न थे। जमाने की हवा के साथ-साथ उनके पद, उनके विशेषाधिकार और उनकी प्रभुसत्ता की परिभाषा बदलती रहती थी। उनकी धाक समय के अनुसार घट-बढ़ जाती थी। यह कहना भूल होगी कि उनके हक और विशेषाधिकार ऐसी लेखनी से लिखे गये थे कि उनमें फेरबदल असंभव थी। सच तो यह है कि इन संधियों की शर्तों में संधिकर्ताओं और उनके उत्तराधिकारियों ने ऐसी गुंजाइश रखी थी कि उन्हें जमाने की खराद पर चढ़ाया जा सके या परिस्थितियों के सांचे में ढाला जा सके। सर्वोच्च सत्ता समय-समय पर उनका जो अर्थ निकालती रही वह उनके लचरपन का सबसे बड़ा प्रमाण है।

रियासतों के प्रशासन का अन्तर्दर्शन

हम पहले ही यह बता चुके हैं कि रियासतों में ऐसी प्रतिनिधिमूलक संस्थायें न थीं, जैसी ब्रिटिश भारत में थीं; कुछ अपवाद अवश्य थे। औसत दर्जे की रियासत में सामान्य प्रशासन समय के साथ मेल नहीं खाता था। प्रान्तों के प्रशासन की तुलना में यह हीन कोटि का था और पिछड़ा हुआ भी था। रियासतों में वे सब बुराइयां मौजूद थीं, जो एक व्यक्ति के निरंकुश शासन में हो सकती हैं। अतः अधिकांश रियासतों में प्रशासन उपेक्षापूर्ण, स्वेच्छाचारी और अपरिपक्व था। लोकतन्त्र की दृष्टि से, बिना किसी अपवाद के, सभी रियासतों में प्रशासन अनुत्तरदायित्वपूर्ण था।

मैसूर, त्रावणकोर, बड़ौदा, हैदराबाद और कश्मीर में कुछ प्रतिनिधिमूलक संस्थायें थीं; परन्तु हैदराबाद और कश्मीर में मताधिकार सीमित ही था, और विधान-सभायें इस ढंग से गठित की गयी थीं कि अधिकारी और मनोनीत सदस्य निर्वाचित सदस्यों को दबाये रहते थे। हैदराबाद सरकार बहुत दिनों तक अप्रत्यक्ष निर्वाचन के विचार का मजाक उड़ाती रही और प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली में क्रान्ति के बीजों का अस्तित्व समझती रही। कश्मीर में भी स्थिति अधिक भिन्न न थी। वहां भी निर्वाचित सदस्यों की संख्या कम थी। दोनों रियासतों में राज्य-परिषदें जनता का सही प्रतिनिधित्व नहीं करती थीं। केवल मैसूर, त्रावणकोर और बड़ौदा की विधान-परिषदें ही ऐसी थीं, जो प्रान्तीय स्वराज्य से पूर्व की प्रान्तीय विधान परिषदों से कुछ-कुछ समानता रखती थीं।

दूसरे, सभी छोटी-बड़ी रियासतों में स्थानीय स्वशासन संस्थाओं तक का सर्वथा अभाव था, विधान परिषदों का तो कहना ही क्या। 1930 से आरम्भ होने वाले दशक में, कुछ रियासतों में म्युनिसिपल कमेटियां स्थापित हुईं। परन्तु लगभग सभी जगह इन संस्थाओं में सरकारी अधिकारियों का बोलबाला था, और निर्वाचित सदस्यों का या तो सर्वथा अभाव था या उनकी संख्या नगण्य थी। उदाहरण के लिए, पंजाब में नाभा रियासत में, जिसकी जनसंख्या 3 लाख से भी अधिक थी, 1935 तक एक भी म्युनिसिपल कमेटी नहीं थी। जब कभी शासक किसी विशिष्ट अतिथि का नागरिक अभिनन्दन करना चाहता था या किसी राजकीय समारोह का आयोजन किया जाता था, तो एक छद्म संस्था खड़ी कर दी जाती थी। ऐसी रियासतों में म्युनिसिपैलिटियां केवल प्रतिष्ठा की प्रतीक और शोभा की वस्तुयें थीं; वे केवल

राजा को गौरव प्रदान करने और कतिपय सार्वजनिक उत्सवों की शोभा बढ़ाने के लिए बनायी जाती थीं।

सभी रियासतों में प्रशासन की मुख्य विशेषता यह थी कि वह व्यक्तिगत और निरंकुश था। यद्यपि शिक्षा, स्वास्थ्य, वित्त, उद्योग, आदि के अलग-अलग विभाग थे, परन्तु वे प्रान्तों की नौकरशाही व्यवस्था की भद्दी और निर्जीव अनुकृति मात्र थे।

सभी रियासतों में प्रशासन की एक प्रमुख विशेषता यह भी थी कि वित्तीय ढांचा लचीला और अनियमित था। स्वतन्त्र लेखा-परीक्षा और आधुनिक लेखा व्यवस्था के अभाव में रियासतों के "वित्त-विभाग" किसी जमींदार के घरेलू आय-व्यय के कार्यालय के रूप में काम करते थे। सम्पूर्ण राजस्व का एक बड़ा भाग राजा का "प्रिवी पर्स" (निजी व्यय के लिए सुरक्षित धन राशि) बन जाता था; और, जैसा कि हम आगे देखेंगे, यह राशि सम्बन्धित रियासत की जनता अथवा प्रशासन की आवश्यकताओं से कोई मेल न खाती थी। भारत और ब्रिटेन के प्रबुद्ध वर्ग द्वारा लगाया जाने वाला यह आरोप, कि अधिकांश शासक अपनी रियासतों को निजी सम्पत्ति या पारिवारिक जागीर समझते थे, इतना सही था कि किसी राजा या उसके प्रवक्ता ने कभी उसका सन्तोषजनक ढंग से प्रतिवाद नहीं किया। उसके रहन-सहन का ढंग देख कर "अरेबियन नाइट्स" (अरब की रातें) के नायकों और क्रान्ति से पूर्व के फ्रांसीसी राजाओं की याद आ जाती थी। अधिकांश राजा प्रजा की गरीबी और राज-दरबार के वैभव की असमानता को शोभा की वस्तु समझते थे और उसे दुर्लभ प्राचीन वस्तु की तरह प्रयत्नपूर्वक सुरक्षित रखना चाहते थे। इसलिए इस में कोई आश्चर्य नहीं कि वे किसी से अपनी फिजूलखर्ची की आलोचना सुनने के लिए तैयार न थे, सर्वोच्च सत्ता से भी नहीं।

ब्रिटिश भारत में जब भी कोई सुधार शुरू होता था, तभी राजनीतिक विभाग सर्वोच्च सत्ता की ओर से हिदायतें जारी करता था कि रियासतों को भी अपने प्रशासन में सुधार करना चाहिए। नरेन्द्र-मण्डल अपने वार्षिक अधिवेशन में इन भावनाओं को दुहरा कर, सम्राट् के प्रतिनिधि की इच्छाओं का, दिखाने के लिए उदारता से, पर वास्तव में मरे दिल से, समर्थन करता था। इस औपचारिकता ने धीरे-धीरे खाना-पूर्ति का रूप ले लिया और हिदायतों का क्रियान्वयन वास्तविक न होकर काल्पनिक बन गया। मौजूदा शासन-व्यवस्था में कोई परिवर्तन न हुआ। उदाहरण के लिए, राजनीतिक विभाग ने कई बार रियासतों के पास यह निर्देश भेजा कि वे

राजाओं के "प्रिवी पर्सो" (निजी खर्चों) को राज्य के राजस्व से अलग कर दें। इन निर्देशों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता था; अतः यह दिखाने के लिए कि इनका पालन हो रहा है यह कह दिया जाता था कि राजाओं का 'निजी खर्च' अलग कर दिया गया है और अलग ही दिखाया जा रहा है। पर अधिकांश रियासतों में स्थिति वैसी ही रही। उदाहरण के लिए, बीकानेर जैसी बड़ी रियासत में, महाराजा का निजी खर्च 25 लाख रुपया निश्चित था। यह बहुत अधिक था, क्योंकि यह रियासत की आय के चौथाई भाग से भी ज्यादा था। यह भी पर्याप्त नहीं समझा जाता था और महाराजा की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सार्वजनिक राजस्व पर धावा बोल दिया जाता था। परिणाम यह होता था कि सार्वजनिक निर्माण विभाग की मद में दिखायी गयी राशि का अधिकांश महाराजा के महल की मरम्मत, विस्तार या नवीकरण पर खर्च कर दिया जाता था। इसी प्रकार, सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा आदि पर खर्च की जाने वाली राशि का भी बहुत बड़ा भाग महाराजा और उसके परिवार पर खर्च कर दिया जाता था।

जब बीकानेर जैसी बड़ी रियासत में यह हालत थी, तो यह आसानी से सोचा जा सकता है कि छोटी रियासतों में क्या हालत रही होगी। उदाहरण के लिए, उड़ीसा की रियासतों में नीलगिरि को ही लेते हैं। इस रियासत की कुल आय 1 लाख 71 हजार रुपये थी। इसमें से 50 हजार रुपये राजा के निजी निर्वाह-व्यय के लिए नियत थे। इसके अतिरिक्त, राजभवन के अन्य व्यय निम्नलिखित विभागों के नाम डाल दिये जाते थे, जैसे--राजभवन के उद्यानों एवं पशुओं के लिए वन विभाग; राजभवन की बिजली, रंगमंच की बिजली, बिलियर्ड टेबुल रंगमंच और जनाना बाग के लिए सार्वजनिक निर्माण विभाग; छोटी रानियों के सम्बन्धियों की शिक्षा के लिए शिक्षा-विभाग; राजभवन के चिकित्सक और अन्य कर्मचारियों तथा औषध और शृंगार सामग्री के लिए चिकित्सा विभाग; राजभवन की अश्वशाला के लिए पशु-चिकित्सा विभाग; राजभवन के सेवकों और राजभवन के संगीत के लिए पुलिस विभाग तथा रानियों के सम्बन्धियों के आतिथ्य आदि के लिए राजकीय अतिथि विभाग। 50 हजार रुपये के प्रत्यक्ष व्यय के साथ, यदि इस अप्रत्यक्ष व्यय को मिला दिया जाय, तो राजा एवं उसके परिवार पर होने वाले व्यय की राशि रियासत की सम्पूर्ण आय के आधे से भी अधिक हो जाती है। इसके अतिरिक्त, राजा की आय के भी कई ऐसे स्रोत थे, जिनका बजट में कोई उल्लेख नहीं रहता था। अधिकांश रियासतों के बजट इसी नमूने के होते थे। राजा की इच्छा सर्वोपरि होती थी। उसके मन्त्री

और परामर्शदाता ऐसे कामों में सदा उसका साथ देते थे। वे उसे उकसाते भी रहते थे। उन्हें मजबूर होकर ऐसा करना पड़ता था।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि राजाओं के व्यय की ख्याति समुद्रपार तक पहुंच गयी थी। यूरोप में, अमेरिका में, जहां कहीं भी वे जाते थे "विलक्षण जीव" समझे जाते थे और कौतूहल के साथ देखे जाते थे। जिस देश की यात्रा वे करते थे, उस देश पर उनकी "उन्मादपूर्ण विलासिता और भद्दी शान-शौकत" की छाप पड़े बिना नहीं रहती थी। इसी के कारण वे चर्चा का विषय बन जाते थे और बदनाम भी होते थे। सर जार्ज मैकमन, जो पहले मध्य भारत में रेजीडेंट थे, लिखते हैं—

"भारतीय राजा स्वयं बड़े रंगीले और सजीले होते हैं। वे जब ब्रिटेन आते हैं और ब्रिटिश टीमों में खेलते हैं या संकट के समय सहयोग देते हैं तो ब्रिटिश जनता का अच्छा मनोरंजन होता है। उनके रत्नजटित आभूषण, उनकी रानियां, उनकी तड़क-भड़क, उनकी आतिथ्यप्रियता, सम्राट् के प्रति उनकी निष्ठा सब ऐसे विषय हैं, जिनके विशद वर्णन में ब्रिटेन के और कभी-कभी यूरोप महाद्वीप के, समाचारपत्र विशेष आनन्द का अनुभव करते हैं।"[1]

सभ्य संसार को यह जान कर ग्लानि हुए बिना न रहेगी कि भारत में कम-से-कम 6 ऐसी रियासतें थीं, जिनके शासक अपने ऊपर वर्ष में 25 लाख से 40 लाख रुपये तक व्यय कर देते थे। ऐसी छोटी रियासतें तो अगणित थीं, जिन्हें अपने शासकों के निर्वाह पर अपने राजस्व का एक-तिहाई से आधे तक व्यय करना पड़ता था। बहु-चर्चित राजकोट इसका एक आदर्श उदाहरण या नमूना था। राजकोट रियासत की चार वर्षों (1932-36) की कुल आय 58 लाख 92 हजार 18 रुपया थी। इन चार वर्षों में रियासत के कार्यों पर कुल 30 लाख 98 हजार 263 रुपया व्यय हुआ। शेष 28 लाख रुपये ठाकुर साहब के प्रिवी पर्स में चले गये, जिसका औसत 7 लाख रुपया वार्षिक रहा। परन्तु ठाकुर साहब इस प्रकार के अकेले शासक न थे। काठियावाड़ में और उसके बाहर भी, ऐसे अनेक शासक थे, जो सार्वजनिक धन के अपव्यय की कला में उनके घोर प्रतिद्वन्द्वी थे।

अधिकांश रियासतों का दावा था कि उन्होंने ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के नमूने पर अलग-अलग विभाग स्थापित कर लिये हैं और वैसी ही शासन-पद्धति अपना ली है। परन्तु एक चीज ऐसी थी, जो सदा ही प्रजा के विरुद्ध जाती थी। यह था राजा

---

[1] "दी इंडियन स्टेट्स ऐंड प्रिंसेज" —पृष्ठ 72

का व्यक्तिगत शासन, जो रियासती प्रजा के भाग्य में बदा था, और जिससे त्राण पाना कठिन था। यह ऐसा एकतन्त्र राज्य था, जिसमें न तो सुधार के लिए प्रेरणा मिलती थी और न प्रशासन को ठीक रखने के लिए त्रुटियों को दूर करने का अवसर। भारत में ब्रिटिश सत्ता ने राजाओं को यह गारन्टी दे दी थी कि उनके वंश की रक्षा की जायगी और रियासतों के अन्दर उपद्रव न होने दिये जायेंगे। इस गारन्टी ने उन्हें सुधार की प्रेरणा से वंचित कर दिया। उधर प्रजा इतनी दबी हुई थी कि राजा और उसकी सरकार के विरुद्ध प्रभावशाली ढंग से आवाज भी नहीं उठा सकती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि राजा और उसकी सरकार की त्रुटियां बताने वाला कोई न रहा। ऐसी स्थिति में कोई अलौकिक गुणों वाला व्यक्ति ही भिन्न प्रकार से व्यवहार कर सकता था। इसलिए, इस हद तक राजाओं के दोषों के बारे में उदार दृष्टि अपनायी जा सकती है। सर्वोच्च सत्ता और ब्रिटिश निहित स्वार्थों ने खलनायक का काम किया था। सब बुराइयों की जड़ वे ही थे। वे ही राजाओं को सहारा देते थे और राजाओं को उनकी इच्छानुसार चलना पड़ता था। उन्होंने राजाओं के लिए पृथक् स्कूलों और कालेजों में शिक्षा की व्यवस्था की थी। इस बात का ध्यान रखा जाता था कि सरकारी काम का प्रशिक्षण ब्रिटिश अध्यापकों और अधिकारियों की देख-रेख में हो। जब ऐसे शासक निरंकुश अधिकार लेकर गद्दी पर बैठते थे, तो उनमें आडम्बर के प्रति अभिरुचि और लोक-कल्याण एवं शासन-सुधार के प्रति घोर उपेक्षा का होना स्वाभाविक था। शासक समस्त महत्त्वपूर्ण पदों पर स्वयं ही नियुक्तियां करते थे। उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों, असैनिक अधिकारियों, मंत्रियों, परामर्शदाताओं, लोक सेवा आयोगों के सदस्यों आदि को वे ही नियुक्त करते थे। ये सभी लोग शासक की इच्छा से अपने पदों पर रह सकते थे। शासक उनके सम्बन्ध में या उनके लिए कुछ भी करने को सर्वथा स्वतन्त्र था। उसे तो केवल एक ही बात की चिन्ता रहती थी कि राजनीतिक विभाग के अधिकारी उससे खुश रहें। और यह भी उसके लिए कोई समस्या न थी, क्योंकि उसका प्रशिक्षण इस ढंग का था और उसके पास व्यय के लिए इतना अधिक रुपया था कि वह उन्हें आसानी से खुश कर लेता था।

प्रशासन सभी रियासतों में समान रूप से खराब न था; किसी में अधिक खराब था तो किसी में कम। परन्तु एक बात सभी छोटी-बड़ी, प्रगतिशील और पिछड़ी रियासतों के बारे में समान रूप से कही जा सकती है, कि न तो कोई रियासत कभी आलोचना सहन कर सकती थी और न विरोध बर्दाश्त कर सकती थी। इसलिए सभी ने समाचारपत्रों का बहिष्कार कर दिया था। क्या यह आश्चर्य की बात नहीं

कि, किसी भी रियासत से एक भी स्वतन्त्र पत्र नहीं निकलता था ? न तो किसी रियासत में प्रेस की स्वतन्त्रता थी, न विचारों के अभिव्यंजन की; न व्यक्ति की स्वतन्त्रता थी और न सम्पत्ति की सुरक्षा की गारंटी। केवल एक मौखिक या लिखित शासकीय आदेश किसी भी नागरिक की कोई भी सम्पत्ति आत्मसात् करने के लिए पर्याप्त था।

अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद ने भारतीय रियासत-समिति को जो ज्ञापन दिया था, उसमें रियासती प्रशासन के इस पहलू के सम्बन्ध में कहा गया था कि—

> "दूसरा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मामला, कुछ अपवादों को छोड़ कर ··· समस्त रियासतों में वैध (कानूनी) शासन का अभाव है। रियासतों में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता नहीं है। यदि कोई व्यक्ति जेल में डाल दिया जाता है, तो उसके छुटकारे का कोई उपाय नहीं; उसे जेल में निरुद्ध रखनेवाले अधिकारियों के खिलाफ बन्दी-प्रत्यक्षीकरण के लिए आदेश भी जारी नहीं किया जा सकता। सम्पत्ति की सुरक्षा की भी कोई गारन्टी नहीं है। अधिकांश रियासतों में नगर-पालिका-न्यायालयों में रियासत पर अभियोग भी नहीं चलाया जा सकता।"

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, उन स्थानों पर भी जहां म्युनिसिपल कमेटियां मौजूद थीं, लोगों की नगर के शासन प्रबन्ध के मामलों में कोई वास्तविक आवाज न थी। हर बात का निर्णय राजा की देख-रेख में काम करनेवाले रियासत के अधिकारी द्वारा किया जाता था। तथाकथित प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं और विधान सभाओं के होते हुए भी, राजा की इच्छा ही कानून थी। उसकी इच्छा इन संस्थाओं द्वारा व्यक्त किये गये सभी विचारों और निर्णयों से भी ऊपर थी। केवल नाभा जैसी छोटी रियासतें ही नहीं, बड़ौदा जैसी बड़ी और विख्यात प्रगतिशील रियासतें भी अपने राजा की हठधर्मी के सामने निरीह और असहाय बनी रहती थीं। नाभा के राजा ने 1923 में जवाहर लाल नेहरू के साथ दुर्व्यवहार किया था। मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार लागू होने के बाद भी, प्रान्तों में वैधानिक या राजनीतिक गतिरोध होता रहता था; परन्तु अधिक-से-अधिक प्रगतिशील रियासत में भी ऐसे गतिरोध की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। सत्य तो यह है कि प्रान्त के शासक और रियासत के शासक की कोई तुलना ही न थी।

प्रजा की ऐसी असहायता का एक सामान्य उदाहरण बड़ौदा का है। वहां के महाराजा सर प्रताप सिंह ने, 1944 में, रियासत के कानून के खिलाफ दूसरी शादी कर ली। इसके लिए उसने असाधारण कदम उठा कर बड़ौदा के एकाधिक विवाह

के विरुद्ध बने कानून में संशोधन करा लिया। उसने यह व्यवस्था करायी कि यह कानून महाराजा पर लागू न होगा और न कभी लागू हुआ माना जायगा। यह सब कुछ बड़ौदा की प्रजा और बड़ौदा धारा सभा के विरोध के बावजूद हुआ। उसी वर्ष महाराजा ने अपना प्रिवी पर्स 23 लाख रुपये से बढ़ा कर 50 लाख रुपया वार्षिक कर लिया और साथ ही रियासत के कोष से अपने लिए अग्रिम धन भी लेता रहा। रियासती कानून तथा प्रशासनिक और सांविधानिक तन्त्र उसे ऐसी अतिवादी स्वेच्छा-चारिता से रोकने में असमर्थ थे।

संसार में केवल भारत ही ऐसा देश न था, जहां राजा-महाराजा राज्य करते थे। और देशों में भी राजा थे, जो कहीं अधिक तेजस्वी और कम दिखावटी थे। अब हमें यह देखना चाहिए कि वे अपने ऊपर कितना व्यय करते थे। "इंगलैण्ड का राजा राष्ट्रीय राजस्व के 1600 भाग में से एक, बेल्जियम का राजा 1000 में से एक, इटली का राजा 500 में से एक, डेनमार्क का राजा 300 में से एक, जापान का सम्राट् 400 में से एक, नीदरलेंड की रानी 600 में से एक, और नार्वे का राजा 700 में से एक भाग राजांश के रूप में लेता है।"[1]

इन राजाओं के प्रिवी पर्सों और भारतीय राजाओं के प्रिवी पर्सों में आकाश-पाताल का अन्तर था। प्रगतिशील कही जाने वाली रियासतों के राजाओं के प्रिवी पर्स भी कम आश्चर्यजनक न थे। मैसूर, जो भारत में प्रायः "सबसे अधिक प्रगतिशील रियासत" मानी जाती थी, अपने राजा पर, रियासत के राजस्व के हर 14 रुपये में से 1 रुपया खर्च करती थी; त्रावणकोर, कोचीन और हैदराबाद रियासतें 17, 14 और 13 में से क्रमशः एक-एक रुपया; प्रगतिशील बड़ौदा 10 में से एक, कोल्हापुर 10 में से एक, भोपाल 13 में से एक, और कश्मीर रियासत अपने महाराजा पर रियासत के राजस्व के हर 8 रुपये में से एक रुपया खर्च करती थी: ये आंकड़े वास्तव में चौंकाने-वाले हैं; पर हमारे सबसे अच्छे आंकड़े भी ये ही हैं। अधिकांश राजा तो रियासत के राजस्व के हर तीन में से एक या हर दो में से एक रुपया तक खर्च कर देते थे।

नरेन्द्र मण्डल ने कई बार यह कोशिश की कि प्रिवी पर्सों के बारे में एक सर्वसम्मत सामान्य सिद्धान्त स्थिर कर दिया जाय। परन्तु उसकी सब कोशिशें बेकार रहीं। अनेक वाइसरायों ने भी कई अवसरों पर राजाओं को यह समझाने का प्रयत्न किया

---

[1]अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद के वैदेशिक शिष्टमण्डल का ज्ञापन — पृ० 37

कि राजा के निजी आय-व्यय को रियासत के राजस्व से पृथक् रखना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु क्या आप समझते हैं कि राजाओं ने ऐसा किया होगा ? 600 से अधिक रियासतों में 100 भी ऐसी न थीं, जिनके शासक रियासत के बजट और अपने निजी बजट में कोई भेद करते थे।

एक बात में राजा लोग आज के समाजवादियों से भी आगे बढ़ गये थे। अपने भले के लिए उन्होंने राजकीय व्यापार की प्रथा अपना ली थी। राजकीय व्यापार का अर्थ था विभिन्न प्रकार के व्यापार का एकाधिकार। उदाहरण के लिए, सौराष्ट्र की लगभग सभी रियासतों, राजकोट, नवानगर आदि में, तम्बाकू, रुई, दियासलाई, नमक आदि कई वस्तुएं एकाधिकार-प्रणाली से बेची जाती थीं। व्यापार का एकाधिकार या तो सबसे ऊंची बोली लगाने वाले को नीलाम कर दिया जाता था, या अपने किसी प्रिय व्यक्ति को दे दिया जाता था। इसके फलस्वरूप, लोगों को, कोई वस्तु खरीदने के लिए, समीपवर्ती ब्रिटिश भारतीय क्षेत्र में विद्यमान मूल्य-स्तर की अपेक्षा अधिक मूल्य देना पड़ता था।

रियासती प्रशासन की एक और विशेषता कराधान सम्बन्धी निष्ठुरता थी। कर-निर्धारण का न कोई नियम था, न कानून। राजा बिना किसी अनुताप या हिचकिचाहट के कोई भी कर लगा सकता था और उसे कभी भी हटा सकता था। जब नवानगर का राजा नरेन्द्र मण्डल का अध्यक्ष (चांसेलर) था, तो उसकी रियासत में इस प्रकार कर लगे हुए थे :

नगर की जनता पर

1. बाहर से नगर में आनेवाली प्रत्येक वस्तु पर चुंगी
2. भवन कर
3. संरक्षण कर
4. पहिया कर
5. युद्ध ऋण कर
6. चराई कर
7. घी उत्पादन कर
8. घी आयात कर
9. आयातित वस्तुओं पर दलाली कर

ग्रामीण गैर-किसानों पर

		रु० आ० पा०
1.	उभाद वेरो अर्थात् समस्त गैर-किसान लोगों पर प्रति व्यक्ति कर, जो इस प्रकार था— महाजनों, पंसारियों, बजाजों तथा अन्य वस्तुओं के व्यापारियों पर प्रति व्यक्ति	4 – 0 – 0
2.	(क) सामान्य व्यापारी	3 – 8 – 0
	(ख) बढ़ई, दर्जी आदि कारीगर	3 – 8 – 0
3.	(क) लोहार	3 – 0 – 0
	(ख) कृषि-मजदूर	3 – 0 – 0
	(ग) रुई धुननेवाले, जुलाहे आदि	3 – 0 – 0
4.	उपर्युक्त श्रेणियों में न आने वाले अन्य व्यवसायी	2 – 0 – 0
5.	गड़ेरिये आदि	1 – 0 – 0
6.	भिखारी (ब्राह्मण, फकीर, साधु आदि)	1 – 0 – 0
7.	मजदूरी करनेवाले सम्पत्तिहीन लोग	0 – 8 – 0

8. घी कर
9. चराई कर
10. चुंगी
11. रुई कर
12. नमक कर
13. अकाल कोष

ग्रामीण किसानों पर

1. सम्पत्ति कर
2. सम्पत्ति-अधिकार कर चार आना प्रति रुपया (सम्पत्ति पर)
3. अकाल कर एक आना प्रति रुपया (सम्पत्ति पर)
4. अकाल बीमा कोष
5. दुधारू पशु कर
6. रुई कर

7. पशु विक्रय कर
8. घी कर
9. चराई कर
10. कृषि जिंस विक्रय कर
11. विविध सम्पत्ति कर
12. कन्या विवाह कर
13. विवाह भोज कर
14. पुनर्विवाह कर
15. फल देने वाले वृक्षों पर कर
16. चीनी कर
17. चीनी की चीजों पर कर
18. डाक कर
19. वनस्पति की चीजों पर कर[1]

सिर को चकरा देनेवाली करों की यह लम्बी सूची केवल नवानगर की ही विशेषता न थी; अन्य रियासतों में भी लगभग ऐसे ही कर लगाये जाते थे। इन करों की एक खास विशेषता यह थी कि ये मुख्य रूप से निर्धन एवं मध्यम वर्ग पर लगाये जाते थे। धनिक वर्ग पर कर लगाने की तो कोई सोचता भी नहीं था। यही कारण था, कि कतिपय रियासतों को छोड़ कर, सभी जगह आय-कर को अभिशाप समझा जाता था। सबसे बड़ी रियासत हैदराबाद ने, जहां नवाबों और जागीरदारों की भरमार थी, आयकर लगाने की दलील को कई बार इस आधार पर ठुकरा दिया कि आय कर न लगने से रियासत से बाहर के उद्योगपति और धनी व्यापारी आकर्षित हो सकेंगे।

रियासतों में न्याय-प्रशासन के बारे में भी अधिक कुछ नहीं कहा जा सकता। उनमें से अधिकांश इतनी छोटी थीं और उनके साधन इतने अपर्याप्त थे कि वे अच्छे वेतन देकर योग्य न्यायाधीश रख ही नहीं सकती थीं। जहां आधुनिक ढंग की न्याय-प्रणाली थी भी, वहां राजा और विशेषाधिकारप्राप्त जागीरदार वर्ग से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे न्याय-प्रशासन में वैसी ही तटस्थता और निर्भीकता दिखायेंगे, जैसी ब्रिटिश भारत में दिखायी जाती थी। जिस समय जर्मनी में नाजी

---

[1] "इंडियन प्रिंसेज ऐंड दी पीपुल सी दैम"—पृ० 20

पोलेंड पर आक्रमण की तैयारी कर रहे थे, उस समय भारत में बहुत सी रियासतें अपनी विधि-संहिता ही बनाने में लगी हुई थीं।

लार्ड लिनलिथगो को छोटी रियासतों की बहुत चिन्ता थी। उनकी संख्या समस्त रियासतों की संख्या के तीन-चौथाई से कम न थी। लार्ड लिनलिथगो ने उनसे आग्रह के साथ कहा कि प्रजा को सामान्य कोटि का उचित प्रशासन देने के लिए यह आवश्यक है कि वे सब अपने साधनों को मिला लें और सम्मिलित सेवायें स्थापित करें। 13 मार्च 1939 को, नरेन्द्र मण्डल के सम्मुख अपने उद्घाटन भाषण में ऐसी रियासतों का उल्लेख करते हुए, सम्राट् के प्रतिनिधि ने कहा कि :

> "जिन रियासतों के साधन इतने सीमित हैं कि वे वस्तुतः अपनी प्रजा की आधुनिक स्तर की आवश्यकताओं को भी पूरा करने में असमर्थ हैं, उनके सामने कोई क्रियात्मक विकल्प हो ही नहीं सकता।[1] इस अवसर पर मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति से, ऐसी रियासतों के राजाओं को बता देना चाहता हूं कि बुद्धिमानी इसी में है कि वे प्रशासनिक सेवाओं के मामले में अपने पड़ोसी राजाओं से मिलने के लिए, जहां तक सम्भव हो, जल्दी-से-जल्दी कदम उठायें । सम्बन्धित रियासतों को तुरन्त कार्रवाई करनी चाहिए, और, मेरे विचार से, स्वयं छोटी रियासतों के हित में यह महत्त्वपूर्ण है कि आवश्यक कदम उठाने में तनिक भी विलम्ब न किया जाय।"

---

[1]यहां पर प्रशासन के लिए छोटी रियासतों के स्वेच्छा से समूहबद्ध हो जाने की ओर संकेत है। उस वर्ष वाइसराय ने नरेन्द्रमण्डल के समक्ष जो भाषण किया था उसका मुख्य विषय यही था।

रियासतें और राजनीतिक सुधारों का युग

(1910—1935)

ब्रिटिश भारत में राजनीतिक चेतना का उदय धीरे-धीरे देसी रियासतों में भी जनता के विचारों को प्रभावित करने लगा। 1905 के बंग-भंग आन्दोलन और उसके बाद के स्वदेशी आन्दोलन का रियासतों की प्रजा पर गहरा प्रभाव पड़ा। इधर ब्रिटिश भारत में भारतीय नेता भी रियासतों में विद्यमान परिस्थितियों और राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन के कारण प्रायः चिन्तित रहने लगे। कुछ राजाओं के विरुद्ध घोर कुशासन के लिए कार्रवाई स्वयं सर्वोच्च सत्ता किया करती थी। इसलिए ब्रिटिश भारत की जनता रियासतों के मामलों पर खुल कर विचार करने लगी और राजाओं तथा उनको संरक्षण प्रदान करनेवाली सर्वोच्च सत्ता की अलोचना करने लगी। इस जागृति ने, जहां एक ओर शिक्षित समाज को भारत की विदेशी दासता के प्रति भावुक बनाया, वहीं दूसरी ओर उन लोगों का भ्रम भी दूर कर दिया, जो भारतीय भारत के भारतीय राजाओं को अच्छा समझा करते थे। अपनी संकीर्ण स्वार्थ-वृत्ति और पृथवता की नीति के कारण, राजाओं ने सद्भावना का वह कोष सर्वथा खाली कर दिया था, जो उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उन्हें प्राप्त था। जनकल्याण के प्रति उदासीनता, फिजूलखर्ची, और अच्छा एवं कुशल प्रशासन प्रदान करने में उनकी अफलता ने उनकी वह थोड़ी-बहुत लोकप्रियता भी समाप्त कर दी, जो पहले मिली हुई थी। अब भारतीय जनता रियासतों की आलोचना करने लगी। उसकी दृष्टि में रियासतें ऐसी अचल प्रशासनिक इकाइयां थीं, जिन्हें उनके शासक भारतीय राजनीति के प्रवाह के अवरुद्ध जल के रूप में सुरक्षित रखना चाहते थे।

ब्रिटिश भारत के समाचारपत्र राजाओं के रंग-ढंग की आलोचना और रियासतों के पिछड़ेपन की निन्दा करने लगे। उनके तीखे प्रहारों से राजाओं को बचाने के लिए, भारत सरकार ने प्रेस पर प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया। देसी रियासतों में तो कोई प्रेस था नहीं; इस लिए सब प्रतिबन्ध, जो कानून द्वारा लगाये गये, भारतीय प्रान्तों के समाचारपत्रों पर ही लगे। 1891 और 1910 में प्रेस कानून बने, जिनमें बाह्य आक्रमणों से राजाओं और उनकी सरकार को बचाने के लिए धारायें शामिल की गयीं। जब 1910 का प्रेस अधिनियम समाप्त हुआ, तो 1922 में, विधान सभा

में, एक पृथक् विधेयक लाया गया, जिसका उद्देश्य था—"पुस्तकों, समाचारपत्रों तथा अन्य अभिलेखों द्वारा किया जाने वाला ऐसी सामग्री का प्रसार रोकना जिसका लक्ष्य भारत के राजाओं और सरदारों अथवा रियासतों की सरकार या प्रशासन को बदनाम करना या उनके विरुद्ध घृणा फैलाना हो।" केन्द्रीय विधान सभा इस विधेयक से इतनी उत्तेजित हो गयी कि उसने इसे चार के बहुमत से रद्द कर दिया। इसे कानून का रूप देने के लिए, वाइसराय को भारत शासन अधिनियम 1919 (गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट 1919) की धारा 67 (ख) के द्वारा मिले हुए अपने विशेष प्रमाणन[1] अधिकार (स्पेशल पावर्स आफ सर्टिफिकेशन) का प्रयोग करना पड़ा।

रियासतें और मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार

जिस समय मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार क्रियान्वित हो रहे थे और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के ढांचों में बड़े-बड़े परिवर्तन हो रहे थे, उस समय बहुत बड़ी संख्या में रियासतें पूर्ण आत्मतुष्टि और मौज-मस्ती के साथ शासन चला रही थीं, क्योंकि उन्हें बाहरी खतरों और अन्दरूनी आन्दोलनों के विरुद्ध रक्षा का पूरा आश्वासन मिला हुआ था। अधिकांश प्रशासनों का ढांचा इतना पुराना और गया-बीता था कि कोई भी निष्पक्ष प्रेक्षक यही कहता कि बीसवीं शताब्दी अभी उनके लिए आयी ही नहीं। कुछ तो अपने निहित स्वार्थों के कारण और कुछ सर्वोच्च सत्ता की नीति से उत्पन्न सुरक्षा की अस्वस्थ भावना के कारण, राजाओं में सुधार की समस्त प्रेरणा नष्ट हो गयी थी और इस विषय में वे किसी की बात या विचार सुनने को भी तैयार न थे।

ब्रिटिश सरकार की नीति के प्रत्यक्ष फल के रूप में, रियासतें केवल भारतीय जीवन की मुख्य धारा से ही नहीं, एक दूसरी से भी, अलग रहीं। भारत सरकार राजाओं को मिलने और मिल कर सामान्य हित की बातों पर विचार करने की अनु-

---

[1] गवर्नर जनरल को रियासतों के सम्बन्ध में अपने विशेषाधिकार का प्रयोग, कुछ साल बाद, एक बार फिर, तब करना पड़ा, जब उसने जम्मू-कश्मीर सरकार के विरुद्ध किये जानेवाले अहरार विद्रोह को दबाने के लिए, पंजाब सरकार को मजबूत बनाने के वास्ते, एक अध्यादेश (आपात विधान) जारी किया था।

मति नहीं देती थी।[1] अतः उनमें सामान्य हित की समस्याओं पर विचार करने के लिए सामान्य दृष्टिकोण का अभाव था।

प्रत्येक रियासत को अपनी ही चिन्ता थी। उसे केवल अपने शासक के अधिकारों और विशेषाधिकारों तथा सर्वोच्च सत्ता की इच्छाओं का ध्यान रखना पड़ता था। जब कभी भारत-व्यापी समस्यायें विचार के लिए उपस्थित होतीं, तो रियासतें कभी यह नहीं सोचती थीं कि हम सब एक हैं। ब्रिटिश सरकार सरकारी मामलों में एक रियासत को दूसरी से पृथक् रखना चाहती थी। उसकी इस नीति के कारण, रियासतें न तो सम्मिलित कार्रवाई कर सकती थीं, और न सामूहिक रूप से विचार-विनिमय कर सकती थीं।

परन्तु समय के परिवर्तन से जो ज्वार उठा था, वह ऐसी एहतियाती कार्रवाइयों से नहीं रोका जा सकता था। आर्थिक विकास, प्रशासनिक आवश्यकताओं और राजनीतिक विचारधारा की प्रगति ने "रियासतों और उनके शासकों को भारत शासन के तत्त्व और सीमाओं की स्पष्ट परिभाषा कराने तथा सर्वोच्च सत्ता को ठोस एवं सुस्पष्ट नियमों में संहिताबद्ध कराने के प्रयत्न में एक हो जाने के लिए प्रेरित किया। इसके अलावा, भारत में साधनों के विकास तथा प्रशासन-व्यवस्था, संचार और व्यापारिक सुविधाओं के आधुनिकीकरण से विभिन्न रियासतों के सामने भी ऐसे मामलों में सहयोग की वैसी ही आवश्यकता प्रतीत होने लगी जैसी ब्रिटिश भारत में होती थी; और वे सामूहिक रूप से सभी रियासतों की ओर से उन मामलों के प्रति सामान्य रुख अपनाने के लिए परस्पर आकर्षित होने लगीं।"[2]

सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र में, विशाल पैमाने पर लोगों के मिलने-जुलने से इन प्रवृत्तियों को और भी अधिक बढ़ावा मिला। आन्तरिक संचार और परिवहन में तीव्रगति से सुधार हो जाने के कारण रियासत और रियासत तथा रियासतों और ब्रिटिश भारत के मध्य भौगोलिक पृथक्ता की दीवारें टूटने लगीं। सम्पूर्ण भारत में इन गतिविधियों तथा प्रान्तों में प्रशासनिक ढांचे के अन्तर्गत द्वैध शासन प्रारम्भ हो जाने से पैदा हुए नये दृष्टिकोण के कारण, ब्रिटिश भारत में "देसी रियासतों से हाथ

---

[1] पृथक्ता की नीति की व्यवस्था सन्धियों और समझौतों में की गयी थी। उनमें यह निर्देश था कि कोई भी शासक "सपरिषद गवर्नर-जनरल की पूर्व अनुमति के बिना न तो किसी दूसरी रियासत या शक्ति के मामलों में हस्तक्षेप करेगा और न किसी दूसरी रियासत या शक्ति के साथ संचार या पत्र-व्यवहार द्वारा सम्पर्क स्थापित करेगा।"

[2] "दी इंडियन स्टेट्स ऐंड इंडियन फेडरेशन"—पृ० 60

न लगाओ" की और रियासतों के लिए "ब्रिटिश भारतीय मामलों से हाथ न लगाओ" की पुरानी नीति अन्तिम सांसें लेने लगी।

आनेवाली घटनाओं के दवाव से ये प्रवृत्तियां शीघ्र ही सुदृढ़ नीति में वदलने लगीं। उन्नीसवीं शताव्दी के अन्त में भारत सरकार ने जो अकाल आयोग (फैमीन कमीशन) वनाया उसमें रियासतों को भी प्रतिनिधित्व दिया गया। अकाल की समस्या चारे और परिवहन साधनों को मिला कर ही सुलझाई जा सकती थी, और उसके लिए भी मिल जुल कर काम करने की आवश्यकता थी। इसके वाद "भारतीय जनता का अकाल न्यास" (इंडियन पीपुल्स फैमीन ट्रस्ट) वना। इसमें भी रियासतों को प्रतिनिधित्व मिला। कुछ ही साल वाद, स्थायी सिंचाई के लिए भारतीय नदियों की जलशक्ति के उपयोग की समस्या को हल करने के लिए, सिंचाई आयोग (ईरिगेशन कमीशन) वनाया गया। रियासतें अलग रह कर विशुद्ध स्थानीय नीति नहीं अपना सकती थीं; अतः इस आयोग में भी उनके प्रतिनिधि रखने पड़े। इन घटनाओं के तुरन्त वाद महामारी के रूप में प्लेग का आक्रमण हुआ, जिसका प्रकोप 1890 से 1910 तक कई वर्षो सम्पूर्ण भारत में व्याप्त रहा। इस महामारी ने रियासतों की प्रजा और ब्रिटिश भारत की जनता में कोई भेद न किया। इससे यह शिक्षा मिली कि महामारी-नियन्त्रण के उपाय तभी कारगर हो सकते हैं, जव वे सम्मिलित रूप से और समन्वित ढंग से किये जायें।

अन्त में, एक वात यह भी है कि, कुछ प्रगतिशील रियासतें मुद्रा, विनिमय, व्यापार और वाणिज्य सम्वन्धी नीति के वड़े प्रश्न में दिलचस्पी लेने लगी थीं। वे यह सोचने लगीं कि कुछ नीतियां ऐसी हैं, जो उन पर तथा उनकी प्रजा पर विभिन्न प्रकार से अप्रत्यक्ष प्रभाव डालती हैं, परन्तु उनके निर्माण में उनको शामिल नहीं किया जाता। इस प्रकार रियासतों ने "अपने आपको एक सम्मिलित हित और सामान्य दृष्टिकोण वाली संस्था के रूप में समझना शुरू कर दिया; और उनका अनुभव क्षेत्र भारतव्यापी समस्याओं पर ध्यान देने तथा यह वोध हो जाने के कारण विस्तृत हो गया कि भारतव्यापी नीतियां, भले ही आरम्भ में रियासतों के हितों पर उनकी प्रत्यक्ष प्रतिक्रिया दिखायी न पड़े, प्रायः कालान्तर में रियासतों के कल्याण के लिए महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती हैं।"[1]

मिन्टो-मार्ले सुधार (1909) केवल ब्रिटिश भारत में सांविधानिक परिवर्तनों

[1]वही—पृ० 83

से सम्बन्धित थे। 1909 के भारत शासन अधिनियम (गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, 1909) में देसी रियासतों और उनकी समस्याओं का जिक्र तक न था। मिन्टो-मार्ले सुधार मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधारों से, जो 10 वर्ष वाद आरम्भ हुए, भिन्न प्रकार के थे। इनका सम्वन्ध मुख्य रूप से केन्द्र और प्रान्तों में विधान परिषदों की स्थापना से था। रियासतों के शासकों और उनकी प्रजा ने अभी अखिल भारतीय रूप की कोई समस्या खड़ी न की थी। सुधारों का उद्देश्य भी रियासतों को स्वशासन का अधिकार देना या उन्हें भविष्य में कभी ब्रिटिश भारत के साथ मिलाना न था। इसलिए रियासतों के बारे में कोई सोचता ही न था।

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि कभी-कभी रियासतों के अलगाव को दूर करने और सामान्य हित की समस्याओं पर विचार करने के लिए उन्हें परस्पर मिलाने के प्रयत्न किये गये। परन्तु ये प्रयत्न तब तक सफल न हुए, जब तक मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार-कर्ताओं ने नरेन्द्रमण्डल की स्थापना और परस्पर विचार-विनिमय की नयी नीति प्रस्तुत न की। लार्ड कर्जन ने शासन करने वाले राजाओं की परिषद बनाने की एक योजना तैयार की थी, परन्तु वह कभी क्रियान्वित नहीं हुई। इसके बाद, लार्ड मिन्टो ने राजाओं की परामर्शदातृपरिषद बनाने के लिए एक प्रस्ताव तैयार किया। उसका भी वही हाल हुआ। लार्ड हार्डिंग और लार्ड चैम्सफोर्ड के वाइसराय-काल में अक्सर राजाओं के तदर्थ सम्मेलन हो जाया करते थे। अब यह सुझाव प्रस्तुत किया गया कि इन सम्मेलनों के स्थान पर एक स्थायी संस्था बनायी जाय, जो राजाओं को "अपनी भावनायें और इच्छायें सरकार को सूचित करने, अपने दृष्टिकोण का विस्तार करने और एक दूसरे के साथ तथा सरकार के साथ विचार विनिमय करने का अवसर दे।"[1]

जब मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार प्रकाशित हुए और केन्द्रीय विधानमण्डल के नव-निर्माण तथा नरेन्द्रमण्डल के उद्घाटन के अवसर पर उन सुधारों के सम्बन्ध में वाइसराय की घोषणायें प्रकाशित हुईं, तो पहली बार जनता का ध्यान इस बात की ओर गया कि भविष्य में कभी सारा देश एक प्रशासनिक इकाई बन सकता है, जिसकी घटक इकाइयां संघीय कड़ियों की शृंखला से बंधी रह सकती हैं। राजा लोग अपने निजी संगठन के विचार से तो प्रसन्न थे, पर वे भारतीय संघ के विचार से चिन्तित हो उठे। पार्थक्य की स्थिति में, उन्हें अपने राज्यक्षेत्र में, तथा उसमें रहनेवाली जनता पर, शासन सम्बन्धी असीमित अधिकारों तथा निरंकुश विशेषाधिकारों का उपयोग

[1] "दी स्टोरी आफ दी इन्टीग्रेशन आफ इंडियन स्टेट्स"—पृ० 15

करने के लिए, भारत में ब्रिटिश सत्ता के प्रति केवल अपनी स्वामिभक्ति घोषित करनी पड़ती थी। भारतीय संघ में उनकी यह सुखद स्थिति नहीं रह सकती थी। अतः उसके विचार से ही वे घबरा गये। वाइसराय, ड्यूक आफ कानाट और सम्राट् के समस्त आश्वासनों के बावजूद कि राजाओं के निर्बाध विशेषाधिकारों की रक्षा की जायगी, यह स्पष्ट था कि एक दिन देसी रियासतों को अखिल भारतीय इकाई का भाग बनना पड़ सकता है। राजनीतिक दृष्टि से जागृत और सुशासित भारतीय प्रान्तों के निकट सम्पर्क में आने से राजाओं को हानि ही हानि दीखती थी; लाभ कुछ नहीं दिखाई देता था। इस लिए बाद में, सर्वोच्च सत्ता की ओर से जो भी आश्वासन दिये गये, उसने राजाओं के सन्देहों को घटाने के बजाय और बढ़ाया।

तथ्य यह है कि 1920 और 1930 से आरम्भ होने वाले दशकों में घटनाओं का चक्र ही ऐसा चला, जिससे राजाओं का भय सत्य सिद्ध हो गया। यह सम्भव है कि कुछ राजा यह जानते हों कि एक गयी-बीती, पुरानी पद्धति को स्थायी बनाने की कोशिश करके वे असम्भव को सम्भव बनाने की आशा कर रहे हैं। फिर भी, स्वार्थ ने उन्हें अंधा कर दिया और वे अपनी तर्क-बुद्धि भी खो बैठे। उनमें से किसी में नेतृत्व करने की क्षमता या अकेले आगे बढ़ने की हिम्मत न थी। आश्वासनों के बल पर और अपने नये संगठन, नरेन्द्र मण्डल, के सहारे उन्होंने मिलकर धारा के विपरीत तैरने का निश्चय किया। नरेन्द्र मण्डल के मंच से उन्होंने धड़ाधड़ अपने भावोद्गार प्रकट करने शुरू कर दिये। अपने भाषणों तथा लम्बे-चौड़े दावों में वे कभी-कभी सीमा का उल्लंघन भी कर जाते थे। सम्पूर्णप्रभुत्व और स्वतन्त्र दर्जे की उनकी मांग ब्रिटिश वाइसरायों को भी बड़ी बेतुकी लगती थी। राजाओं में सबसे बड़े, निजाम हैदराबाद, की मांग के उत्तर में, लार्ड रीडिंग को, अपने 26 मार्च 1926 के पत्र में, बाध्य होकर सर्वोच्च सत्ता की सर्वोच्चता की स्पष्ट और जोरदार शब्दों में परिभाषा देनी पड़ी।[1]

---

[1]निजाम ने वाइसराय को लिखे गये अपने पत्र में बरार के सम्बन्ध में, जो मध्य प्रान्त का एक भाग था, अपने दावे का उल्लेख किया था। बरार के चार जिले, निजाम ने, 19 वीं शताब्दी में, हैदराबाद की रक्षा के लिए रखी गयी ब्रिटिश सैनिक टुकड़ी का खर्च चलाने के लिए, अंग्रेजों को दे दिये थे। कुछ समय से, निजाम और उसके प्रधान मन्त्री ने, इन जिलों पर अपना दावा दुहराते रहने की नीति अपना ली थी। निजाम ने अपने पत्र में अपने मामले को ब्रिटिश सरकार के सामने रखने और सीधे उसी से बात करने की इच्छा प्रकट की थी।

वाइसराय ने लिखा--"भारत में ब्रिटिश सम्राट् की प्रभुता सर्वोच्च है। इस लिए देसी रियासत का कोई शासक, ब्रिटिश सरकार के साथ बराबरी के अधार पर बात-चीत करने का न्यायतः दावा नहीं कर सकता।"

इस पत्र ने राजचक्र में खलबली पैदा कर दी। नरेन्द्र मण्डल के अध्यक्ष महाराजा पटियाला ने, नवम्बर 1926 में, राजाओं की ओर से एक वक्तव्य देते हुए कहा कि "वाइसराय-निजाम पत्रव्यवहार में कुछ उपलक्षित वाक्यांशों तथा प्रतिपादित सिद्धांतों को देख कर राजाओं को घोर चिन्ता हुई है।" वे असन्तुष्ट तो थे ही, अतः उन्होंने राजाओं और सर्वोच्च सत्ता के बीच सम्पूर्ण सम्बन्ध की निष्पक्ष जांच की मांग की। फलस्वरूप, दिसम्बर 1927 में, सर हारकोर्ट बटलर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी, जिसने 1929 में अपनी रिपोर्ट पेश की। (इससे पहले एक अध्याय में हम इस समिति की सिफारिशों का सारांश दे चुके हैं)। समिति ने राजाओं का सम्पूर्ण प्रभुता का दावा स्वीकार नहीं किया। उसने "सर्वोच्चता" की परिभाषा भी नहीं की; केवल इतना ही कहा कि "सर्वोच्च सत्ता सर्वोच्च रहनी चाहिये और उसे समय तथा रियासतों के प्रगतिशील विकास की बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार अपनी परिभाषा करते हुए अथवा अपने को ढालते हुए अपने उत्तरदायित्व को पूरा करना चाहिए।"

बटलर-समिति की रिपोर्ट का मुख्य विषय यही था। परन्तु अन्य विषयों में, मुख्य रूप से रियासतों और ब्रिटिश प्रान्तों के मध्य आर्थिक सम्बन्ध के विषय में, उसने रियासतों की ओर से किये गये कुछ दावे स्वीकार कर लिये। उसने यह दावा भी स्वीकार कर लिया कि किसी भी राजा को, उसकी राजी के बिना, ब्रिटिश भारत में किसी भारतीय विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी किसी भारतीय सरकार को न सौंपा जाय। जैसा कि वी० पी० मेनन ने कहा है, यहीं से उस नीति की नींव पड़ी, जिसने बाद के वर्षों में, देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत के बीच मजबूत खूंटा ठोक दिया।[1]

साइमन कमीशन की सिफारिशों और भारत सरकार द्वारा उनके सम्बन्ध में किये गये निर्णयों से राजाओं का सन्देह और भी पक्का हो गया। साइमन कमीशन का सुझाव था कि एक स्थायी परामर्शदात्री संस्था बनायी जाय, जिसका नाम विशाल भारत परिषद (काउंसिल फार ग्रेटर इंडिया) हो; इसमें ब्रिटिश भारत और रियासतों

[1] "दी स्टोरी आफ दी इन्टीग्रेशन आफ इंडियन स्टेटस्"—पृ० 23

दोनों के प्रतिनिधि रहें, और इसे उन विषयों पर, जो सामान्य हित के मामलों की सूची में आते हैं, विचार करने और निर्णय करने का अधिकार हो। इस प्रस्ताव में कोई नयी बात न थी। परन्तु राजाओं को तो भारत की भावी व्यवस्था के बारे में, चाहे वह राजनीतिक हो चाहे प्रशासनिक, कोई भी संकेत या सुझाव उसी प्रकार बिदका देता था, जिस प्रकार लाल कम्बल सांड़ को बिदका देता है। इसी कारण उन्होंने साइमन कमीशन की रिपोर्ट पर भारत सरकार की सिफारिशों को पसन्द नहीं किया। सरकार ने संपूर्ण भारत की तात्विक एकता पर जोर दिया था और यह आशा की थी कि भविष्य में कभी यह एकता कुछ सम्मिलित राजनीतिक संस्थाओं को जन्म देगी।

यद्यपि 1930 में, पहले गोल मेज सम्मेलन में, राजाओं ने एक अखिल भारतीय संघ बनाने का प्रस्ताव औपचारिक रूप से स्वीकार कर लिया था, फिर भी बाद की घटनाओं में तथा भारत एवं लन्दन में गोलमेज सम्मेलन में किये गये सम्मिलित विचार-विमर्श में उन्होंने असहयोग, स्वार्थ एवं देशभक्तिशून्यता का रुख अपनाया। भारत में भोजों तथा उत्सवों के अवसर पर, संघ के पक्ष में अपने भाषणों में शब्दाडम्बरपूर्ण भावोद्‌गार प्रकट करना राजाओं के लिए एक रिवाज सा बन गया था। परन्तु जब विस्तार से विचार होता था, तो वे शर्तें पेश कर देते थे और आश्वासन मांगा करते थे, जिससे प्रान्तों और रियासतों के बीच किसी प्रकार का मेल असम्भव हो जाता था।

संघीय विधानमण्डल के लिए राजाओं द्वारा अपने प्रतिनिधियों का कोटा मनोनीत करने के अपने अधिकार का आग्रह मुख्य बाधा सिद्ध हुआ, जिसके कारण नरेन्द्रमण्डल और कांग्रेस पार्टी के बीच बातचीत में कभी प्रगति नहीं हुई। भारत शासन अधिनियम 1935 (गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट 1935) के अनुसार, अवर सदन (लोअर हाउस) में, ब्रिटिश भारत के लिए 250 स्थान और रियासतों के लिए 125 स्थान तथा राज्य परिषद (काउंसिल आफ स्टेट्स) में, क्रमशः 156 और 104 स्थान नियत हुए। प्रान्तों के प्रतिनिधि चुने जाते और रियासतों के प्रतिनिधि सम्बन्धित रियासतों के शासकों द्वारा मनोनीत किये जाते। इसके अलावा, प्रान्तों पर संघीय सरकार का नियन्त्रण एक सा रहता, परन्तु रियासतों पर, संघ में शामिल होने के समय, अलग-अलग राजाओं द्वारा हस्ताक्षरित समझौते (इन्स्ट्रूमेंट आफ एक्सेशन) की शर्तों के अनुसार बदलता रहता।

इन सब रियायतों के बावजूद, जिनमें से कुछ प्रान्तों के लिए उचित थीं और कुछ अनुचित, रियासतों ने संघीय योजना का स्वागत नहीं किया। राजा लोग इस बात पर अड़े रहे कि अपनी प्रजा के अन्तिम भाग्य-निर्णायक वे ही हैं, तथा इस बात के भी

सर्वोत्तम निर्णता वे ही हैं कि प्रजा को कैसी सरकार चाहिए। उनके इस आचरण और कांग्रेस की प्रान्तों और रियासतों के बीच बराबरी की मांग में कोई समानता न थी। परन्तु यह आशा की जाती थी कि राजा लोग कम से कम सम्राट् के प्रतिनिधि की सलाह जरूर मान लेंगे, जो महीनों से रियासतों का भ्रमण कर रहा था और उन्हें संघ में शामिल होने के लिए मनाने तथा उनकी शंकायें दूर करने की कोशिश कर रहा था। अन्त में कोई राजा शामिल होने के लिए तैयार नहीं हुआ और योजना वापस लेनी पड़ी।

हमने भारत के राजाओं, सर्वोच्च सत्ता के साथ उनके सम्बन्धों, और दोनों के दावों तथा प्रति-दावों के विषय में बहुत-कुछ कहा है; परन्तु रियासतों में रहनेवाले लोगों के विषय में, जिनकी संख्या लगभग साढ़े सात करोड़ थी, अभी तक कुछ नहीं कहा। राजा या सर्वोच्च सत्ता द्वारा जनता की इच्छा का कभी कोई ध्यान नहीं रखा जाता था। राजा तो इस लिए ध्यान नहीं रखते थे कि वे अपनी ही शक्ति और अधिकार के मद में चूर रहते थे और प्रजा को स्वेच्छा से उसमें शामिल नहीं करना चाहते थे; और सर्वोच्च सत्ता इस लिए ध्यान नहीं रखती थी कि वह राजाओं की रियासतों को भारत-वासियों के राष्ट्रीय संघर्ष को रोकने के लिए प्रभावशाली अवरोध के रूप में खड़ा करना चाहती थी, तथा उन्हें भविष्य में ब्रिटिश कारोबार के लिए सुखप्रद शिकारगाह बनाना चाहती थी।

परन्तु रियासती लोगों की संख्या इतनी अधिक थी और वे ब्रिटिश भारत के अपने भाइयों से इतने अधिक निकट थे कि वे अधिकार-शक्ति के इस खेल में मूक दर्शक बने नहीं रह सकते थे। वे भारत राष्ट्रीय महासभा (इंडियन नेशनल कांग्रेस) की शरण में गये और महात्मा गांधी से, जो स्वयं एक देसी रियासत के रहने वाले थे, सहायता की प्रार्थना की। कांग्रेस को रियासती प्रजा से पूर्ण सहानुभूति थी, परन्तु वह सीधे-सीधे उसका पक्ष लेने में हिचकिचाती थी। अपने नागपुर अधिवेशन (1920) में कांग्रेस ने यह नीति निर्धारित की थी कि वह रियासतों के अन्दरूनी मामलों में कोई दखल न देगी। कुछ साल बाद, 1925 में, गुजरात राजनीतिक सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए, गांधी जी ने कहा—"जिस प्रकार देसी रियासतों और ब्रिटिश सरकार के पारस्परिक सम्बन्धों में कांग्रेस की आवाज का कोई प्रभाव नहीं हो सकता, उसी प्रकार देशी रियासतों और उसकी प्रजा के भी पारस्परिक सम्बन्धों में उसके हस्तक्षेप का कोई प्रभाव नहीं हो सकता।" गांधी जी की धारणा यह थी कि यदि ब्रिटिश भारत को स्वराज्य मिल गया और उसमें एक ओर राजाओं को तथा दूसरी ओर ब्रिटिश

सरकार को प्रभावित करने की शक्ति आ गयी, तो सब ठीक हो जायेगा। रियासतों में ऐसा कोई संगठन भी न था, जिससे लोकहित के लिए लड़ने की आशा की जाती तथा जो कांग्रेस से उचित सम्पर्क बनाये रख सकता।

रियासती प्रजा को इस विषय में तो कभी कोई सन्देह नहीं था कि भारत के राष्ट्रीय नेताओं तथा कांग्रेस की सहानुभूति किधर है; किन्तु कांग्रेस के औपचारिक एवं अधिकृत रुख ने उसका उत्साह भंग कर दिया। निराश होकर तथा अपनेसे सहानुभूति रखनेवाले कांग्रेसियों के दबाव से, उसने 1927 में अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद (आल इंडिया स्टेट्स पीपुल्स कान्फ्रेंस) नामक अपना एक निजी संगठन बनाया। गांधी जी ने उसे आशीर्वाद दिया और ब्रिटिश भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने उसका समर्थन किया। राजा और ब्रिटिश सरकार उसे कांग्रेस की ही एक रियासती शाखा समझने लगे। पूना में उसकी स्थापना होते ही सब राजाओं ने उसे बहिष्कृत घोषित कर दिया, जिसके कारण, 1945 तक, उसे रियासती क्षेत्र से बाहर, ब्रिटिश भारत के प्रान्तों में विभिन्न स्थानों पर अपने अधिवेशन करने पड़े और रोज-मर्रा के काम करने पड़े।

1928-29 में जब बटलर समिति अपनी रिपोर्ट तैयार करने के लिए विभिन्न स्थानों का दौरा कर रही थी, तो रियासती प्रजा परिषद ने अपनी सुनवाई के लिए उससे प्रार्थना की। परन्तु वह प्रार्थना यह तर्क दे कर ठुकरा दी गयी कि ऐसा करना समिति के विचार्य विषयों से बाहर की चीज है। अतः परिषद को, बटलर-समिति को एक ज्ञापन भेज कर सन्तोष करना पड़ा।

परन्तु 1928 में, सर्वदलीय सम्मेलन (आल पार्टीज कान्फ्रेंस) ने, औपनिवेशिक स्वराज्य सम्बन्धी संविधान तैयार करने के लिए जो नेहरू समिति बनायी, उसने "ब्रिटिश भारत और रियासतों की जनता की ऐतिहासिक, धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक समानताओं" पर पूरा ध्यान दिया। रियासतों की समस्या का उल्लेख करते हुए, नेहरू समिति ने कहा—

> "यह अकल्पनीय है कि रियासतों के लोग, जिनके अन्दर महत्त्वाकांक्षाओं और उत्कट इच्छाओं की वैसी ही ज्वाला जल रही है, जैसी ब्रिटिश भारत के लोगों में, मौजूदा परिस्थितियों को सदा शान्ति से सहते रहेंगे; अथवा ब्रिटिश भारत के लोग, जो परिवार, जाति और धर्म के सुदृढ़ बन्धनों से, एक कल्पित रेखा के उस पार बसे हुए अपने भाइयों से बंधे हुए हैं, कभी उनका साथ देंगे ही नहीं।"

फिर भी, भारत के राष्ट्र नेताओं ने चाहे कुछ भी सोचा या कहा तथा रियासती प्रजा परिषद ने एक प्रबुद्ध पश्चिमी राष्ट्र के प्रतिनिधि का ध्यान अपनी दुर्दशा की ओर आकृष्ट करने के लिए चाहे कुछ भी किया, यह सही है कि 1920 से 1935 तक के अभागे वर्षों में रियासती प्रजा की कोई पूछ नहीं हुई। न किसी ने उसकी बात सुनी और न किसी ने उसे सहारा दिया; सरकारी मान्यता की तो बात ही क्या ? नरेन्द्र मण्डल, बटलर समिति, साइमन कमीशन, गोलमेज सम्मेलन, सम्मिलित संसदीय समितियां ये सब आये और चले गये; किसी ने यह तक नहीं पूछा कि, आखिर उन साढ़े सात करोड़ लोगों के विचार क्या हैं, जो किसी दुर्भाग्य से रियासतों में जन्मे हैं। नागरिक अधिकारों तथा उदार प्रशासन के लिये चलाया जानेवाला उनका आन्दोलन प्रान्तों में ब्रिटिश प्रशासन के प्रति उनकी श्रद्धा का ही सूचक था; परन्तु यह श्रद्धा भी भारत में ब्रिटिश सत्ता को प्रभावित न कर सकी। वाइसराय और राजनीतिक विभाग के अधिकारी यथार्थवादी थे। वे जानते थे कि मीठे और चापलूसी के शब्द शत्रुपक्ष के भी मूल्यहीन होते हैं।

विरोध आन्दोलन का सूत्रपात

जब भारत में 1857 का महान् विद्रोह ब्रिटिश सत्ता द्वारा संतोषजनक ढंग से दबा दिया गया, तो भारत में तथा लन्दन में सरकारी क्षेत्रों में, यह सामान्य धारणा पैदा हुई कि यदि भारतीय राजा, विशेष रूप से निजाम हैदराबाद और पंजाब के सिख राजा सत्यनिष्ठा से सहायता न देते तो उस लोक-विद्रोह का परिणाम भिन्न ही होता। इसी लिए, ब्रिटिश सरकार ने यह घोषणा की कि राजाओं के अधिकार और विशेषाधिकार सुरक्षित रहेंगे तथा यह आश्वासन दिया कि भविष्य में कोई रियासत अंग्रेजी राज्य में नहीं मिलायी जायगी।

राजा लोग सामान्यतया अंग्रेजों की नीति के प्रशंसक बन गये और राजभक्ति तथा सुरक्षा की भावना से उनकी ओर खिचने लगे। परन्तु कुछ ऐसे भी राजा थे, जो घटनाचक्र के इस मोड़ से अपने मन में खुश न थे। उदाहरणार्थ, दक्षिण की कोल्हापुर, सांगली, मिरज आदि रियासतों ने भारत पर विदेशी शक्ति के प्रभुत्व को अभी तक पूर्णतया स्वीकार नहीं किया था। लार्ड डलहौजी ने दक्षिण की कुछ मरहठा रियासतों को अंग्रेजी राज्य में मिला लिया था; इस लिये शेष मरहठा रियासतें अंग्रेजों से घृणा करने लगी थीं, यद्यपि उनके प्रति राजभक्ति प्रकट करने में वे भी उतनी ही मुखर थीं, जितनी देश के अन्य भागों की रियासतें।

राजा राममोहन राय के साथ जो सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक जागृति आरम्भ हुई थी, उसने कुछ राजाओं और उनकी प्रजाओं की विचारधारा को प्रभावित कर दिया था। इनमें से कुछ राजा बंगाल विभाजन के समय के क्रान्तिकारियों से अन्दरूनी सहानुभूति रखते थे। यही कारण है कि उस समय के क्रान्तिकारी और सुधारक तथा रियासतों के लोग राजाओं को आदर और भक्ति की दृष्टि से देखने लगे थे। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, बाल गंगाधर तिलक, अरविन्द घोष, श्याम कृष्णजी वर्मा आदि सामाजिक और धार्मिक नेता, सामान्यतया जनोद्धार से सम्बन्धित अपने क्रियाकलाप को आगे बढ़ाने के लिए भारतीय राजाओं से सहायता और सहयोग प्राप्त करने के लिए उद्यत हुए। इसी प्रकार, वासुदेव बलवन्त फड़के, खंडवा के राव गोपाल सिंह, जयपुर के अर्जुन लाल सेठी और कोटा के केसरी सिंह आदि क्रान्तिकारियों ने भी, अपने राजनीतिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए, राजाओं से सहायता प्राप्त करने की कोशिश की।

इसी अवधि में, कुछ रियासतों में, जनता के कष्टों को दूर करने के लिए, गैर-सरकारी संगठन भी स्थापित हुए। कोल्हापुर में लोकसभा और उदयपुर में स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा इसी ढंग की संस्थायें थीं। अन्य रियासतों में भी ऐसी संस्थायें थीं। राजा लोग इन्हें घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे। राजाओं की विवशता और ब्रिटिश सरकार द्वारा दबाये जाने के कारण, प्रजा भी उनसे सहानुभूति रखने लगी। उदाहरण के लिए पूना की सार्वजनिक सभा, जो 1817 में स्थापित हुई थी और अवध का पन्त प्रतिनिधि जिसका अध्यक्ष चुना गया था, उस समय राजाओं का साथ दिया करती थी, जब वे अंग्रेजों के कोप भाजन बन जाते थे।

आरम्भ में जनता भारतीय राजाओं का कितना आदर करती थी इसका एक आदर्श उदाहरण मल्हर राव गायकवाड़ का अभियोग है। सार्वजनिक सभा ने गायकवाड़ के मामले पर जूरी द्वारा विचार किये जाने के लिये आन्दोलन किया और सफलता प्राप्त की। उसने गायकवाड़ के बचाव के लिए धन एकत्र करने में भी तत्परता दिखाई। दूसरा उदाहरण, झालावाड़ के राजा भवानी सिंह का है। उन्हें जनता की सहानुभूति और सहायता इसलिए मिली कि अंग्रेजों ने उनका निर्वासन कर दिया था।

परन्तु ब्रिटिश सरकार रियासतों की जनता के लिए बहुत चालाक थी। वह राजाओं के विशेषाधिकारों पर जोर देती रहती थी और यह जाहिर करती रहती थी कि भारत में केवल ब्रिटिश शक्ति का फौलादी पंजा ही उनकी रक्षा कर सकता है। इसके फलस्वरूप, राजा सर्वोच्च सत्ता के अधिकाधिक निकट आने लगे और उनके तथा उनकी प्रजा के बीच की खाईं चौड़ी होने लगी। अंग्रेजों की इस चतुरतापूर्ण नीति ने दोनों को एक दूसरे से विमुख कर दिया। अब राजाओं को मालूम होने लगा कि, अपने विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए वे अंग्रेजों पर कितने अधिक निर्भर हैं। सर्वोच्च सत्ता ने राजाओं को, पहले सनदें दे कर, और फिर 1890 में उनके आन्तरिक प्रशासन में सक्रिय हस्तक्षेप का अधिकार त्याग कर, और भी अधिक अंग्रेजों के पक्ष में कर लिया। इस प्रकार राजा लोग अंग्रेजों के पक्के समर्थक बन गये और विदेशी शासकों द्वारा प्रतिक्रान्ति की शक्ति के रूप में इस्तैमाल किये जाने के लिए तैयार हो गये।

परन्तु यह न भूलना चाहिए कि यह परिवर्तन धीरे-धीरे हुआ। परिवर्तन-काल में रियासती प्रजा का रुख ब्रिटिश-विरोधी अवश्य था, परन्तु अपने राजा के प्रति वह वफादार ही बनी रही। कुछ मामलों में तो उसने राजाओं को पूर्ण सहयोग तक प्रदान किया। अंग्रेजों की भेदनीति सफल होते ही राजाओं और उनकी प्रजा के बीच सदा

के लिए दरार पड़ गयी। इस दरार की महत्ता इस बात से जानी जा सकती है, कि जो संघर्ष सर्वोच्च सत्ता के विरुद्ध छेड़ा जाना चाहिए था, वह अब राजाओं के विरुद्ध छेड़ दिया गया। संघर्ष के स्वरूप और दिशा में यह परिवर्तन प्रथम विश्व युद्ध के आरम्भ काल तक स्पष्ट दिखायी देने लगा।

सर्वोच्च सत्ता द्वारा पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन मिल जाने के कारण तथा अपनी शक्ति और सम्पत्ति के मद में चूर होने के कारण, राजा लोग शीघ्र ही जन-आन्दोलनों और संगठनों को कुचलने में एक दूसरे से होड़ करने लगे। इधर रियासती जनता, सहायता के लिए, ब्रिटिश भारत के राजनीतिक नेताओं की ओर देखने लगी। कोल्हापुर दरबार ने लोक सभा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। शिवाजी-उत्सव मनाने पर भी रोक लगा दी। उदयपुर में, महाराणा प्रताप जयन्ती मनाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया; म्युनिसिपल कमेटियों के अधिकारों पर रोक लगा दी; और कर्मचारियों एवं श्रमिकों के लिए व्यक्तियों द्वारा चलायी जाने वाली शिक्षा-संस्थायें तुरन्त बन्द करवा दीं। तिलक द्वारा चलाया गया स्वदेशी आन्दोलन भी घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा और कुछ दरबारों में कर्मचारियों द्वारा विदेशी वस्त्र के इस्तेमाल के लिए खुला प्रोत्साहन दिया जाने लगा।

अंग्रेजों के इशारे पर दमन की नीति अपना कर देशी रियासतों के शासक अपनी प्रजा का समर्थन खो बैठे और देश भर में व्याप्त राजनीतिक विक्षोभ के उफान के विरुद्ध सन्तुलन स्थापित करने के लिए स्वयं अंग्रेजों के हाथों में खेलने लगे। इससे रियासती प्रजा की आंखें खुल गयीं और वह उत्तेजित हो उठी।

पहले रियासती प्रजा के लोग राजाओं को अपने स्वाभाविक नेता समझा करते थे और उनके पक्ष में आन्दोलन किया करते थे। परन्तु अब बाध्य होकर उन्हें यह मानना पड़ा कि राजाओं के प्रति उनके कोमल भाव ठीक न थे, तथा नागरिक स्वतन्त्रता और रियासती प्रशासन-सुधार के लिए उन्हें उनसे लड़ना पड़ेगा। आन्दोलन के अधिकार के लिए, लोगों के लड़ने के निश्चय और राजाओं द्वारा उस अधिकार-संघर्ष के क्रूरता-पूर्ण दमन का फल यह हुआ कि रियासतों में राष्ट्रीय आन्दोलन छिप कर होने लगा।

ब्रिटिश भारत में कांग्रेस के आन्दोलन में आये नये मोड़ और महात्मा गांधी के उसके सर्वोच्च नेता के रूप में प्रकट होने का रियासती प्रजा के आन्दोलन पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। दरबारों के दमनकारी और आतंकपूर्ण शासन के बावजूद, रियासती प्रजा के लोगों ने अब अपने ही पैरों पर खड़े होने का निश्चय किया।

उन्होंने सेवा समितियां, हितकारिणी सभायें, रात्रिविद्यालय, वाचनालय और चल पुस्तकालय स्थापित करके अपना काम शुरू किया। समय-समय पर, पक्षपात, अनुचित नियुक्तियों और बर्खास्तगियों, दोषपूर्ण न्याय-प्रशासन, आपत्तिजनक कानूनों के निर्माण के कारण तथा कभी-कभी राजाओं की विदेशों की सामुद्रिक यात्राओं के कारण, जनता में फैले व्यापक असन्तोष से लाभ उठाने का प्रयत्न किया जाता था। राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन और उत्पीड़नकारी कानूनों के विरुद्ध जनमत जागृत करने के लिए हर अवसर से लाभ उठाया जाता था।

ये संस्थायें राजनीतिक कार्यों की अपेक्षा सामाजिक कार्यों पर अधिक ध्यान देती थीं, और सर्वथा निर्दोष थीं। परन्तु इन पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। तब रियासती लोगों ने रियासतों के बाहर ब्रिटिश भारत में इनकी स्थापना की और वहीं से प्रबल प्रचार आन्दोलन शुरू किया। बम्बई, अजमेर, दिल्ली, लाहौर, मद्रास और पूना शक्तिशाली केन्द्र बन गये, जहां से वे नागरिक अधिकारों की मांग करते हुए, रियासती प्रशासन की स्वेच्छाचारिता का पर्दाफाश करते हुए तथा अपने शासकों की फिजूलखर्ची की आदतों की निन्दा करते हुए, खुले तौर पर और दृढ़ता के साथ अपनी शिकायतें व्यक्त करते थे।

इसी समय रियासती प्रजा ने अपनी-अपनी रियासत में प्रजामण्डल बनाये, जिनके लक्ष्य और उद्देश्य स्पष्ट रूप से राजनीतिक थे। सम्भवतः बड़ौदा सबसे पहली, रियासत थी, जहां प्रजामण्डल बना। शीघ्र ही काठियावाड़ में भावनगर, जूनागढ़, राजकोट, गोंडल आदि रियासतों में और राजपूताना में जोधपुर, जयपुर, बीकानेर, अलवर, उदयपुर तथा अन्य रियासतों ने उसका अनुकरण किया।

प्रजामण्डलों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए पहले रियासतों के अन्दर ही अधिवेशन और सम्मेलन करने शुरू किये। परन्तु जब वहां उन पर रोक लगा दी गयी तो रियासतों के बाहर दूसरे स्थानों पर करने शुरू कर दिये। वे सम्मेलन प्रायः ब्रिटिश प्रान्तों के राजनीतिक नेताओं को भी आकर्षित कर लेते थे। कुछ समय तक, इन तदर्थ सम्मेलनों ने, रियासती जनता की शिकायतें अभिव्यक्त करने के लिए, एक सार्वजनिक मंच का काम दिया। इस बात में वे बड़े सौभाग्यशाली थे कि अपने असन्तोष के स्वरूप और कारण के बारे में श्रोताओं को विश्वस्त करने के लिए उन्हें कभी अधिक प्रयत्न नहीं करना पड़ता था। कारण, अपने निरंकुश और स्वेच्छाचारी शासन, अयोग्य प्रशासन, और घृणाजनक फिजूलखर्ची से, राजाओं ने अपनी प्रजा को इतना

अधिक विमुख कर दिया था कि लोग राजाओं की निन्दा करनेवालों की बात सुनने के लिए सदा तैयार रहते थे।[1]

इस प्रकार रियासती जनता का आन्दोलन जोर पकड़ता गया। यद्यपि वे नेता जो राजनीतिक सम्मेलनों का आयोजन किया करते थे, उन कष्टों के लिए, जो उन्होंने सहे और उन बलिदानों के लिए, जो उन्होंने किए, पूर्ण प्रशंसा के पात्र थे, फिर भी, इस बारे में दो रायें नहीं हो सकतीं कि आन्दोलन मुख्य रूप से कुछ राजाओं के कुकृत्यों पर फूल-फल रहा था। वे अपने विरोधियों के सामने अपनी उच्छृंखलता और अत्याचार के ऐसे जाज्वल्यमान उदाहरण प्रस्तुत करते थे कि कोई भी बुद्धिमान् मनुष्य रियासती जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट किये बिना नहीं रह सकता था। यह एक ऐतिहासिक महत्त्व की बात है कि यदि राजा लोग अपनी शक्ति का घोर दुरुपयोग और अपने अधिकार का असीम प्रदर्शन न करते, तो रियासती जनता का आन्दोलन धीरे-धीरे स्वयमेव शान्त हो जाता, विशेष रूप से इसलिए, कि आरम्भ में कांग्रेस रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप न करने तथा अलग रहने के लिए उत्सुक थी।

1920 से आरम्भ होने वाले दशक के पिछले भाग में नरेन्द्रमण्डल के अध्यक्ष महाराजा पटियाला का ही उदाहरण लीजिये। वह अपने भोगविलास, हरम और स्वेच्छाचारी शासन के लिए कुख्यात था। उसने अगणित विवाहित और अविवाहित स्त्रियों का अपहरण कराया था। एक विवाहित स्त्री के अपहरण के मामले में तो उसे स्त्री के पति को उसके मूल्य के रूप में 20 हजार रुपये देने पड़े थे।

भारत सरकार के राजनीतिक विभाग के अधिकारियों ने न केवल इस अपराध को अनसुना कर दिया, बल्कि पीड़ित पति द्वारा "मूल्य" स्वीकार करने की भी स्पष्ट निन्दा की। महाराजा ने व्यक्ति-स्तर पर व्यभिचार में, और रियासती स्तर पर कुशासन में, बिलकुल नये कीर्तिमान स्थापित किये थे: उसका हरम किसी भी मुगल सम्राट् के हरम से बड़ा था। अपनी धन-शक्ति के प्रदर्शन के अलावा, महाराजा पटियाला उन सभी अपराधों का अपराधी था, जो एक कलुषित और भ्रष्ट रुचिवाले व्यक्ति द्वारा किये जा सकते हैं।

---

[1]अनेक मामलों में, विदेशी प्रेक्षक, जिनमें भारतीय असैनिक सेवा (इंडियन सिविल सर्विस) के कुछ अंग्रेज भी थे, कुछ देसी रियासतों के प्रशासन की खिल्ली उड़ाया करते थे और खुले आम निन्दा करते थे। इंडियन सिविल सर्विस के एक सेवानिवृत्त सदस्य ग्विन (Gwynn) ने राजवर्ग को बिना किसी हिचकिचाहट के "अक्षम्य अपव्ययी वर्ग" की संज्ञा दे डाली।

परन्तु महाराजा पटियाला कोई अपवाद न था। सच तो यह है कि, जो राजा उसे 'महावीर' समझते थे और अपने वर्ग का सच्चा नेता मानते थे, वे उसके उदाहरण से प्रेरणा प्राप्त किया करते थे। फिर भी, यहां एक और दिलचस्प उदाहरण पश्चिम भारत में गोंडल का दिया जा सकता है। 1923 में, धोराजी के नागरिकों ने महाराजा को एक हस्ताक्षरित प्रार्थनापत्र दिया, जिसमें एक न्याय-अधिकारी की रिश्वतखोरी और दुराचार के मामलों का हवाला था। जब उनके प्रार्थनापत्र पर कोई कार्रवाई न की गयी, तो उन्होंने एक सार्वजनिक सभा की। इसके बाद, महाराजा ने उस अधिकारी से अपनी सफाई पेश करने को कहा। इस निर्णय के प्रति अधिकारी की प्रतिक्रिया चौंकानेवाली थी। उसने उन सात नेताओं के विरुद्ध कानूनी कार्रवाई शुरू कर दी, जिनको वह अपने खिलाफ आन्दोलन का मूल प्रवर्तक समझता था। यद्यपि वह अधिकारी जल्दी ही हृदयरोग से पीड़ित होकर मर गया; पर उसके द्वारा नागरिकों के विरुद्ध चलाये गये झूठे मुकदमे चलते ही रहे, और सभी अभियुक्तों को सात-सात साल की सख्त सजा का हुक्म सुना दिया गया। लगभग सभी अभियुक्त गोंडल की जेल में सड़ते रहे; जेल क्या थी––"जिन्दों के लिये कब्र" थी। इसके अलावा भी ऐसे ही और असंख्य उदाहरण हैं, जो अलवर, बजना, नवानगर, कच्छ, लोहारू, बीकानेर, जोधपुर, तथा अन्य अनेक रियासतों के, जिनमें सबसे बड़ी, हैदराबाद और कश्मीर भी शामिल हैं, शासकों से सम्बन्धित हैं।

जागृति के नये वातावरण ने रियासतों में रहने वाली जनता के बहुत बड़े भाग को, वहां की अव्यवस्था और पिछड़ेपन की हालत के प्रति भावुक बना दिया। प्रजा-मण्डल और अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद रियासती जनता को उत्साहित करते रहते थे, जिससे कि वह उसका विरोध कर सके और अच्छे प्रशासन की मांग कर सके। प्रत्यक्ष उत्पीड़न और कुशासन के मामलों में, ये संगठन कभी-कभी अपने पक्ष में जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए तथा जाँच कराने के उद्देश्य से जांच-समितियां भी नियुक्त करते थे। इन समितियों ने नवानगर (1928), ध्रांगध्रा (1930), झाबुआ (1936), पटियाला (1939), टेहरी-गढ़वाल (1947) तथा अन्य कई रियासतों के प्रशासनों के जो रहस्योद्घाटन किये, वे इतने चौंकानेवाले थे कि उनकी छपी हुई रिपोर्टें हाथोंहाथ बिक गयीं। इस प्रकार की छपी हुई पुस्तिकाओं और पत्रकों की मांग भी सदा अधिक रहती थी। जब समाचारपत्र उनको ज्यों का त्यों प्रकाशित करने में असमर्थ रहते थे, तो जनता में हस्तवितरण से ही व्यापक प्रचार हो जाता था।

महाराजा पटियाला के कुकृत्यों और उसकी प्रजा के उत्पीड़नों के बारे में, रियासती

प्रजा परिषद द्वारा प्रकाशित एक अधिकृत रिपोर्ट, यहां विशेष रूप से उल्लेखयोग्य है। इस मामले में दो जांच-समितियों ने सामग्री एकत्र की थी और साक्ष्य का संकलन किया था। जिस समिति ने रिपोर्ट तैयार की और प्रकाशित की, उसमें एन० वी० गाडगिल, मूलराज करसनदास और बलवन्तराय मेहता थे। रिपोर्ट का शीर्षक था "पटियाला का अभियोगपत्र" ("इंडिक्टमेंट आफ पटियाला") जो बिलकुल सही था। यद्यपि उसका मूल्य 5 रुपये था, फिर भी वह इतनी तेजी से बिकी कि मांग की पूर्ति करना कठिन हो गया। जांच समिति ने जो अपराध लगाये, उनकी एक झलक यहां दी जा रही है। ये सभी अपराध जांच करने पर सही पाये गये। रिपोर्ट में कहा गया--

"'पटियाला अभियोगपत्र' में बारह मुख्य अपराधों का समावेश है। नीचे हम प्रत्येक अपराध के विवरण का सारांश दे रहे हैं, जिससे कि समस्त मौखिक और लिखित साक्ष्य समझ में आ सके और उसका मूल्यांकन किया जा सके।

"(1) लालसिंह की हत्या--प्रार्थनापत्र में यह आरोप लगाया गया था कि महाराजा के इशारे पर सरदार लालसिंह नामक व्यक्ति की हत्या इस लिए कर दी गयी, कि उसने अपनी पत्नी, दिलीप कौर, को तलाक देने से इन्कार कर दिया था। समिति ने पाया कि इस विश्वास के लिए पर्याप्त प्रमाण हैं कि सरदार लालसिंह की हत्या, किसी घमदुर सिंह ने, महाराजा की कृपा प्राप्त करने के लिए, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्राप्त आदेश पर की थी।

"(2) यह आरोप लगाया गया था कि महाराजा नाभा के विरुद्ध मनगढ़न्त सबूत तैयार करने के लिए, महाराजा पटियाला ने, पटियाला रियासत में बहादुरगढ़ के किले में, बम बनाने का कारखाना स्थापित किया था और किसी डा० बख़्शीस सिंह को उसका निरीक्षण करने के लिए नियुक्त किया था। समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि यह आरोप पहली दृष्टि में ही प्रमाणित हो गया; बहादुरगढ़ में जरूर एक बम का कारखाना स्थापित किया गया था।

"(3) यह अरोप लगाया गया था कि महाराजा के आदेश से और उसी की मौजूदगी में, डा० बख़्शीस सिंह की पत्नी बचित्तर कौर की हत्या कर दी गयी और उसके पुत्र को हवालात में बन्द कर दिया गया तथा उसे पिता को वापस नहीं किया गया। समिति ने पाया कि पटियाला दरबार बचित्तर कौर और उसकी पुत्री को

गायब करने के लिए दोषी है और महाराजा स्वयं उसके पुत्र को गैर-कानूनी ढंग से हवालात में बन्द रखने के लिए उत्तरदायी है।

"(4) यह आरोप लगाया गया था कि महाराजा पटियाला ने एक सरदार अमरसिंह की पत्नी अमरकौर को अपने कब्जे में ले लिया, उसे अपने महल में रखा और अमर सिंह को झूठा चालान कर लगातार परेशान किया। समिति ने इस आरोप को प्रमाणित हुआ पाया।

"(5) सरदार हरचन्द सिंह जैजी की सम्पत्ति की जब्ती, गिरफ्तारी और सजा—यह आरोप लगाया गया था कि सरदार हरचन्द सिंह ने अपनी पत्नी को राजमहल में भेजने से इन्कार कर दिया था, जिससे उसकी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी और उसे बिना मुकदमा चलाये नजरबन्द कर दिया गया। समिति ने यह सारा आरोप सही और प्रमाणित पाया।

"(6) प्रार्थनापत्र में यह आरोप लगाया गया था कि पटियाला पुलिस ने फौजदारी के झूठे मुकदमे चलाये, और इसके कुछ उदाहरण भी दिये गये थे। समिति के विचार से यह आरोप भली भांति प्रमाणित हो गया।

"(7) अमानुषिक यन्त्रणायें, गैर-कानूनी गिरफ्तारियां और सजायें तथा सम्पत्ति की गैर-कानूनी जब्ती—यह आरोप था कि पटियाला के बहुत से नागरिक, जो एक सुविख्यात सिख नेता, सरदार खड्ग सिंह, से मिलना चाहते थे, पटियाला की पुलिस द्वारा गिरफ्तार कर लिये गये और जेल भेज दिये गये, तथा उनकी सम्पत्तियां जब्त कर ली गयीं। समिति ने इस आरोप को सही पाया।

"(8) महाराजा के शिकार के दुष्परिणाम—यह आरोप लगाया गया था कि महाराजा जब शिकार को जाता था तो किसानों से जबरदस्ती काम लिया करता था और खाने-पीने की चीजों का मूल्य भी नहीं देता था। समिति ने इन आरोपों को सही और प्रमाणित पाया।

"(9) अत्याचार और बेगार—यह आरोप लगाया गया था कि सेना के कूच और रियासती अधिकारियों की यात्रा के समय मनुष्यों, पशुओं और खाद्य-सामग्री की बेगार ली जाती थी। समिति ने इस आरोप को भली-भांति प्रमाणित पाया।

"(10) युद्ध-ऋण न लौटाने का भी आरोप था। समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि कुछ मामलों में युद्ध-ऋण नहीं लौटाया गया था।

"(11) मनमाने ढंग से कर निर्धारित करना, नये कर लगाना तथा अन्य मामले—समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि महाराजा सब प्रकार के कर मनमाने ढंग से लगाता

था और भूराजस्व राजस्व विभाग की इच्छा के अनुसार बढ़ा दिया गया था।

"(12) सार्वजनिक धन का गबन--समिति विश्वास करती है कि महाराजा ने सार्वजनिक निधि के रूप में धन की बहुत बड़ी राशि एकत्र की; परन्तु उसने यह विवरण नहीं दिया कि कितना धन एकत्र हुआ और वह किस काम में लगाया गया।"

रियासती प्रजा परिषद द्वारा कश्मीर, अलवर, देवास, उड़ीसा की रियासतों आदि के सम्बन्ध में की गयी जांचों की रिपोर्टें भी घोर लापरवाही, फिजूलखर्ची और प्रजा पर किये गये अत्याचारों तथा सनसनी पैदा करने की दृष्टि से उतनी ही मनोरंजक और उतनी ही महत्त्वपूर्ण थीं। राज वर्ग उस परम्परागत सम्मान को खो चुका था, जो प्रजा से उसे मिला करता था। सभी स्तरों पर--राजनीतिक आन्दोलनकारियों द्वारा, ब्रिटिश भारत के विधायकों द्वारा, तथा भारत और इंगलैंड के प्रबुद्ध राजमर्मज्ञों द्वारा--राजाओं की सार्वजनिक रूप से आलोचना होती थी। वाइसराय भी किसी अवसर पर उन्हें झिड़की और सलाह देने में न चूकता था।

पीछे दृष्टि डालने से कुछ ऐसे तथ्य सामने आते हैं, जिन पर विचार करना, रियासती समस्या का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने के लिए तथा विरोध-आन्दोलन का सही मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक हो जाता है। यद्यपि राजा लोग अमितव्ययी थे, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि उनमें से अधिकांश, प्रायः शिक्षा के प्रसार, ललित कला की उन्नति, भारतीय संस्कृति, पुरातत्त्व की वस्तुओं तथा राष्ट्रीय स्मारकों आदि के संरक्षण जैसे कुछ राष्ट्र-निर्माण के कार्यों के लिए की जाने वाली अपीलों पर उदारता-पूर्वक धन देते थे। जब कभी ब्रिटिश भारत के नेता रियासतों से बाहर सार्वजनिक संस्थाओं की स्थापना के लिए उनसे ऐसी अपीलें करते थे, तो वे उन्हें अपनी उदारता का परिचय देते थे। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय और अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अधिकतर राजाओं की दानशीलता के ही फल हैं। इसी प्रकार, अन्य अखिल भारतीय शैक्षिक एवं शैल्पिक संस्थाओं की सहायता के लिए उन्होंने धर्मदाय बनाये थे। कला को प्रोत्साहन देने के मामले में, आज भी कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि यदि राजा लोग भारत के शास्त्रीय संगीत, नृत्य, साहित्य, चित्रकला, वास्तुकला आदि को संरक्षण न देते, तो इनमें से कई कलायें या तो निर्जीव हो जातीं या पर्याप्त ह्रास को प्राप्त हो जातीं।

यह बड़े दुःख की बात है कि उस समय राजाओं को अपने इन सद्गुणों के लिए वह श्रेय नहीं मिला, जो उन्हें मिलना चाहिए था। इसके लिए भी वे स्वयं ही जिम्मेदार हैं; क्योंकि उनमें से अधिकांश का व्यक्तिगत जीवन और अधिकांश रियासतों के

सांविधानिक और प्रशासनिक वृत्त ऐसे भ्रष्ट थे, कि सार्वजनिक धन से किये गये इन सत्कार्यों का जनता पर कोई प्रभाव न पड़ा। कुछ राजाओं के ज्वलन्त कुकृत्यों ने समस्त राजवर्ग को इतना बदनाम कर दिया था कि रियासतों के अच्छे कामों पर भी पानी फिर गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिसे प्रशंसनीय समझा जाना चाहिये था, उसका भी जनता पर कोई प्रभाव न पड़ा, तथा नागरिक अधिकारों एवं उत्तर-दायित्वपूर्ण शासन के लिए जो आन्दोलन रियासतों में चलाया जा रहा था, वह भी उससे अप्रभावित रहा।

रियासतों में विरोध आन्दोलन पर विचार करते समय हमें एक और तथ्य पर भी ध्यान रखना पड़ेगा, जिससे उस आन्दोलन को बल मिला। यह भारतीय प्रान्तों की सीमाओं का बेतरतीब निर्धारण था, जिससे भाषायी और सांस्कृतिक क्षेत्र बंट गये थे। उदाहरणार्थ, मराठीभाषी, कन्नड़भाषी और तेलुगुभाषी लोग कई प्रान्तों और रियासतों में विभाजित हो गये थे। इसी से इस शताब्दी के तृतीय दशक के आरम्भ में भाषायी एकीकरण के लिए आन्दोलन हुए। संयुक्त महाराष्ट्र, संयुक्त कर्णाटक, विशाल आन्ध्र और ऐक्य केरल आन्दोलन 1916 में ही आरम्भ हो चुके थे। परन्तु इनमें से कोई भी आन्दोलन देसी रियासतों को साथ लिए बिना नहीं चलाया जा सकता था, क्योंकि बड़े भाषायी समूह रियासतों में रहते थे। संभवतः कांग्रेस के अपने दल के संगठन के लिए भाषायी प्रान्त बनाने के निर्णय से इस आन्दोलन को बल मिला और इसीसे रियासतों के विरुद्ध असन्तोष पैदा हुआ।

इस प्रकार भविष्य में किसी समय भाषायी एकीकरण की आशा से ब्रिटिश भारत और रियासतों के लोग समान उत्साह के साथ एक दूसरे की ओर खिचने लगे और उनमें घनिष्ठता बढ़ने लगी। यह कहना सही होगा कि हितसाम्य की भावना इसी सांस्कृतिक और भाषायी समानता से पैदा हुई। आर्थिक और राजनीतिक एकता से, जो शीघ्र ही बाद में पैदा हुई, उस भावना को और भी बल मिला। इससे ब्रिटिश भारत की जनता रियासतों के स्वातन्त्र्य संघर्ष में अधिकाधिक रुचि लेने लगी। यह रुचि कांग्रेस, उदार संघ (लिबरल फेडरेशन) और बाद में मुसलिम लीग सरीखी अखिल भारतीय सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा समय-समय पर स्वीकृत प्रस्तावों में स्पष्ट परिलक्षित होती है।

रियासती जनता और कांग्रेस

देसी रियासतों की समस्याओं के सम्बन्ध में अपनायी गयी नीति में कांग्रेस का पथप्रदर्शन आरम्भ से अन्त तक लगभग पूर्णतया महात्मा गांधी द्वारा होता रहा। कांग्रेस के सर्वोच्च और असन्दिग्ध नेता होने के कारण, गांधी जी ही राष्ट्रीय महत्त्व के बहुत से मामलों में अन्तिम निर्णय देते थे; परन्तु राजाओं और रियासती जनता की समस्याओं के सम्बन्ध में कांग्रेस-नीति के निर्धारण में वे विशेष योग्य माने जाते थे। उनके अलावा, अन्य अग्रगण्य कांग्रेस नेता, जो रियासती जनता की समस्याओं में विशेष रुचि रखते थे, वल्लभ भाई पटेल, जवाहरलाल नेहरू और डा० पट्टाभि सीता-रामय्य थे।

1920 से *1947* तक गांधी जी ने इस समस्या पर असंख्य बार लिखा और भाषण दिये। वास्तव में, वे रियासती नेताओं से बराबर पत्रव्यवहार करते रहते थे और उनकी शिकायतों को "हरिजन" में काफी स्थान देते थे। गांधी जी और रियासती नेताओं के बीच जिन पत्रों का आदान-प्रदान हुआ, उनका सावधानी के साथ अध्ययन करने पर प्रकट होता है कि यद्यपि रियासती जनता के संघर्ष में गांधी जी और कांग्रेस पूर्ण सहानुभूति रखते थे, पर वे रियासतों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए तैयार न थे। गांधी जी और कांग्रेस के दृष्टिकोण के अनुसार, इसके कारण विशुद्ध क्रियात्मकता सम्बन्धी थे। रियासती मामलों में अहस्तक्षेप की नीति को गांधी जी ठोस और विवेकपूर्ण समझते थे। उनका विचार था कि ब्रिटिश कानून के अनुसार रियासतें स्वतन्त्र सत्ता रखती हैं; अतः भारत के उस भाग को, जो ब्रिटिश कहा जाता है, रियासतों के लिए नीति निर्धारित करने का उसी प्रकार कोई अधिकार नहीं है, जिस प्रकार किसी दूसरे देश के मामलों में हस्तक्षेप करने का। गांधी जी ने यह कह कर अपनी स्थिति और भी अधिक स्पष्ट कर दी कि मैं चाहता हूं कि ऐसा न होता, परन्तु मैं इस मामले में असमर्थ हूं। वे यह मानते थे कि देसी रियासतें निःसन्देह भौगोलिक भारत के अविभाज्य अंग हैं परन्तु इतने से ही तो रियासती जनता को यह आशा करने का अधिकार नहीं मिल जाता कि बाहरी लोग रियासतों के अन्दर घटनाओं का मार्ग निश्चित करें।

गांधी जी के अनुसार, कांग्रेस के विवेक या सहानुभूति के अभाव के कारण अहस्तक्षेप की नीति नहीं अपनायी गयी, अपितु विशुद्ध असमर्थता के कारण इस नीति को स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा। उनका यह विश्वास था कि कांग्रेस का हस्तक्षेप के

लिए कोई भी प्रयत्न रियासती जनता के हित को हानि ही पहुंचायेगा। वे राजाओं को यह सलाह देने में कभी नहीं चूके कि वे प्रजा को स्वशासन का अधिकार दें और अपने को उस जनता का न्यासधारी (ट्रस्टी) समझें, जिस पर वे शासन करते हैं, तथा अपने लिए आय का केवल एक निश्चित और थोड़ा भाग लेना स्वीकार करें। गांधी जी सदा यह आशा करते रहे कि राजा लोग उनकी सलाह मान लेंगे; इसी लिए उन्होंने कभी उनका दर्जा गिराने की कोशिश नहीं की। वे बार-बार यही कहा करते थे, कि मैं समझा-बुझा कर ही उन्हें अपने मत का बनाने के लिए उत्सुक हूं।

यह कहना पड़ेगा कि रियासती समस्या के प्रति गांधी जी का रुख आदि से अन्त तक एक सा रहा। एन० सी० केलकर के पत्र के उत्तर में उन्होंने इसे बड़े अच्छे ढंग से स्पष्ट किया। अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद के अध्यक्ष (1934) की हैसियत से केलकर ने गांधी जी से गोल मेज सम्मेलन में प्रस्तावित संघ (फेडरेशन) में रियासती प्रतिनिधियों के निर्वाचन के बारे में दिये गये अपने वक्तव्य के स्पष्टीकरण के लिए कहा था। गोलमेज सम्मेलन में, गांधी जी ने रियासती प्रतिनिधियों के निर्वाचन के पक्ष में अपने विचार प्रकट किये थे, परन्तु उन्होंने इसे कांग्रेस के संघ में शामिल होने के लिए आवश्यक शर्त नहीं बताया था। केलकर ने अब अपने पत्र में गांधी जी से ऐसा स्पष्टीकरण करने के लिए कहा था, जिससे संदेह के लिए कोई गुंजाइश न रहे, क्योंकि रियासतों के शासक उनके कथन का दूसरा ही अर्थ लगा रहे थे। केलकर ने अपने पत्र में यह भी लिखा था—"ऐसे मामलों में कांग्रेस नीति के अन्तिम निर्धारण में आपके व्यक्तिगत विचार निर्णायक सिद्ध होते हैं, अतः हम आपसे यह जानने के लिए उत्सुक हैं कि क्या रियासती जनता का निर्वाचन और उसके हित में अधिकारों की घोषणा, आपकी राय में, संघ की वांछनीय विशेषतायें हैं या उसकी आवश्यक शर्तें ...।"

गांधी जी ने केलकर के पत्र का जो उत्तर दिया उससे रियासती जनता की शंकायें दूर न हुईं। केलकर द्वारा उठाये गये प्रश्नों का सीधा उत्तर न देकर, गांधी जी ने लिखा कि मैं ने गोलमेज सम्मेलन में जो कुछ कहा था, वह "राजाओं से अपील के रूप में" था। उसका यह अर्थ न था कि चाहे वे अपील को सुनें या न सुनें, कांग्रेस संघ में जरूर शामिल होगी। गांधी जी ने यह बात दुहराई कि अहस्तक्षेप की नीति, जिस पर कांग्रेस चल रही है, "विवेकपूर्ण और ठोस" है। इसके बाद उन्होंने रियासतों के बारे में अपने विचार व्यक्त किये। उन्होंने कहा :—

"ब्रिटिश कानून के अनुसार रियासतें स्वतन्त्र अस्तित्व रखती हैं। भारत का वह भाग, जिसे ब्रिटिश कहा जाता है, रियासतों के नीति-निर्धारण

का उसी प्रकार कोई अधिकार नहीं रखता, जिस प्रकार अफगानिस्तान या श्रीलंका आदि के नीति-निर्धारण का।

"मैं चाहता हूं कि ऐसा न होता, परन्तु इस मामले में मैं अपनी असमर्थता को समझता हूं। रियासती भारत निःसन्देह भौगोलिक भारत का अविभाज्य अंग है। परन्तु इससे क्या होता है, हम आज जहां खड़े हैं उससे आगे तो नहीं बढ़ते। पुर्तगाली भारत और फ्रांसीसी भारत भी भौगोलिक भारत के अविभाज्य अंग हैं, परन्तु हम वहां घटनाचक्र की दिशा निश्चित करने में असमर्थ हैं।

"हम रियासतों में कांग्रेस के सदस्य बनाते हैं। हम उनसे काफी सहायता लेते हैं। हमारे अहस्तक्षेप का कारण इच्छा या सहानुभूति का अभाव नहीं; हमारी असमर्थता है।

"मेरा यह विश्वास है कि कांग्रेस का हस्तक्षेप के लिए कोई भी प्रयत्न रियासती जनता के हित को हानि ही पहुंचायेगा।

"परन्तु ऐसी कोई शक्ति नहीं, जो हमें रियासतों से एक विशेष नीति अपनाने के लिए अनुरोध करने से रोक सके।

"मेरी यह दृढ़ धारणा है कि हम ब्रिटिश भारत में जो कुछ करेंगे उसका प्रभाव रियासतों पर पड़े बिना न रहेगा।"[1]

गांधी जी अक्सर अपने इस प्रिय सिद्धान्त को दुहराया करते थे कि राजा प्रजा के न्यासधारी हैं और सदा यही आशा किया करते थे कि वे वास्तविक न्यासधारी बनने में गर्व का अनुभव करेंगे। उन्होंने उनके दर्जे को इस लिए नष्ट करने की कोशिश नहीं की, क्योंकि वे व्यक्तियों और समूहों के मतपरिवर्तन में विश्वास रखते थे। सिद्धान्ततः गांधी जी बलप्रयोग के विरुद्ध थे और रियासती जनता की मांगों के बारे में राजाओं से खुलकर विवाद भी नहीं करना चाहते थे। परन्तु उनके लिए अपनी दोस्ताना सलाह में वे कभी नहीं चूके तथा उनकी कमजोरियों का पर्दाफाश जितनी निर्भीकता से उन्होंने किया उतनी निर्भीकता से कदाचित उनके उन्मुक्त आलोचक भी नहीं कर सकते थे।

काफी साल पहले, 1916 में, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के उद्घाटन के अवसर पर, गांधी जी ने अपने भाषण में कहा था कि भारत को मुक्ति तब तक नहीं मिल सकती, जब तक राजा लोग "अपनी जवाहिरात का त्याग न करेंगे और उसे अपनी

---

[1]"दी इंडियन स्टेट्स प्राब्लम" (महात्मा गांधी)—पृ० 64-65

रियासत की जनता के लिए न्यास के रूप में न रखेंगे।" परन्तु, गांधी जी ने राजाओं के प्रति अपनी नीति की घोषणा 1925 में काठियावाड़ राजनीतिक सम्मेलन में अपने अध्यक्षीय भाषण में की। उस समय वे कांग्रेस के अध्यक्ष थे; परन्तु उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि जो विचार वे व्यक्त कर रहे थे, वे उनके व्यक्तिगत विचार थे, कांग्रेस की स्वीकृति की मुहर उन पर नहीं लगी थी। उन्होंने कहा—"मैंने अनेक बार यह घोषित किया है कि देसी रियासतों की समस्याओं के सम्बन्ध में कांग्रेस को सामान्यतया अहतस्क्षेप की नीति अपनानी चाहिए। जिस समय ब्रिटिश भारत के लोग अपनी ही स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हों, उस समय देसी रियासतों के मामलों में हस्तक्षेप करना केवल अपनी कमजोरी जाहिर करना होगा। जिस प्रकार देसी रियासतों और ब्रिटिश सरकार के पारस्परिक सम्बन्धों में कांग्रेस की आवाज का कोई प्रभाव नहीं हो सकता, उसी प्रकार देसी रियासतों और उनकी प्रजा के भी पारस्परिक सम्बन्धों में उसके हस्तक्षेप का कोई प्रभाव नहीं हो सकता।" परन्तु गांधी जी को इस बात में कभी कोई सन्देह नहीं रहा कि ब्रिटिश भारत और रियासती भारत की जनता एक ही है, क्योंकि भारत एक है। "उदाहरणार्थ, बड़ौदा रियासत के भारतीयों और अहमदाबाद के भारतीयों की आवश्यकताओं और रीति-रिवाजों में कोई अन्तर नहीं है। भावनगर के लोगों और राजकोट के लोगों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध हैं।"[1]

रियासतों की परिस्थितियों का उल्लेख करते हुए, गांधी जी ने कहा, "देसी रियासतों की वर्तमान स्थिति, मेरे विचार से, कुछ दयनीय है। कारण, राजाओं को कोई स्वतन्त्रता नहीं है। वास्तविक शक्ति प्रजा को प्राणदण्ड देने की क्षमता में नहीं है, बल्कि प्रजा की रक्षा करने की क्षमता और इच्छा में है। आज राजाओं में यह क्षमता नहीं है, और फलस्वरूप अनुपयोग के कारण इच्छा भी नष्टप्राय है। इसके विपरीत, उनमें प्रजा-उत्पीड़न की शक्ति बढ़ी मालूम पड़ती है।"[2] संक्षेप में, रियासती जनता के प्रति महात्मा गांधी के रुख और नीति का यही रूप था। इसका कांग्रेस संगठन पर, जिसके वे नेता थे, प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

कांग्रेस की रियासती नीति के अध्ययन से पता चलता है कि 50 वर्ष की अवधि में उसमें कई बार परिवर्तन हुआ। सत्याग्रह-युग से पहले, अर्थात् गांधी जी के सर्वोच्च नेता बनने से पहले, राजाओं के प्रति कांग्रेस का रुख प्रशंसा और सम्मानपूर्ण समर्थन

---

[1]वही– पृ० 9
[2]वही– पृ० 10

का था। *1894* में, कांग्रेस ने मैसूर के राजा के स्वर्गवास पर एक शोक-प्रस्ताव पास किया, जिसमें उसकी बुद्धिमत्ता और अनेक गुणों की प्रशंसा की गयी। दो साल बाद, उसने फिर राजाओं के बचाव के लिए इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया कि किसी राजा या सरकार को कुशासन का आरोप लगा कर तब तक पदच्युत न किया जाय जब तक वह आरोप किसी सार्वजनिक न्यायाधिकरण के सामने सन्तोषजनक ढंग से प्रमाणित न हो जाय। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि न्यायाधिकरण ऐसा होना चाहिए, जिस पर सरकार और राजा लोग दोनों को विश्वास हो। उन दिनों की कांग्रेस रियासती जनता की पूर्ण उपेक्षा किया करती थी। वास्तव में, लोगों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता अभी पूरी तरह आयी ही न थी, और रियासत से अलग उनकी कोई पृथक् सत्ता समझी ही न जाती थी। जब 1918 में, नागपुर अधिवेशन में, कांग्रेस का पुनर्गठन हुआ, तो पुरानी नीति सिद्धान्ततः बदल दी गयी। संगठन की दृष्टि से देश को इक्कीस कांग्रेस प्रान्तों में विभाजित कर दिया गया और रियासतों को समीपवर्ती प्रान्तों में मिला दिया गया। रियासत के लोग जिला कांग्रेस समितियों के सदस्य बन सकते थे और वहां से वे अखिल भारतीय कांग्रेस समिति में सदस्यों तथा कांग्रेस के प्रतिनिधियों के रूप में जा सकते थे। फिर भी, एक परन्तु जोड़ दिया गया था—कि रियासती जनता को कांग्रेस के क्रियाकलाप में शामिल करने का अर्थ, कांग्रेस द्वारा रियासतों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करना नहीं है।

यह नीति लगभग 10 वर्ष तक जारी रही। रियासती जनता को कांग्रेस का सदस्य बनने की अनुमति तो मिल गयी, परन्तु उसको घोर निराशा और प्रबल विरोध के बावजूद भी कांग्रेस रियासतों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने के लिए राजी न हुई। *1927-28* में साइमन कमीशन की नियुक्ति और बाद में उसकी भारत-यात्रा के समय यह विवाद फिर भड़का। एक उभयपक्ष-सम्मत संविधान तैयार करने के लिए सर्वदल सम्मेलन हुआ, जिसके फलस्वरूप नेहरू रिपोर्ट सामने आयी। यह पहला अवसर था, जब ब्रिटिश सम्राट्, ब्रिटिश संसद्, ब्रिटिश भारत और रियासती भारत के पारस्परिक सम्बन्धों की विस्तार से व्याख्या करने का प्रयत्न किया गया। कांग्रेस ने महसूस किया कि रियासतों के अस्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती और कि रियासती जनता भारतीय राष्ट्र का अभिन्न अंग है। प्रथम बार, कांग्रेस ने अपने कलकत्ता अधिवेशन (1928) में अहस्तक्षेप सम्बन्धी धारा निकाल दी, और राजाओं से अपनी प्रजा को नागरिकता के मौलिक अधिकार तथा उत्तरदायित्वपूर्ण शासन देने का अनुरोध करते हुए, प्रजा को अपनी सहानुभूति तथा उसके वैध उद्देश्यों को

प्राप्ति के लिए किये जाने वाले संघर्ष में अपनी सहायता का आश्वासन दिया।

इसके बाद, रियासती जनता इस प्रस्ताव को सदा अपने अधिकारों का घोषणा पत्र समझती रही। इसी समय अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद का जन्म हुआ। वह कांग्रेस के निकट आने लगी और उसी का अंग समझी जाने लगी। कुछ वर्षों से, रियासतों के लोग कुछ क्षेत्रों की रियासतों का प्रतिनिधित्व करते हुए, हर साल अपनी अलग सभायें करते आ रहे थे। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, रियासती जनता का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करने वाला प्रथम सम्मेलन बम्बई में 1927 में हुआ। अब तक ये सभा, सम्मेलन स्वतन्त्र रूप से किसी भी समय और किसी भी स्थान पर कर लिये जाते थे। परन्तु अब अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद अपने वार्षिक अधिवेशन अक्सर कांग्रेस के अधिवेशनों के साथ करने लगी।

कांग्रेस द्वारा छेड़े गये देशव्यापी असहयोग आन्दोलन में कांग्रेस और रियासती जनता एक दूसरे के और भी अधिक निकट आ गयी। रियासती जनता 1920 से कांग्रेस के सभी संघर्षों में सक्रिय भाग ले रही थी; परन्तु 1930-31 के सत्याग्रह आन्दोलन में उसने विशेष उत्साह दिखाया। प्रान्तों में रहने वाले लोगों के साथ रियासतों के लोग भी हजारों की संख्या में जेल गये और इस प्रकार उन्होंने कांग्रेस के आह्वान का समुचित पालन किया।

परन्तु गांधी-इर्विन समझौते और सत्याग्रह आन्दोलन की वापसी के बाद के वर्षों में, रियासती जनता के लोग यह जान कर बड़े दुःखी हुए कि रियासतों और प्रान्तों की स्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर है। जबकि प्रान्तों में राजनीतिक बन्दी छोड़ दिये जाने और सरकार तथा कांग्रेस में समझौता हो जाने से विजय का उल्लास छाया हुआ था, रियासतों में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं हो रहा था। रियासतों की सरकारें राजनीतिक कार्यकर्ताओं की गतिविधियों के प्रति उतनी ही सतर्क और शंकालु थीं, जितनी पहले। उन्होंने गांधी-इर्विन समझौते की भावना का प्रभाव उन पर नहीं पड़ने दिया। राजनीतिक नेता नहीं छोड़े गये और अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद के नेताओं के साथ भी कोई रियायत नहीं की गयी।[1] स्वभावतः रियासती जनता घबरा गयी और अकेलापन महसूस करने लगी।

---

[1] अपनी सजा की अवधि समाप्त होने से पूर्व, कुछ ही लोकप्रिय नेता छोड़े गये थे। उदाहरणार्थ, गांधी-इर्विन समझौते पर हस्ताक्षर होने के तुरन्त बाद, जोधपुर सरकार ने जयनारायण व्यास को छोड़ दिया था।

उसे ऐसा प्रतीत हुआ मानो उसका साथ छोड़ दिया गया है। अतः उसने फिर कांग्रेस से सहायता के नये आश्वासन मांगने शुरू कर दिये। उसकी शिकायत यह थी कि "सहानुभूति और सहायता" की प्रतिज्ञा, जो 1928 में कलकत्ता में की गयी थी और जिसकी पुष्टि 1931 में गोलमेज सम्मेलन में गांधी जी ने तथा बाद में 1935 में जबलपुर में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने की थी, कांग्रेस के अपनी पुरानी अहस्तक्षेप की नीति पर दृढ़ रहने के कारण, मिट्टी में मिल गयी है।

गांधी-ईर्विन समझौते के बाद, गांधी जी ने यह चेतावनी देते हुए राजाओं और ब्रिटिश सरकार से अपील की, कि "अनघुला एकतन्त्र, चाहे वह कितना ही उदार हो, और अनघुला लोकतन्त्र, दोनों ही बेमेल मिश्रण हैं, जिनका विस्फोट होना अनिवार्य है"। उन्होंने उनको स्मरण दिलाया कि कांग्रेस "बड़ी बुद्धिमानी और बड़े संयम से" रियासतों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने से अपने आप को रोके रही, वह केवल इसलिए ही नहीं, कि वह अनावश्यक रूप से रियासतों की भावनाओं को ठेस नहीं पहुंचाना चाहती थी, बल्कि इस लिए भी, कि वह स्वयं स्वीकृत संयम द्वारा रियासतों को ठीक समय पर अपनी आवाज सुनाने के लिए तैयार करना चाहती थी। उन्होंने कहा "मैं समझता हूं वह समय अब आ गया है।"

गोलमेज सम्मेलन में भी उन्होंने ऐसे ही विचार और भाव प्रकट किये। उन्होंने कहा--"यदि जीवित शरीर को दो भागों में विभाजित किया जा सकता हो, तो आप भारत को भी दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। यह अनादि काल से एक देश रहा है और कोई कृत्रिम सीमा इसको विभाजित नहीं कर सकती।"[1]

जबलपुर अधिवेशन में, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने घोषणा की कि "रियासती जनता के हित भी उसी प्रकार कांग्रेस के चिन्त्य विषय हैं जिस प्रकार भारतीय जनता के हित; और वह उसके स्वातन्त्र्य संघर्ष में अपनी पूरी सहायता का आश्वासन देती है।"

परन्तु उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लिए किये जाने वाले संघर्ष में रियासती जनता की असन्दिग्ध सहायता के सम्बन्ध में पास किये गये ऐसे प्रस्तावों का सुप्रभाव, अक्सर जिम्मेदार कांग्रेस नेताओं के अलग-अलग विचारों या परस्परविरोधी वक्तव्यों से नष्ट हो जाता था। स्यात् इनमें सबसे दुर्भाग्यपूर्ण भूलाभाई देसाई का भाषण था, जो उन्होंने 1935 में मैसूर राज्य के वकील संघ के अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए दिया था।

---

[1]वही--पृ० 55

रियासती जनता के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के बजाय, भूलाभाई देसाई ने अपना भाषण इस प्रकार शुरू किया मानो उससे उनको ईर्ष्या हो। उन्होंने कहा— "रियासती जनता पर विदेशी शासन का भार नहीं है। उसकी एकमात्र शिकायत यह है कि शक्ति और अधिकार एक ही शक्ति में केन्द्रित हैं। परन्तु उसकी समस्या ब्रिटिश भारत की स्वराज्य-प्राप्ति की समस्या से अधिक सुसाध्य है।"

जब मैसूर वकील संघ के अध्यक्ष ने उनसे कांग्रेस और रियासती जनता के सम्बन्ध पर प्रकाश डालने के लिए कहा तो देसाई को यह कहने में कोई हिचकिचाहट नहीं हुई कि रियासतें "विदेशी" राज्य क्षेत्र हैं और रियासती जनता तथा बहुचर्चित संघ के बीच कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं हो सकता। उनके विचार से, रियासतों और संघ के बीच सम्बन्ध के स्वरूप को निर्धारित करने का अधिकार केवल राजाओं को था। यह वक्तव्य उस समय दिया गया, जब रियासतों के अधिकृत प्रतिनिधियों और दरबारों के बीच इस विषय में भीषण विवाद छिड़ा हुआ था कि यदि वे संघ में शामिल हों, तो रियासतों का प्रतिनिधित्व किस प्रकार हो। ऐसे समय में, भूलाभाई देसाई के इस उल्टे सुझाव ने, कि इस मामले में रियासती जनता की कोई आधिकारिक स्थिति नहीं है, उसे स्वभावतः बहुत धक्का पहुंचाया।

भूलाभाई देसाई कांग्रेस के साधारण सदस्य न थे, वे अग्रगण्य नेता थे और केन्द्र में कांग्रेस संसदीय दल के अध्यक्ष थे। मैसूर वकील संघ में दिया गया उनका भाषण और कांग्रेस-अध्यक्ष बाबू राजेन्द्रप्रसाद को लिखे गये एक पत्र में व्यक्त किये गये उनके विचार, सहानुभूति के उन वचनों से सर्वथा विपरीत थे, जो महात्मा गांधी तथा अन्य प्रमुख कांग्रेस नेताओं ने अनेक बार रियासती जनता को दिये थे। जब एक बार रियासती जनता की मांग उचित और वैध मान ली गयी, तो किसी भी कांग्रेस नेता के लिए, कमसे कम सिद्धान्ततः उसके पक्ष के समर्थन के अतिरिक्त कोई विकल्प ही नहीं रह गया था। भूलाभाई देसाई ने यह भी नहीं किया। ऐसा करने के बजाय, उन्होंने उसके पैरों के नीचे की मिट्टी ही खिसका दी और इस प्रकार उसे उस आधार से ही वंचित कर दिया जिस पर उसका विरोध एवं प्रतिरोध आन्दोलन खड़ा था। उनके वक्तव्य ने रियासती जनता में कांग्रेस और उसकी रियासती नीति के प्रति घोर असन्तोष पैदा कर दिया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, जो 1930 से आरम्भ होने वाले दशक के शुरू में कांग्रेस द्वारा छेड़ा गया था, ब्रिटिश भारत तक ही सीमित नहीं रहा। रियासती जनता ने भी प्रान्तों में तथा कुछ रियासतों में इसमें भाग लिया।

उदाहरणार्थ, त्रावणकोर रियासत में रियासती जनता के सत्याग्रह के फलस्वरूप रियासत की सरकार को वाध्य होकर सभी सम्प्रदायों के लिए सभी सड़कें, कुंए और स्कूल खोल देने पड़े। मिरज रियासत में एक आन्दोलन खड़ा किया गया, जिसमें एन० सी० केलकर जैसे प्रमुख व्यक्तियों और भारत सेवक समाज (सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी) के कुछ सदस्यों ने, अपने भाषण-स्वातन्त्र्य के अधिकार की रक्षा के लिए, भाग लिया। मोर्वी में भी एक ऐसा ही सत्याग्रह आन्दोलन शुरू किया गया, परन्तु वह गांधी जी की सलाह पर वापस ले लिया गया। वहां एक कार्यकर्ता को देश-निष्कासित कर दिया गया था। इसके विपरीत, मोर्वी के निकट मालिया में जो सत्याग्रह शुरू हुआ, वह जनता और रियासत की सरकार के बीच समझौता कराने में सफल रहा, यद्यपि वह समझौता रियासती सरकार द्वारा शीघ्र ही तोड़ दिया गया।

झंडा, ध्रोल और जामनगर में चलाये गये ऐसे सत्याग्रह आन्दोलन सर्वथा सफल सिद्ध हुए। हर मामले में जनता की न्यूनतम मांगें दरवारों द्वारा स्वीकार कर ली गयीं। ध्रांगध्रा में भी एक सत्याग्रह हुआ। रियासत की जनता वहां काठियावाड़ राजनीतिक सम्मेलन करना चाहती थी। काठियावाड़ राजनीतिक सम्मेलन का एक इतिहास था, और लोग सोचते थे कि उससे राजाओं में भी कुछ विश्वास पैदा होगा, कारण, पहले महात्मा गांधी, विट्ठलभाई पटेल, अव्वास तैयव जी, ए० वी० ठक्कर और वल्लभभाई पटेल सरीखे महानुभाव उसकी अध्यक्षता कर चुके थे। एक अवसर पर, गांधी जी के संकेतानुसार, सम्मेलन इस आशय का एक प्रस्ताव भी पास कर चुका था कि किसी रियासत की अलग से आलोचना या निन्दा न की जाय। इन पूर्ववृत्तों के होते हुए भी, रियासती सरकार ने ध्रांगध्रा में सम्मेलन पर रोक लगा दी। इसके फलस्वरूप संघर्ष करना पड़ा। गिरफ्तारियां हुईं, लाठी-चार्ज हुए। जव वातचीत के वाद समझौता हुआ, तो रियासती सरकार ने उसे उपेक्षित कर दिया। तव एक जांच-समिति नियुक्त की गयी; परन्तु रियासत में उसके प्रवेश पर भी रोक लगा दी गयी। फिर हड़तालों और सार्वजनिक सभाओं का तांता शुरू हुआ। परन्तु रियासती सरकार द्वारा गिरफ्तार किये गये व्यक्तियों की विना शर्त रिहाई पर सत्याग्रह वापस ले लिया गया।

इस स्थिति में, रियासती जनता यह महसूस करती थी कि कांग्रेस का यह आग्रह, कि रियासतों को अपनी रक्षा आप करनी चाहिए और उन्हें अपने ही पैरों पर खड़ा होना चाहिए, यदि निन्दनीय नहीं, तो अतर्कसंगत अवश्य है। इसके लिए उसे दोष नहीं दिया जा सकता था। सवसे पहले तो यह पूछा जा सकता है कि जव कांग्रेस अक्सर

प्रत्यक्ष रूप से यह दावा किया करती थी कि वह सारे भारत के लिए लड़ रही है, तो उसने अपना कोई अधिवेशन कभी किसी देसी रियासत में क्यों नहीं किया। दूसरे, जब उसने स्वयं यह देख लिया कि किसी रियासत में सत्याग्रह आरम्भ करना तो दूर रहा, सार्वजनिक सभायें करना भी कठिन है, तो उसे रियासती जनता की कठिनाइयों पर अधिक सहानुभूति से विचार करना चाहिये था। वस्तुतः इस निष्कर्ष से नहीं बचा जा सकता, कि परिस्थितियों की स्वाभाविक कठिनाई और नीति या सिद्धान्त के प्रश्न ने कांग्रेस को रियासती जनता की उतनी सहायता नहीं करने दी, जितनी वह करना चाहती थी।

रियासती जनता गांधी जी का बहुत आदर करती थी, परन्तु वह गांधी जी का यह तर्क समझने में सदा असमर्थ रही कि "लोकतन्त्रीय संस्थाओं के लिए आन्दोलन भूमि से स्वतः प्रस्फुटित होना चाहिए, बाहर से लाकर नहीं रोपना चाहिए।"[1] यदि यह मान भी लिया जाय कि बाद में प्रजामण्डलों का संगठन, जो अधिकांश रियासतों में अन्तःप्रसूत हुआ, कांग्रेस दल द्वारा रियासतों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करने से इन्कार करने का सीधा परिणाम था, तो भी रियासती जनता कांग्रेस को उसके प्रति उपेक्षा के दोष से मुक्त नहीं कर सकती थी।

1937 के महानिर्वाचन में कांग्रेस की अभूतपूर्व सफलता और 6 प्रान्तों में अधिकांश स्थान कांग्रेस को मिल जाने के कारण, कांग्रेस और रियासती जनता के बीच सम्बन्धों का एक नया अध्याय शुरू हुआ। इस महान् सफलता ने रियासती जनता को नये जोश के साथ नागरिक अधिकारों और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लिए आन्दोलन करने को प्रोत्साहित किया। अधिकांश रियासतों में पहले ही अशांति फैली हुई थी; उसी ने अब सामूहिक प्रदर्शनों और बाद में बड़े आन्दोलनों का रूप ले लिया। समीपवर्ती प्रान्तों में कांग्रेस सरकारों ने तुरन्त रियासती जनता का पक्ष लेना शुरू कर दिया।

उदाहरणार्थ, मैसूर में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन और कांग्रेस ध्वज की मान्यता के लिए किया जाने वाला आन्दोलन स्थानीय सरकार ने बलपूर्वक कुचलना चाहा। जेलों में सत्याग्रहियों के साथ घोर दुर्व्यवहार किया गया। एक स्थान पर रियासती पुलिस ने एक सार्वजनिक सभा पर गोली चला दी, जिससे कुछ लोग मर गये। अतः कांग्रेस समिति को बीच में पड़ना पड़ा। डा० पट्टाभि सीतारामय्य और डा० बलवन्त

---

[1]राजेन्द्र प्रसाद : आत्मकथा—पृ० 412

राय मेहता ने प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने के लिए रियासत का दौरा किया। अक्टूबर 1937 में, कलकत्ता में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने अपने अधिवेशन में, मैसूर सरकार की उसकी दमन नीति के लिए भर्त्सना की और रियासतों तथा ब्रिटिश भारत की जनता से मैसूर की जनता को रियासत के विरुद्ध आत्मनिर्णय के अधिकार के लिए किए जाने वाले संघर्ष में सब प्रकार की सहायता और सहानुभूति प्रदान करने के लिए अपील की।[1] उसी समय या कुछ दिनों बाद, त्रावणकोर, कश्मीर, हैदराबाद, जयपुर, राजकोट और उड़ीसा की रियासतों में भी ऐसे ही आन्दोलन हुए।

अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के कलकत्ता प्रस्ताव से गांधी जी प्रसन्न न थे। उन्होंने कठोर शब्दों में उसकी खुली आलोचना की। कांग्रेस के मूर्धन्य नेताओं में इस मतभेद के कारण, हरिपुरा अधिवेशन में रियासती समस्या पर विचार के समय कुछ कवड़ाहट आ गयी। हरिपुरा अधिवेशन में, कार्यसमिति द्वारा तैयार किये गये प्रस्ताव के प्रारूप में, सबसे अधिक विवादास्पद वह धारा थी, जिस के द्वारा देसी रियासतों में कांग्रेस कमेटियों के गठन पर रोक लगायी गयी थी। मैसूर की घटनाओं को देखते हुए तथा वहां सविनय अवज्ञा आन्दोलन के चलते रहने के कारण, यह अनुभव होने लगा कि कहीं कांग्रेस रियासतों के सविनय अवज्ञा आन्दोलनों में इस बुरी तरह से न फंस जाय कि देश के दूसरे भागों पर भी उसका असर पड़ने लगे। कांग्रेस की ओर से यह भी बताया गया कि जब प्रश्न सविनय अवज्ञा का है तो कांग्रेस रचनात्मक कार्यक्रम के सम्बन्ध में सत्याग्रहियों तथा अन्य कार्यकर्ताओं की सहायता के लिए नहीं जा सकती। इसके अलावा, रियासती जनता को आवश्यक सहायता प्रदान करने के लिए अन्य अखिल भारतीय संगठन भी थे, जो निःसन्देह कांग्रेस से सम्बद्ध थे, परन्तु न्यूनाधिक स्वतन्त्र रूप से कार्य कर रहे थे।

हरिपुरा में जो प्रस्ताव पास हुआ, वह गांधी जी के प्रभाव से काफी मुलायम बना दिया गया। उससे कांग्रेस की नीति में कुछ परिवर्तन हो गया। कांग्रेस ने पुनः अपना यह लक्ष्य दुहराया कि वह रियासतों में भी उसी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता के लिए लड़ रही है, जिसके लिए शेष भारत में, और रियासतों को भारत का अविभाज्य अंग समझती है; परन्तु उसने यह स्पष्ट कर दिया कि अभी वह इस स्थिति में नहीं है कि स्वयं रियासती जनता को मुक्ति दिला सके।

[1]वी० पी० मेनन—दी स्टोरी आफ दी इन्टीग्रेशन आफ दी इंडियन स्टेट्स—पृ० 42

उसने कहा कि स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष का भार रियासती जनता को ही उठाना चाहिए।

हरिपुरा में, फरवरी 1938 में, कांग्रेस द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव, कांग्रेस और रियासती स्वातन्त्र्य संघर्ष के बीच सम्बन्धों के निर्णय के लिए इतने आधारभूत महत्व का है कि उसे यहां पूरा का पूरा उद्धृत करना आवश्यक है।

उस प्रस्ताव का मूलपाठ इस प्रकार है :—

"कांग्रेस रियासतों में भी वैसी ही राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता चाहती है जैसी शेष भारत में, और रियासतों को भारत के अविभाज्य अंग समझती है, जो अलग नहीं किये जा सकते। पूर्ण स्वराज्य या पूर्ण स्वतन्त्रता, जो कि कांग्रेस का लक्ष्य है, सम्पूर्ण भारत के लिए है, जिसमें रियासतें भी शामिल हैं; क्योंकि स्वतन्त्रता में भी भारत की अखण्डता और एकता उसी प्रकार बनी रहनी चाहिए, जिस प्रकार वह दासता में बनी रही है। केवल उसी प्रकार का संघ कांग्रेस को स्वीकार्य हो सकता है, जिसमें रियासतें स्वतन्त्र इकाई के रूप में भाग लें और उन्हें उतनी ही लोकतन्त्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त हो, जितनी शेष भारत को। अतः कांग्रेस रियासतों में पूर्ण उत्तरदायित्वपूर्ण शासन एवं नागरिक स्वतन्त्रता के पक्ष में है, तथा अधिकांश रियासतों में वर्तमान पिछड़ेपन की हालतों, स्वतन्त्रता के पूर्ण अभाव एवं नागरिक अधिकारों के हनन के प्रति क्षोभ प्रकट करती है।

"कांग्रेस रियासतों में इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए कार्य करना अपना अधिकार एवं विशेषाधिकार समझती है। परन्तु, वर्तमान परिस्थितियों में, कांग्रेस रियासतों में इस लक्ष्य के लिए प्रभावशाली ढंग से कार्य नहीं कर सकती; साथ ही, राजाओं द्वारा अथवा उनके माध्यम से काम करनेवाले ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा लगाये गये असंख्य प्रतिबन्ध एवं नियन्त्रण उसके कार्य में बाधा डालते हैं। कांग्रेस के नाम और उसकी महान् प्रतिष्ठा से रियासती जनता के मन में जो आशा और विश्वास पैदा होता है, उसकी तुरन्त पूर्ति न होने से घोर निराशा होती है। ऐसी स्थानीय समितियां बनाना, जो प्रभावशाली ढंग से काम न कर सकें, या राष्ट्रध्वज का अपमान सह लेना, कांग्रेस के गौरव के अनुकूल नहीं है। आशा लगाये जाने पर, सुरक्षा या प्रभावशाली सहायता देने में कांग्रेस की असमर्थता, रियासती जनता में असहायता की भावना पैदा करती है और उसके स्वतन्त्रता-आन्दोलन के विकास में बाधा पहुंचाती है।

"रियासतों और शेष भारत में विद्यमान भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण, कांग्रेस की सामान्य नीति प्रायः रियासतों के लिये उपयुक्त नहीं रही; और उसके फलस्वरूप किसी रियासत में स्वतन्त्रता आन्दोलन का स्वाभाविक विकास या तो रुक सकता है या उसमें वाधा आ सकती है। ऐसे आन्दोलन सम्भवतः तभी अधिक तेजी से विकसित हो सकते हैं और तभी अपना आधार वढ़ा सकते हैं, जव वे रियासत की जनता से ही शक्ति प्राप्त करें, उसमें आत्म-निर्भरता की भावना पैदा करें और वहां की परिस्थितियों के मेल में रहें तथा वाहरी सहायता या कांग्रेस के नाम की प्रतिष्ठा पर निर्भर न रहें। कांग्रेस ऐसे आन्दोलनों का स्वागत करती है, परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में स्वतन्त्रता के संघर्ष का भार रियासती जनता को ही उठाना होगा। शान्तिपूर्ण और वैध ढंग से किये जाने वाले संघर्षों के लिए कांग्रेस सदा ही अपनी सद्भावना और सहायता प्रदान करेगी, परन्तु मौजूदा परिस्थितियों में संगठनात्मक सहायता अनिवार्य रूप से नैतिक समर्थन और सहानुभूति के रूप में होगी। परन्तु कांग्रेस-जन निजी तौर पर और भी सहायता देने के लिए स्वतन्त्र होंगे। इस प्रकार कांग्रेस संगठन को वीच में डाले विना और वाहरी वातों से हानि पहुंचाये विना संघर्ष आगे वढ़ाया जा सकता है।

"इस लिए कांग्रेस निदेश देती है कि फिलहाल रियासतों की कांग्रेस समितियां कांग्रेस कार्यसमिति के निदेशन और नियन्त्रण में काम करेंगी; तथा न तो संसदीय गतिविधियों में भाग लेंगी और न कांग्रेस के नाम पर या कांग्रेस के तत्त्वावधान में कोई सीधी कार्रवाई शुरू करेंगी। रियासती जनता का आन्तरिक संघर्ष कांग्रेस के नाम पर नहीं चलाया जाना चाहिए। इसके लिए रियासतों में स्वतन्त्र संगठन स्थापित होने चाहिए, और जहां ऐसे संगठन पहले से मौजूद हैं, वहां उन्हें जारी रखना चाहिए। कांग्रेस रियासती जनता को उसके साथ अपनी अभिन्नता और उसके स्वतन्त्रता आन्दोलन में सक्रिय एवं सजग अभिरुचि तथा उसके साथ सहानुभूति का आश्वासन देना चाहती है। वह विश्वास करती है कि उसकी मुक्ति का दिन दूर नहीं है।"[1]

हरिपुरा कांग्रेस के रियासतों से सम्वन्धित प्रस्ताव का उल्लेख करते हुए, डा० पट्टाभि सीतारामय्य "कांग्रेस का इतिहास" (हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस) में लिखते हैं

[1] हरिजन—26-2-1938.

कि कांग्रेस के एक वर्ग और गांधी जी में रियासतों को समस्या तथा उनमें राजनीतिक जागृति के प्रति कांग्रेस के रुख के सम्बन्ध में पूर्ण मतैक्य न था। काफी पहले 1934 में, जब गांधी जी ने 6 अप्रैल को एक वक्तव्य प्रकाशित किया, तो उसमें स्पष्ट उल्लेख किया था कि समाजवाद, रियासतें और कांग्रेस के संविधान के विषय में मेरे विचार कांग्रेस के एक वर्ग के विचारों से सर्वथा भिन्न हैं। "कुछ कठिनाई इस कारण पैदा हुई कि यह विश्वास किया जाने लगा था कि रियासती जनता अन्दरूनी आन्दोलन के लिए बाहरी सहायता मांगती है। परन्तु उसने भी अपना घर ठीक ठाक किया, समितियां बनायीं और जुलाई 1936 में, करांची, में एक अखिल भारतीय सम्मेलन भी किया।[1] यह कांग्रेस द्वारा अपनाये गये मार्ग के समान मार्ग पर रियासती जनता की राजनीतिक प्रगति में नये अध्याय का श्रीगणेश था। जगह-जगह सभायें बन गयीं और उनमें से अधिकांश अखिल भारतीय संस्था से सम्बद्ध हो गयीं। कुछ रियासतों के प्रजामण्डलों ने रियासती जनता के बाहरी संगठनों से अलग रहना अच्छा समझा; कांग्रेस संगठन से तो मिले ही नहीं। कुछ रियासतों में रियासती जनता के संगठन के साथ-साथ कांग्रेस समितियां भी थीं।

"कलकत्ता में एक इंच आगे बढ़ने का अवसर मिल जाने से, रियासती जनता बाद के वर्षो में सवा गज आगे बढ़ने की कोशिश करने लगी। वह चाहती थी कि कांग्रेस स्वयं रियासती जनता का बोझ संभाल ले या कम से कम उसके राजनीतिक संगठनों की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ले। परन्तु, इसके विपरीत कांग्रेस की अपनी भी कठिनाइयां थीं, जिनसे उसे लड़ना था। ···हरिपुरा में जो प्रश्न उपस्थित हुआ वह यह था कि क्या रियासतों में कांग्रेस समितियां बनाने के लिए अनुमति दे देनी चाहिए और क्या भारत के प्रान्तों का कांग्रेसी संविधान रियासती जनता पर भी समान रूप से लागू नहीं होना चाहिए। रियासती प्रजा संगठन ने, जिसका अधिवेशन हाल ही में, नवसारी में, हरिपुरा अधिवेशन से पहले हुआ था, इस कठिनाई से बचने का एक सरल उपाय यह बताया था कि संविधान की धारा 1 में केवल यह परिवर्तन कर दिया जाय कि 'भारत' का अर्थ है 'भारत की जनता, जिसमें रियासती जनता भी शामिल है'। ··· यह भी याद रखिये कि कलकत्ता में, अक्टूबर 1937 में, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा मैसूर के बारे में स्वीकृत प्रस्ताव गांधी जी को

---

[1]अ० भा० रियासती प्रजापरिषद के करांची अधिवेशन का विवरण आगे एक अध्याय में दिया गया है।

अच्छा न लगा था, और गांधी जी ने उसकी कड़ी आलोचना की थी।..."[1]

इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में रियासतों की जनता और स्वतन्त्रता आन्दोलन के नेताओं की प्रतिक्रिया आमतौर से अच्छी न थी। यद्यपि रियासती जनता के कल्याण के लिए कांग्रेस की चिन्ताशीलता में किसी को सन्देह न था; फिर भी रियासती जनता यह सोचे विना न रह सकती थी कि उत्पीड़नकारी शासन का दुःख उसे झेलना पड़ता है, न कि कांग्रेस नेताओं को; तथा कि कांग्रेस उस संघर्ष को, जिसे वह ब्रिटिश सत्ता के विरुद्ध चला रही है, उस विषम संघर्ष से अधिक महत्त्व देती है, जिसे प्रजामण्डल रियासतों में राजाओं के विरुद्ध चला रहे हैं। परन्तु, इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में गांधी जी के लेखों तथा जवाहरलाल नेहरू और डा० पट्टाभि सीतारामय्य सरीखे कांग्रेस नेताओं के स्पष्टीकरणकारी वक्तव्यों से रियासती जनता की भावनायें कुछ शान्त हुईं।

इसी समय प्रजामण्डल और अखिलभारतीय रियासती प्रजापरिषद शक्ति के नये स्रोतों की खोज में लगे हुए थे और उनके अनुयायी दिन-प्रतिदिन बढ़ते जा रहे थे। कांग्रेस में एक आमूल परिवर्तनवादी वाम पक्ष का जन्म हुआ, जिसने रियासतों में सत्याग्रह आन्दोलनों के लिए अधिक सक्रिय समर्थन की वकालत करनी शुरू कर दी। जवाहरलाल नेहरू, जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, यूसुफ मेहरअली तथा कुछ अन्य कांग्रेसियों ने रियासती जनता के पक्ष के समर्थन के लिए कोई अवसर हाथ से न जाने दिया। जवाहरलाल नेहरू ने, जो उन सबके अग्रणी थे, रियासतों में व्याप्त अराजकता की स्थिति की स्पष्ट और प्रभावशाली वक्तव्यों द्वारा निन्दा की। इन वक्तव्यों के प्रभाव से, कम से कम जनता की दृष्टि में, कांग्रेस को कई रियासतों में चलनेवाले आन्दोलनों के विषय में अधिक परिवर्तनवादी नीति स्वीकार करनी पड़ी।

प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रिमण्डलों ने भी ऐसा रुख अपनाया, जिससे रियासतों में आन्दोलनकारियों को वल मिला। दिसम्बर 1938 में गांधी जी ने फिर घोषणा की कि रियासतों की पूर्ण समाप्ति और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन में कोई समझौता नहीं हो सकता। रियासतों में समकालिक जागृति का कारण उन्होंने "समय की प्रकृति" को वताया। रियासतों में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लिए चलाये जाने वाले आन्दोलन के प्रति प्रान्तीय सरकारों के कर्तव्यों और जिम्मेदारियों की भी उन्होंने एक नयी ही व्याख्या की। उन्होंने कहा कि रियासतों के घोर कुशासन पर ध्यान देना और उसके लिए क्या करना चाहिए इस विषय में सर्वोच्च सत्ता को सलाह देना प्रान्तों के मन्त्रियों

---

[1] कांग्रेस का इतिहास (हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस)—ग्रन्थ 2, पृ० 79

का नैतिक अधिकार और कर्त्तव्य है। उन्होंने यहां तक कह दिया कि यदि राजा लोग उत्तरदायित्वपूर्ण शासन की मांग के तत्त्व को स्वेच्छा से स्वीकार नहीं करेंगे, तो कांग्रेस अहस्तक्षेप की नीति को छोड़ सकती है। उन्होंने राजाओं को यह भी सलाह दी कि वे "उस संगठन से मित्रता के सम्बन्ध स्थापित करें, जो निकट भविष्य में, यह आशा की जाती है कि मैत्रीपूर्ण व्यवस्था द्वारा ही, सर्वोच्च सत्ता का स्थान लेने वाला है।[1]

गांधी जी की यह भविष्यवाणी सत्य सिद्ध हुई, यद्यपि जिस समय यह की गयी थी, उस समय किसी राजा ने इस पर ध्यान नहीं दिया था। कुछ मास बाद राजाओं को सम्बोधित करते हुए गांधी जी ने यह प्रश्न उठाया कि "ब्रिटिश भारत के प्रबुद्ध वर्ग की कोटि में आने के लिए सब रियासतों को कम से कम किस-किस चीज की गारन्टी देनी चाहिए ?" इस प्रश्न का स्वयं ही उत्तर देते हुए, उन्होंने न्यूनातिन्यून कर्त्तव्य, जिसे हर छोटी-बड़ी रियासत को पूरा करना चाहिए, इस प्रकार बताया—

1. पूर्ण नागरिक स्वतन्त्रता, जब तक वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हिंसा को बढ़ावा देने के लिए इस्तैमाल न की जाय। इसमें प्रेस की स्वतन्त्रता और ऐसे समाचारपत्रों को प्राप्त करने की स्वतन्त्रता भी शामिल है, जो हिंसा को बढ़ावा नहीं देते।
2. रियासती जनता को संस्थायें बनाने की तथा अपनी-अपनी रियासत में उत्तरदायित्वपूर्ण सरकार स्थापित करने के पक्ष में जनमत जागृत करने की स्वतन्त्रता।
3. रियासत से बाहर के भारतवासियों को बिना किसी रुकावट या बाधा के प्रवेश की स्वतन्त्रता, जब तक कि उनकी गतिविधियां सम्बन्धित रियासत के विनाश के उद्देश्य से न की जा रही हों।
4. प्रिवी पर्स सीमित होना चाहिए। जहां वार्षिक आय 10 और 15 लाख रुपये के बीच में हो, वहां प्रिवी पर्स आय के दसवें भाग से अधिक न होना चाहिए। और किसी भी दशा में वह 3 लाख रुपये वार्षिक से अधिक न होना चाहिए। इसमें शासक के सभी निजी खर्चे (उदाहरणार्थ, राजभवन के खर्चे, कार, अश्वशाला, शासक के अतिथि) शमिल होने चाहिए। उन खर्चों को छोड़ा जा सकता है जो सार्वजनिक कार्यों की पूर्ति में हुए हों, पर ऐसे कार्यों का स्पष्ट उल्लेख होना चाहिए।
5. न्यायपालिका स्वतन्त्र और स्थायी तथा सब प्रकार के हस्तक्षेप से मुक्त

[1]कांग्रेस का इतिहास (हिस्ट्री आफ दी कांग्रेस)—पृ० 43

होनी चाहिए। न्याय-व्यवहार की एकरूपता तथा पूर्ण निष्पक्षता के निश्चय के लिए, उस प्रान्त के उच्च न्यायालय में, जिसमें सम्बन्धित रियासत स्थित हो, अपील करने का अधिकार होना चाहिए। उच्च न्यायालय सम्बन्धी कानून में परिवर्तन किये बिना यह सम्भव नहीं हो सकता, परन्तु, मेरे विचार से, यदि रियासतें राजी हो जायें, तो परिवर्तन आसानी से हो सकता है।"[1]

जिस लेख में गांधी जी ने यह प्रश्न उठाया और उसका उत्तर दिया, उसी लेख में उन्होंने राजाओं से भी कुछ शब्द कहे। लेख के अन्त में उन्होंने राजाओं से कहा कि वे "कांग्रेस को देश में एक छोटी शक्ति न समझें।"

इन गतिविधियों से, रियासतों के अन्दरूनी मामलों में कांग्रेस की हस्तक्षेप न करने की नीति में तो नया परिवर्तन हो ही रहा था; राजकोट की घटनाओं ने, जिनके कारण गांधी जी को उपवास करना पड़ा और वाद में वाइसराय लार्ड लिनलिथगो को हस्तक्षेप करना पड़ा, उस परिवर्तन को पुष्ट कर दिया, जो परिस्थितियों के कारण एक ओर कांग्रेस की नीति में और दूसरी ओर सर्वोच्च सत्ता के, कम से कम छोटी रियासतों सम्बन्धी, रुख में हो गया था। इस से यह भी सिद्ध हो गया कि प्रान्तों में पद-ग्रहण करने के वाद कांग्रेस की प्रतिष्ठा वढ़ गयी थी और वाइसराय भी उसकी इच्छाओं को नजरन्दाज नहीं कर सकता था। जव आन्दोलन वढ़ा तो राजकोट में स्वयंसेवकों की वाढ़ आगयी। ये स्वयंसेवक वम्बई प्रेसीडेंसी से आये थे, जो कांग्रेस शासन के अन्तर्गत थी। प्रान्तीय सरकार वम्बई से चलाये जाने वाले आन्दोलन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहती थी। वाहर से आने वाले आन्दोलनकारियों की वाढ़ को रोकने में असमर्थ होने के कारण तथा सर्वोच्च सत्ता से सहायता के लिए की गयी प्रार्थना के व्यर्थ चले जाने के कारण, राजकोट के ठाकुर और दीवान को अन्त में हार माननी पड़ी।

इस मामले ने वढ़ कर एक वड़े संकट का रूप ले लिया, जिसे न तो वम्बई सरकार और न सर्वोच्च सत्ता ही उपेक्षित कर सकी। यह रियासती जनता के लिए स्पष्ट संकेत था कि रियासतों में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लिए उसकी मांग में कांग्रेस पूर्णतया उसकी पीठ पर है। इस वात के प्रमाण हैं कि जिस प्रकार लार्ड लिनलिथगो को आभास मिल गया था, उसी प्रकार कुछ राजाओं को भी इस वात का आभास मिल गया था कि यदि रियासतों में कुछ दूरगामी सुधार न किये गये, तो वे कांग्रेस के आन्दोलन के सामने शीघ्र ही नतमस्तक हो जायेंगी।

---

[1]एम० के० गांधी—दी इंडियन स्टेट्स प्राव्लम —पृ० 342-343

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि यदि द्वितीय विश्वयुद्ध बाधा न डालता और प्रान्तों में कांग्रेस का शासन कुछ साल और बना रहता, तो रियासतों को ब्रिटिश भारत में मिलाने का काम, जो सरदार पटेल ने स्वतन्त्रता के बाद 1947 में आरम्भ किया, लगभग निश्चित रूप से कम से कम सात साल पहले ही आरम्भ हो जाता।

अब गाड़ी रास्ते पर आ गयी थी। 6 और एक बार 8 प्रान्तों में सत्ता पर अधिकार हो जाने के कारण, कांग्रेस शक्तिशाली बन गयी थी और उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी। सम्राट् के प्रतिनिधि तथा राजनीतिक विभाग को भी, रियासतों के सम्बन्ध में ऐसा कोई काम करने से पहले सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता था, जिसे कांग्रेस एक संगठन के रूप में नापसन्द करती थी। सितम्बर 1939 में यूरोप में युद्ध की घोषणा से यह स्वस्थ प्रवृत्ति अकस्मात् अवरुद्ध हो गयी। इसके कारण, प्रान्तों में कांग्रेस मन्त्रि-मण्डलों को त्यागपत्र देना पड़ा और सर्वोच्च सत्ता को एक बार फिर राजाओं को पूर्ण सुरक्षा का आश्वासन देकर बगल में लेने की छूट मिल गयी। राजाओं ने भी अपनी प्रजा और उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लिए उसकी मांग के प्रति अपना वही पहला रवैया अख्त्यार कर लिया। युद्ध के कारण जो आपात स्थिति पैदा हो गयी थी, उससे उन्हें अपने उन समस्त आश्वासनों को भी भंग करने का मौका मिल गया, जो उन्होंने अपनी प्रजा को दिये थे, और अब वे फिर पहले की तरह मस्ती से झूमने लगे।

1946 में, जब संविधान सभा में रियासतों के प्रतिनिधित्व के विषय में बातचीत आरम्भ हुई तो बिखरे हुए सूत्र फिर एकत्रित किये गये। इससे पहले, जवाहरलाल ने, उदयपुर में, अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद के सम्मेलन में, एक महत्त्वपूर्ण भाषण दिया था। उन्होंने 1939 में इस परिषद के लुधियाना अधिवेशन की अध्यक्षता भी की थी और उससे एक साल पहले करांची अधिवेशन में सक्रिय भाग लिया था। उन अवसरों पर उन्होंने जो भाषण दिये, वे भी कम महत्त्वपूर्ण न थे। परन्तु उदयपुर में वे केवल राजनीतिक और लोक नेता की हैसियत से ही नहीं, बल्कि राजमर्मज्ञ और व्यावहारिक प्रशासक की हैसियत से भी बोले, कारण, कुछ ही महीने पहले वे वाइसराय की प्रबन्ध-परिषद (एक्जीक्यूटिव कौंसिल) में उसके उपाध्यक्ष के रूप में शामिल हुए थे। उन्होंने समस्त रियासतों में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लिए वकालत की, और कहा कि जो रियासतें आर्थिक इकाइयां नहीं बन सकतीं, उन्हें निकटवर्ती प्रान्तों में मिल जाना चाहिए, दूसरी रियासतों में नहीं।

जब संयुक्त राज्य (यूनाइटेड किंगडम) में मजदूर दल सत्तारूढ़ हुआ, और भारत में राजनीतिक सुधारों के विषय में बातचीत चली, तो कांग्रेस ने हर विचार-विनिमय

के अवसर पर देसी रियासतों का प्रश्न उठाया। हम देख चुके हैं कि क्रिप्स मिशन ने रियासतों का उल्लेख संक्षेप में और नाममात्र को किया था। क्रिप्स योजना में केवल यह कहा गया था कि "कोई स्वतन्त्र रियासत संविधान पर दृढ़ रहना पसन्द करे या न करे, उसकी सन्धि व्यवस्था में उतना संशोधन बातचीत द्वारा करना जरूरी है, जितना नयी स्थिति में आवश्यक हो।" रियासतों को अपनी जनसंख्या के अनुपात में, संविधान सभा में, अपने प्रतिनिधि भेजने थे। यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि ब्रिटिश सरकार सम्राट् की सर्वोच्च सत्ता को किसी दूसरे दल को हस्तान्तरित नहीं करेगी। यद्यपि क्रिप्स मिशन फेल हो गया, पर उससे एक बात राजाओं के लिए स्पष्ट हो गयी; और वह यह, कि यदि रियासतों और ब्रिटिश भारत के हितों में कभी कोई विरोध हुआ, तो उस स्थिति में ब्रिटिश सरकार ब्रिटिश भारत के हितों पर अधिक ध्यान देगी और रियासतों तथा राजाओं को पीछे छोड़ने में भी नहीं हिचकिचायेगी।

1944-45 में, समस्त रियासतों का एक पृथक् संघ बनाने के यत्न किये गये। परन्तु यह योजना इतनी अव्यावहारिक थी कि न केवल कांग्रेस और रियासती जनता ने इसे ठुकराया, अपितु वाइसराय ने भी इसे ठीक न समझा। इसके बदले, लार्ड लिनलिथगो ने अपनी संयोजन-योजना (अटैचमेंट स्कीम) चलायी, जिसके अनुसार, काठियावाड़ और गुजरात की कुछ अर्ध-वैध अधिकारसम्पन्न रियासतें निकटवर्ती रियासतों में मिला दी गयीं।

युद्ध समाप्त होते ही, आन्तरिक समस्याओं पर फिर जोर दिया जाने लगा और सांविधानिक प्रश्न फिर उभड़ कर सामने आने लगे। मजदूर सरकार ने ब्रिटेन में जो बातचीत आरम्भ की थी, उसके बाद संसदीय शिष्टमण्डल और तत्पश्चात् मन्त्रि-मण्डल मिशन ने भारत का दौरा किया। अपने 15 मार्च 1946 के वक्तव्य में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एटली ने यह स्पष्ट कर दिया कि "प्रगति पर स्थायी निषेधाधिकार नहीं दिया जा सकता, और मैं एक क्षण के लिए भी यह विश्वास नहीं करता कि भारतीय राजा भारत की अग्रगति में बाधक बनना चाहेंगे।" जब तक मन्त्रिमण्डल मिशन इस देश में रहा तब तक तेज गतिविधियां होती रहीं। सम्मेलनों, बैठकों और मुलाकातों का तांता लगा रहा, परन्तु मिशन ने रियासती जनता से भेंट तक नहीं की। लेकिन मिशन के मन में यह बात बिलकुल स्पष्ट थी कि ब्रिटिश भारत के स्वतन्त्र होने के बाद, चाहे वह ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में रहे चाहे उससे बाहर, रियासतों और ब्रिटिश सम्राट् के मध्य जो सम्बन्ध अब तक रहा चला आया है, वह आगे नहीं रह सकेगा। अतः उसने रियासतों को सलाह दी कि वे भावी भारत सरकार के साथ नया सम्बन्ध स्थापित

करने की बात सोचें और यदि भारत विभाजित हो जाय, तो उस स्थिति में किसी एक देश-खंड में मिलने का प्रयत्न करें। उसने उनको संविधान सभा में शामिल होने की भी सलाह दी, और उसके लिए एक समझौता-समिति (निगोशियेटिंग कमेटी) बना दी गयी। रियासती सन्धियों और सर्वोच्च सत्ता सम्बन्धी ज्ञापन में, मन्त्रिमण्डल मिशन ने कहा कि सत्ता हस्तान्तरण के दिन से ही सम्राट् की सरकार सर्वोच्चता के अधिकारों का प्रयोग बन्द कर देगी।

कांग्रेस का पक्ष आदि से अन्त तक यही रहा कि संविधान सभा में जनता के प्रतिनिधि भेजे जायें, राजाओं के नामजद व्यक्ति नहीं। व्यक्तिगत रूप से गांधी जी ने और कांग्रेस कार्यसमिति ने भी इस विचार का समर्थन किया। बाद में जो व्यवस्था की गयी, उससे रियासती जनता को संविधान सभा में अपने प्रतिनिधि भेजने का कुछ अधिकार मिल गया।

मन्त्रिमण्डल मिशन की भारत यात्रा के बाद, फिर गतिविधियां आरम्भ हुईं। कुछ रियासतों के राजाओं ने अपने क्षेत्रीय संघ बनाने का प्रयत्न किया। इनमें दक्षिण की रियासतें तथा गुजरात की रियासतों के राजा प्रमुख थे। परन्तु इन राजाओं ने प्रजा की इच्छा जानने और उनका समर्थन प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। जब ये राजा गांधी जी का आशीर्वाद प्राप्त करने गये, तो गांधी जी ने यह कह कर उन्हें झिड़क दिया, कि जब तक प्रत्येक राजा अलग-अलग अपनी प्रजा को उत्तरदायित्व पूर्ण शासन प्रदान नहीं करता तब तक उनके संघ बनाने से कोई लाभ नहीं।

अन्त में जवाहरलाल नेहरू की वह प्रसिद्ध घोषणा सामने आयी, जो उन्होंने, अप्रैल 1947 में, अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद के वार्षिक और अन्तिम अधिवेशन में भाषण देते हुए की। उन्होंने घोषित किया कि जो रियासत संविधान सभा में भाग न लेगी, उसे देश शत्रु-रियासत समझेगा और उस रियासत को इस प्रकार शत्रु-रियासत समझे जाने के सभी परिणाम भुगतने होंगे।[1]

रियासती जनता के भविष्य के सम्बन्ध में कांग्रेस और उसके शीर्षस्थ नेताओं ने जो पक्ष ग्रहण किया था, उससे वह पूर्ण सन्तुष्ट थी। ब्रिटिश सरकार, भारत सरकार, राजाओं के प्रतिनिधियों और मुसलिम लीग के साथ जो लम्बी बातचीत चली, उसमें किसी भी समय कांग्रेस ने रियासती जनता के हितों को तथा भारत को शीघ्र मिलने वाली स्वतन्त्रता में समान भागीदार बनने की उसकी इच्छा को नजरन्दाज नहीं किया।

---

[1] वी० पी० मेनन—पृ० 75, 76

रियासती प्रजा परिषद्

अब हम फिर पीछे दृष्टिपात करते हैं और उन दिनों का ध्यान करते हैं, जब रियासती जनता अपना एक अखिल भारतीय संगठन बनाने में व्यस्त थी। 1920 से आरम्भ होने वाले दशक में, रियासतों की और सामान्य रूप से देशभर की प्रवृत्तियां, एक ऐसे केन्द्रीय संगठन की स्थापना की आवश्यकता की ओर असन्दिग्ध रूप से संकेत कर रही थीं, जो रियासतों में रहनेवाले सब लोगों का प्रतिनिधित्व कर सके तथा जो नागरिक स्वतन्त्रता एवं उत्तरदायित्वपूर्ण शासन के लिए उनके पक्ष का समर्थन कर सके। जैसा कि हम देख चुके हैं, कुछ रियासतों में सार्वजनिक संस्थायें पहले ही बन चुकी थीं। उनमें से अधिकांश कुछ समय तक फूली-फलीं, पर अन्त में सभी, आगे या पीछे, राजाओं की क्रोधाग्नि में भस्म हो गयीं। परन्तु उन्होंने एक काम बहुत अच्छा किया था। उन्होंने रियासती जनता को शिक्षित और अपने राजनीतिक अधिकारों के प्रति सजग बनाने में सहायता की थी। जन-आन्दोलनों को दबाने के लिए, राजा लोग जनता का दमन करते थे, और दमन से जन-असन्तोष की ज्वाला भड़कती थी, जिससे जनता की विरोध की इच्छाशक्ति को आवश्यक बल मिलता था।

आन्दोलन के जोर पकड़ते ही, उसका रूप बदलने लगा। अब तक अलग-अलग रियासतों में अलग-अलग प्रजा मण्डल थे, जो अपने-अपने क्षेत्रों में ही राजनीतिक कार्य पर ध्यान देते थे। परन्तु जैसे-जैसे पारस्परिक विचार-विनिमय की आवश्यकता बढ़ती गयी, वैसे-वैसे हित-साम्य की भावना भी जोर पकड़ने लगी। अब विभिन्न प्रजामण्डल आपस में मिल गये और उन्होंने क्षेत्रीय राजनीतिक परिषदें या प्रजामंण्डल बना लिए। स्वस्थ और प्रभावशाली नेतृत्व के कारण यह कार्य शीघ्र ही आगे बढ़ने लगा।

दक्षिण रियासत परिषद, काठियावाड़ रियासत राजनीतिक परिषद और राजपूताना सेवा संघ की स्थापना में उसी प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति थी। एक रियासत या रियासत-समूह की जनता के राजनीतिक अधिकारों के लिए काम करनेवाले ऐसे संगठनों ने सुधारों के लिए आन्दोलन को लगभग उसी स्तर तक पहुंचा दिया, जिस स्तर तक ब्रिटिश भारत में कांग्रेस उसे ले जा चुकी थी। सांगली रियासती प्रजा परिषद, भोर राजनीतिक परिषद, भावनगर प्रजा परिषद, कच्छ प्रजा परिषद, हैदराबाद

रियासती प्रजा परिषद, जंजीरा रियासती प्रजा परिषद, मिरज रियासती प्रजा-परिषद और ईदर प्रजा परिषद आदि अलग-अलग रियासतों की सभी प्रजा परिषदें इसी नयी भावना को अभिव्यक्त करती थीं। अलग-अलग रियासतों में ऐसे संगठन बन जाने से, यह बिलकुल स्वाभाविक था कि एक क्षेत्र की अथवा एक भौगोलिक समूह की रियासतों में सामान्य समस्याओं पर आपस में मिलकर विचार विनिमय हो।

अतीत में, रियासती जनता में शान्ति और सन्तोष की भावना व्याप्त हो गयी थी। कम से कम ऊपर से देखने पर ऐसा जरूर मालूम पड़ता था। रियासतों में सब प्रकार की स्वस्थ सार्वजनिक गतिविधियों के अपेक्षाकृत अभाव के कारण, जनता आंखें मूंद कर कष्ट झेलती रही। परन्तु 1920 के बाद ऐसी घटनायें घटीं, जिन्होंने रूढ़िवाद और आत्मतोष के किले उखाड़ कर फेंक दिये। सभी अस्वाभाविक दीवारें टूट-टूट कर गिरने लगीं। शान्ति और जड़ता का स्थान जिज्ञासा और आश्चर्य की भावना ने ले लिया। सभी सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में बेचैनी और स्वस्थ असन्तोष के भाव उभड़ने लगे तथा स्वतन्त्र विचारधारा के लोगों की आत्मा, सांविधानिक सरकार और न्यायानुकूल शासन के लिए, एक विचित्र उत्कण्ठा से अभिभूत हो गयी। वैसे ही अधिकारों के उपभोग की इच्छा ने, जैसे उनके भाइयों द्वारा ब्रिटिश भारत में निरन्तर अधिकाधिक मात्रा में उपयुक्त हो रहे थे, तथा प्रगति की दौड़ में उनके साथ हाथ में हाथ मिला कर आगे बढ़ने की उत्सुकता ने, लोगों के हृदयों को झकझोर दिया था। बाद के वर्षों में, यह परिवर्तन रियासती प्रजा परिषद के अधिवेशनों में, जो लगभग प्रतिवर्ष कांग्रेस के अधिवेशनों के साथ ही होने लगे थे, परिलक्षित होने लगा। अब भारतीय और ब्रिटिश समाचारपत्र भी इस समस्या में अधिक रुचि लेने लगे। पहले की तरह पिछले पृष्ठ पर डालने के बजाय अब वे उसे अधिक स्थान देने लगे।

जिस समय रियासती जनता के आन्दोलन का दूसरा दौर शुरू हुआ, उस समय उसके कई सार्वजनिक संगठन ब्रिटिश भारत में रह कर काम कर रहे थे। जब विभिन्न रियासतों से आये लोग आपस में मिलते थे और अपनी समस्याओं पर विचार करते थे तो वे यह सोचा करते थे कि उनका प्रतिनिधित्व करने के लिए वैसा ही एक अखिल भारतीय संगठन होना चाहिए जैसा कि ब्रिटिश भारत की जनता का प्रतिनिधित्व करने के लिए तथा उसके भावों और इच्छाओं को व्यक्त करने के लिए कांग्रेस संगठन है।

कई ऐसी बातें थीं, जिनसे रियासती जनता को अपनी योजनायें आगे बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन मिला। प्रथम असहयोग आन्दोलन ने, जो कांग्रेस ने 1920 में आरम्भ किया था, ब्रिटिश भारत में रहनेवाले अपने भाइयों के उदाहरण का अनुकरण करने के लिए उनमें उत्साह की एक लहर दौड़ा दी। यद्यपि कांग्रेस केवल प्रान्तों की ओर से ही बोलती थी और रियासती जनता की मांगों से अपने आप को अलग रखती थी, फिर भी सत्ता की अवज्ञा और कांग्रेसजनों द्वारा की जानेवाली प्रत्यक्ष सविनय अवज्ञा से रियासती जनता को बहुत प्रेरणा मिली। प्रान्तों में आयोजित राजनीतिक सम्मेलनों में, भारत के लिए स्वतन्त्रता की मांग करते समय, वक्ता लोग ब्रिटिश भारत और भारतीय भारत में कोई भेद न करते थे। इस सम्बन्ध में रियासती जनता जानती थी और महसूस भी करती थी कि कांग्रेस जिस स्वतन्त्रता संग्राम को चला रही थी, उसमें रियासती क्षेत्रों को सर्वथा अछूता नहीं छोड़ा गया था। गांधी जी के नेतृत्व ने भी रियासतों के बहुत से लोगों को कांग्रेस की ओर आकृष्ट किया। ब्रिटिश भारत के लोगों के साथ, उन्होंने भी कांग्रेस के लिए काम किया, वे भी जेल गये और उन्होंने भी तरह-तरह की तकलीफें उठायीं। इसलिए यह स्वाभाविक था कि रियासतों के लोग अपना एक समानान्तर संगठन बनाने के लिए उत्साहित हों, जिससे कि वे भी अपने शासकों के विरुद्ध वैसा ही संघर्ष छेड़ सकें।

दूसरे, कांग्रेस के रियासती जनता के मामलों में प्रत्यक्ष भाग लेने से इन्कार कर देने से, उसे अपने पैरों पर खड़ा होने तथा अपना निजी संगठन बनाने के लिए बाध्य होना पड़ा। परन्तु रियासती जनता यह भलीभांति जानती थी कि कांग्रेस उससे सहानुभूति रखती है, पर वस्तुतः कुछ सैद्धान्तिक कारणों से वह उसकी ओर से डंडा उठाने की स्थिति में नहीं है।

कांग्रेस का यह रुख रियासत के लोगों के लिए वरदान सिद्ध हुआ। इससे उन्हें ऐसा मंच तैयार करने के लिए बाध्य होना पड़ा, जहां वे अपनी समस्याओं पर विचार कर सकते थे। उनकी मांगों के प्रति कांग्रेस के रुख के विरुद्ध उनकी प्रतिक्रिया चाहे कुछ भी रही हो, उन्हें यह विश्वास हो गया था कि रियासतों में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन और नागरिक स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष अब उन्हीं को करना पड़ेगा। अतः इस उद्देश्य की पूर्ति में अब वे पूरी तत्परता से जुट गये।

तीसरे, प्रेस अधिनियम के निरसन और बाद के संशोधनों ने, जिनके द्वारा राजाओं के विरुद्ध राजद्रोहात्मक लेख दण्डनीय अपराध करार दे दिये गये, रियासती जनत को अपने सबसे अच्छे सहायकों और समर्थकों, ब्रिटिश भारत के समाचारपत्रों, से

वंचित कर दिया।[1] ब्रिटिश भारत के पत्रों में ही वह शक्ति थी, जो अपने व्यापक प्रभाव के कारण, राजाओं पर कुछ नियन्त्रण रखती थी। रियासतों में न तो कोई प्रभावशाली समाचारपत्र था और न जनमत। उनके मामलों पर ब्रिटिश भारत के विधानमण्डलों में विचार भी नहीं हो सकता था। यह ध्यान देने योग्य बात है कि अपने लम्बे इतिहास में रियासतें एक भी लोकप्रिय स्वतन्त्र दैनिक समाचारपत्र रखने का गौरव प्राप्त न कर सकीं। प्रेस की स्वतन्त्रता का विचार इतना क्रान्तिकारी माना जाता था कि वह उनके उद्देश्यों और आदर्शों से मेल ही नहीं खाता था। इस प्रकार, और कोई विकल्प न रह जाने से, रियासती जनता ने अपने भावों को व्यक्त करने तथा अपनी शिकायतों को सामने लाने के लिए, अपनी एक निजी संस्था बनाने का निश्चय किया।

चौथे, मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार, जो ब्रिटिश भारत में लागू होने वाले थे, जब प्रकाशित हुए, तो रियासतों का राजनीतिक वातावरण एक दम क्षुब्ध हो गया। इन सुधारों के प्रति ब्रिटिश भारत के लोगों की तात्कालिक प्रतिक्रिया चाहे जैसी रही हो, इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सुधार के प्रस्ताव राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से पर्याप्त दूरगामी थे। ब्रिटिश भारत के नेताओं द्वारा द्वैध शासन की आलोचना किये जाने से रियासती जनता में ईर्ष्या पैदा हो गयी। इसके बाद हुई

---

[1] प्रेस अधिनियम के निरसन और तत्पश्चात् राजा-संरक्षण अधिनियम (प्रिंसेज प्रोटेक्शन एक्ट) के निर्माण का उल्लेख करते हुए, सी० वाई० चिन्तामणि, अपने "इंडियन पोलिटिक्स सिन्स दी म्यूटिनी" में पूछते हैं—"किस व्यक्ति से संरक्षण और किस वस्तु से संरक्षण ? अधिकांश रियासतों में जनता मौलिक राजनीतिक अधिकारों से भी वंचित है। उसे सार्वजनिक सभा करने का कोई अधिकार नहीं है, उसका कोई स्वतन्त्र समाचार पत्र नहीं है, कोई प्रतिनिधिमूलक संस्था नहीं है, कोई स्वतन्त्र न्यायपालिका नहीं है। भारतीय रियासती प्रजा परिषद को अपना अधिवेशन ब्रिटिश भारत में करना पड़ता है। रियासती जनता को अपनी शिकायतें प्रकाशित करने के लिए मुख्य रूप से ब्रिटिश भारत के समाचारपत्रों पर निर्भर रहना पड़ता है। राजाओं ने, सम्पूर्ण रूप से अपनी राजनीतिक मनोवृत्ति में परिवर्तन का कोई प्रमाण नहीं दिया। हर बार वे अपने हाथों में निरंकुश अधिकार रखने का आग्रह करते हैं। फिर भी, भारत सरकार, उन्हें अपनी प्रजा के कष्टों को दूर करने के लिए तथा उसे राजनीतिक अधिकारों का अल्पांश मात्र प्रदान करने के लिए राजी करने के बजाय, दो बार कानूनों द्वारा ब्रिटिश भारत के समाचारपत्रों में होनेवाली आलोचना से बचाने के लिए उद्यत हुई है।"—पृ० 110

वाइसराय की घोषणाओं और नरेन्द्रमण्डल[1] के उद्घाटन का भी राजनीतिक दृष्टि से पर्याप्त महत्त्व था। इन सब का प्रभाव रियासती जनता पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। नरेन्द्र मण्डल की स्थापना का एकमात्र समुचित उत्तर रियासती जनता द्वारा अपने अखिल भारतीय राजनीतिक संगठन की स्थापना ही हो सकता था।

इस प्रकार, समस्त रियासती जनता का प्रतिनिधित्व करने वाले एक संगठन की स्थापना एक अनिवार्य आवश्यकता हो गयी। इसकी आवश्यकता इसलिए और भी अधिक बढ़ गयी, कि नरेन्द्रमण्डल के जन्म के बाद, राजवर्ग राजनीतिक व्यवहार के संशोधन की आवश्यकता पर बल देने लगा था, और सम्राट् से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना चाहता था। ब्रिटिश भारत में सार्वजनिक आलोचना से विशेष संरक्षण और पूर्ण बचाव चाहने के उसके प्रयत्न का अर्थ था एकमात्र उस माध्यम को भी बन्द कर देना, जिसके द्वारा रियासती जनता अपनी शिकायतें व्यक्त कर सकती थी।

दक्षिण रियासत संघ के मन्त्रियों के निमन्त्रण पर, रियासतों के मामलों में रुचि रखने वाले अनेक प्रमुख कार्यकर्त्ता, 5 मार्च 1922 को, पूना में, भारत सेवक समाज के कार्यालय में मिले। एन० सी० केलकर ने बैठक की कार्रवाई का उद्घाटन किया और कहा कि सम्पूर्ण देश की प्रगति के लिए रियासतों की प्रगति आवश्यक है। उन्होंने बताया कि किस प्रकार रियासती जनता की नयी-नयी समस्यायें पैदा होती जा रही हैं और किस प्रकार वह बाबा आदम के जमाने की पुरानी प्रशासन-पद्धतियों के नीचे पिस रही है—सब से बुरी पद्धति पूर्णतया सामन्तशाही ढंग की है और सबसे अच्छी प्रबुद्ध स्वेच्छाचारिता से अच्छी नहीं। एक अखिल भारतीय रियासत परिषद बनाने के प्रश्न पर विचार हुआ और निश्चय हुआ कि कुछ महीने बाद एक अखिल भारतीय रियासती प्रजा सम्मेलन किया जाय।

इस बैठक में जो प्रश्न उठे, उन पर किसी न किसी रूप में चार साल तक विचार होता रहा। ये चारों साल निश्चय ही शिक्षाप्रद और महत्वपूर्ण रहे, क्योंकि इसी अवधि में जनता की समस्यायें प्रकाश में आयीं और उसमें अपार जागरूकता पैदा हुई। परन्तु एक अखिल भारतीय संस्था बनाने के प्रयत्न अभी सफल न हो सके और निराशा की दबी हुई भावना जारी रही।

इस दिशा में अगला कदम 1926 में उठाया गया। एक बार फिर एक अखिल

---

[1] नरेन्द्रमण्डल का उद्घाटन कनाट के ड्यूक ने दिल्ली के लाल किले में फरवरी 1921 में किया था।

भारतीय रियासती प्रजा सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में संगठन-कार्य से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक विषयों पर विचार हुआ। सम्मेलन ने एक घोषणा-पत्र प्रकाशित किया, जिसमें और बातों के अलावा यह भी कहा गया कि भारतीय संघ का आदर्श, जिसमें ब्रिटिश प्रान्त और भारतीय रियासतें समानता के आधार पर मिलेंगी, केवल रियासतों में जनता की राजनीतिक प्रगति विषयक अधिक जागरूकता पर ही आधारित हो सकता है। सम्मेलन में यह विचार प्रकट किया गया कि रियासती जनता को ऐसी राजनीतिक और प्रतिनिधिमूलक संस्थायें बनानी चाहिए और ऐसी शासन-प्रणाली के लिए प्रयत्न करना चाहिए, जो उसे समुचित ढंग से शेष भारत के समान स्तर तक ला सके। सम्मेलन ने समस्त रियासतों की जनता का एक सम्मेलन जनवरी 1927 में बुलाने का भी निश्चय किया। परन्तु यह निश्चय क्रियान्वित न हो सका। तब रियासतों के कार्यकर्ता, अप्रैल 1927 में, फिर मिले और उन्होंने आपस में विचार विनिमय किया। अब तक साइमन कमीशन की नियुक्ति हो चुकी थी, जिसके कारण रियासतों की घटनाओं में नया मोड़ आ गया था और रियासती जनता को एक प्रामाणिक संगठन बनाने की अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होने लगी थी। कार्यकर्त्ता-सम्मेलन ने कमीशन के सामने प्रस्तुत करने के लिए एक आवेदनपत्र तैयार किया, जिसमें उसने देशी रियासतों में राजनीतिक प्रगति के उद्देश्य पर प्रकाश डाला और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपाय भी सुझाये। सम्मेलन ने निम्नलिखित घोषणापत्र स्वीकार किया, जिसे उसने उपस्थित व्यक्तियों के हस्ताक्षरों के साथ छपवाया :—

> "समस्त देशी रियासतों की जनता के ऐसे सम्मेलन का मुख्य उद्देश्य यह मांग करना और उसे प्राप्त करना होना चाहिए कि देशी रियासतों को, समस्त राष्ट्रीय मामलों में, एक सामान्य भारतीय राष्ट्र का अविभाज्य अंग और उस भाग के मुख्य प्रान्तों के बराबर समझा जाय, जिसे ब्रिटिश भारत कहते हैं, तथा वे, अपने-अपने शासकों के संरक्षण में, शासन में उत्तरदायित्व एवं शासन-संस्थाओं में प्रतिनिधित्व के वैसे ही आधारभूत सिद्धान्तों पर आश्रित हों, जैसे ब्रिटिश भारत में देखे जाते हैं।"

रियासती जनता के प्रतिनिधि समय-समय पर मिलते रहे और अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद के संगठन के लिए काम करने लगे। विभिन्न बाधाओं के कारण काफी विलम्ब के बाद, 20 नवम्बर 1927 को, जी० बी० त्रिवेदी की अध्यक्षता में, रियासती प्रजा की कार्य-समिति की बैठक बुलाना सम्भव हो सका। इस बैठक में

देश के विभिन्न भागों से आये 26 कार्यकर्ताओं ने भाग लिया। ये कार्यकर्त्ता रियासती प्रजा की कार्यसमिति के सदस्य माने जाते थे। विचार का मुख्य विषय स्वभावतः एक अखिल भारतीय संगठन बनाना और उसका पहला अधिवेशन बुलाना था। इस समिति की प्रार्थना पर, भावनगर रियासत के प्रतिनिधि और भावनगर रियासती प्रजा परिषद के मन्त्री, बलवन्तराय मेहता, संगठन और उसके अधिवेशन के लिए, अपना सारा समय और शक्ति लगाने के लिए तैयार हो गये। निश्चय हुआ कि अधिवेशन दिसम्बर के तीसरे सप्ताह में किया जाय।

बीच के महीनों में गतिविधियां अधिक तेज हो गयीं। उपसमिति ने अपना काम पूरी तत्परता से करना शुरू कर दिया। उसने रियासती और क्षेत्रीय स्तर पर अनेक सम्मेलनों का आयोजन किया।[1] बलवन्तराय मेहता के अथक प्रयत्नों और सुसमन्वित कार्य ने विभिन्न रियासतों की जनता का यथेष्ट पथ-प्रदर्शन किया। मेहता के कार्यालय से जारी की गयी पुस्तिकाओं, पत्रकों और बुलेटिनों की भरमार से प्रेस पट गये। मंच से और प्रेस से लोगों का ध्यान रियासती जनता की शिकायतों और इच्छाओं की ओर खींचा गया और उस पर केन्द्रित किया गया। देश में, रियासतों के सात करोड़ निवासियों के प्रति उत्तरदायिता की भावना जागृत हुई इनमें से अधिकांश भाई दीनता का जीवन बिता रहे थे। प्रान्तों में रियासती जनता के प्रति अपार सहानुभूति पैदा हो गयी।

रियासती प्रजा परिषद का प्रथम अधिवेशन

इस प्रकार पृष्ठभूमि तैयार हो जाने पर, अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद का पहला अधिवेशन, 17 दिसम्बर 1927 को, बम्बई में, किया गया। इसमें 1500 से अधिक व्यक्ति शामिल हुए। इनमें 750 तो स्वागत समिति के सदस्य थे और शेष प्रतिनिधि और दर्शक थे जो 70 से भी अधिक रियासतों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। दीवान बहादुर रामचन्द्र राव प्रथम अधिवेशन के अध्यक्ष थे और गोविन्दलाल शिवलाल मोतीलाल स्वागत समिति के अध्यक्ष थे। अध्यक्षीय भाषण और स्वागताध्यक्ष के स्वागत भाषण में परिषद के लक्ष्यों और उद्देश्यों की व्याख्या की गयी, और उसके

---

[1]उदाहरणार्थ, इसके तुरन्त बाद, उड़ीसा की रियासतों, काठियावाड़ की रियासतों, दक्षिण की रियासतों और त्रावणकोर रियासत की जनता ने राजनीतिक सम्मेलन किये।

बाद रियासतों में व्याप्त भ्रष्टाचार और स्वेच्छाचार के चुने हुए उदाहरण पेश किये गये। मोतीलाल ने रियासती अदालतों के फैसलों पर अंकुश रखने के लिए सर्वोच्च न्यायालय की आवश्यकता पर बल दिया। अपील के लिए सर्वोच्च न्यायालय की स्थापना उनके विचार से रियासती प्रजा के लिए लोकतन्त्रीय शासन सुलभ बनाने की दिशा में पहला ठोस और स्पष्ट कदम था। उन्होंने सुझाव दिया कि समस्त छोटी रियासतों को लोकतन्त्रीय आधार पर मिल कर एक हो जाना चाहिये।

रामचन्द्र राव ने अपने अध्यक्षीय भाषण में ब्रिटिश सरकार की प्रतिरक्षा, राजस्व और अफीम नीति का उल्लेख किया और भारत सरकार की नीति का समर्थन किया। उन्होंने रियासतों की हृदय द्रावक परिस्थितियों का रोमांचकारी चित्र खींचा और रियासती जनता के कष्टों का पता लगाने के लिए एक जांच समिति नियुक्त करने के पक्ष में प्रबल तर्क उपस्थित किए। उन्होंने रियासती जनता को सलाह दी कि वह ब्रिटिश भारत के समस्त राजनीतिक संगठनों से सहयोग प्राप्त करे। उन्होंने कहा :—

"मैं यह विश्वास नहीं करता कि देशी रियासतों में ऐसा कोई व्यक्ति है, चाहे राजा चाहे किसान, जो हृदय से इन आदर्शों को स्वीकार न करेगा तथा जो इन्हें प्राप्त करने की यथाशक्ति कोशिश न करेगा। भारत के राजनीतिक भाग्य का एक महान् स्वप्न, भारत भर में, सब श्रेणियों के लोगों के मनों को अभिभूत किये हुए है और इस मुख्य प्रश्न पर ब्रिटिश भारत और रियासतों की जनता में न कोई मतभेद है और न हो सकता है। स्वतन्त्र, दृढ़, संयुक्त, स्वशासी और स्वावलम्बी भारत हमारा उद्देश्य भी है और आदर्श भी। इसलिए, रियासती जनता को हमारे राष्ट्रीय आदर्शों से परिचित कराने में आपकी सेवायें अमूल्य हैं, और यह परिषद रियासतों का ब्रिटिश भारत की राजनीतिक गतिविधियों के साथ सामान्य समन्वय स्थापित करने की पूरी कोशिश कर रही है। कांग्रेस, मुसलिम लीग, राष्ट्रीय उदार संघ (नेशनल लिबरल फेडरेशन), हिन्दू महासभा तथा ब्रिटिश भारत के अन्य राजनीतिक संगठन, अब भारत के लिए एक नये संविधान के प्रश्न पर विचार करने में सक्रिय रूप से व्यस्त हैं। अखिल भारतीय कांग्रेस समिति ने, देश के विभिन्न राजनीतिक दलों के परामर्श से योजना बनाने का काम कांग्रेस कार्य-समिति को सौंप दिया है। मैं सविश्वास आशा करता हूं कि यह समिति तथा अन्य राजनीतिक संगठन, नये संविधान में देशी रियासतों की स्थिति को अपरिभाषित छोड़ कर, केवल ब्रिटिश भारत के ही सम्बन्ध में प्रस्ताव तैयार करके सन्तुष्ट नहीं हो जायेंगे। यह बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण होगा। इसलिए

यह अत्यधिक वांछनीय है कि इस परिषद की प्रवन्ध-समिति, ब्रिटिश भारत के राजनीतिक संगठनों का सहयोग अविलम्ब प्राप्त करे और सम्पूर्ण भारत के लिए नया संविधान तैयार करने में उनका साथ दे।"

अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद का प्रथम अधिवेशन पूर्ण सफल रहा। इसने रियासती जनता की उत्तरदायी शासन और नागरिक स्वतन्त्रता की मांग को ऊपर ला कर रख दिया। विभिन्न रियासतों के प्रतिनिधियों ने उन कठिनाइयों और समस्याओं के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये, जिनका सामना रियासती जनता को करना पड़ रहा था। जोधपुर के जयनारायण व्यास ने इस बात पर बल दिया कि परिषद का मुख्य उद्देश्य, देशी रियासतों में, शासकों के संरक्षण में प्रतिनिधिमूलक संस्थाओं के माध्यम से, उत्तरदायी शासन की मांग होना चाहिए। डी० वी० गोखले ने राजाओं को चेतावनी दी कि वे अपनी प्रजा को विरोधी बनाने का खतरा मोल न लें। उन्होंने कहा कि राजा लोगों को यह भलीभांति समझ लेना चाहिए कि वे अपनी प्रजा की भलाई के लिए हैं। यदि वे ऐसा न समझेंगे, तो अन्त में उनकी भी वही दशा होगी, जो समस्त संसार के अत्याचारी शासकों की हुई है। अमृतलाल ठाकर, जमनालाल बजाज और मानकलाल कोठारी ने, समस्त रियासतों में, खद्दर, मद्यनिषेध और दलितोद्धार सम्बन्धी रचनात्मक कार्य के लिए संगठन बनाने की आवश्यकता पर बल दिया। अतिया बेगम ने प्रजा के सब लोगों को भाषण की स्वतन्त्रता, प्रेस की स्वतन्त्रता, तथा व्यक्ति और सम्पत्ति की सुरक्षा का अधिकार देने के लिए, राजाओं से सार्वजनिक घोषणा की मांग की। मणिलाल कोठारी ने विशेष रूप से अलवर और ईदर के राजाओं की इसलिए निन्दा की कि उन्होंने अपनी प्रजा को अधिकारों से वंचित कर दिया था और वे 'राजाओं के दैवी अधिकार' के सिद्धान्त पर चल रहे थे।

कुछ प्रतिनिधियों ने रियासतों में निर्वाचन के आधार पर विधानसभाओं की स्थापना करने और सार्वजनिक राजस्व को राजाओं के प्रिवी पर्सों से अलग करने की भी मांग की। राम नारायण चौधरी और राघवेन्द्र राव ने घोषणा की कि अपनी सरकार के स्वरूप और प्रकार का निश्चय करना जनता का स्वभावसिद्ध अधिकार है। दयालाल पुरोहित ने मांग की कि देशी रियासतों की जनता को उन सभी मामलों में एक निश्चित स्थान दिया जाय और अपनी बात को प्रभावशाली ढंग से कहने का अवसर दिया जाय, जो समस्त भारत के लिए बनाये जानेवाले संविधान से सम्बन्धित हों। प्रोफेसर जी० आर० अभ्यंकर ने कहा कि भारतीय राजाओं का यह तर्क कि उनके ब्रिटिश सम्राट् के साथ सीधे सन्धि-बन्धन हैं, जिनका भारत सरकार से कोई

सम्बन्ध नहीं है, वास्तव में सर्वथा निराधार है। उन्होंने कहा कि राजाओं की भारत सरकार को धोखा देने की चाल जनता के हितों के लिए घातक है।

शिवदास चम्पाय ने अपने भाषण में राजाओं का दर्जा निश्चित करने के लिए बटलर-समिति की नियुक्ति की आलोचना की। अर्जुनलाल सेठी, वी० एस० पाठिक और जी० बी० त्रिवेदी ने भी राजाओं की प्रार्थना पर बटलर-समिति नियुक्त करने का विरोध किया। उन्होंने घोषणा की कि इस समिति के निष्कर्ष और सुझाव रियासती जनता को स्वीकार्य न होंगे। अर्जुनलाल सेठी ने कांग्रेस से कहा कि वह रियासती जनता का मामला अपने हाथ में ले ले और बटलर-समिति को भारतीय मामलों में हस्तक्षेप न करने दे। उन्होंने जनता से अपील की कि वह साइमन कमीशन और बटलर-समिति का बहिष्कार करके उन्हें समुचित उत्तर दे।

बी० एस० पाठिक ने महाराजा पटियाला और महाराजा अलवर के व्यक्तिगत जीवन और उनके भोग-विलास के बारे में एक लम्बा वक्तव्य दिया। पोपटलाल चुदगर ने रियासतों के अन्दरूनी मामलों में सर्वोच्च सत्ता के हस्तक्षेप का स्वागत किया। परन्तु उन्होंने कहा कि हस्तक्षेप की यह नीति किसी निश्चित सिद्धान्त पर आधारित नहीं है तथा साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के अतिरिक्त इसकी कोई युक्ति-युक्तता भी नहीं है। इस नीति के सिद्धान्त भली प्रकार निश्चित और प्रकाशित हो जाने चाहिए। उन्होंने कहा कि हर रियासतवासी का यह अधिकार है कि वह किसी भी रियासत में कुशासन के विरुद्ध विद्रोह की बात सोचे। सम्राट् का यह कर्त्तव्य है कि वह जनता की उचित शिकायतें दूर करने के लिए रियासतों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप करे।

बेगार की प्रथा, यूरोप की राजधानियों में अपना अधिकांश समय व्यतीत करने की राजाओं की प्रवृत्ति तथा राजकुमार कालेजों में अध्ययन की प्रथा की भी बहुत से वक्ताओं ने कटु आलोचना की।

प्रथम अधिवेशन के बाद

अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद के पहले अधिवेशन ने रियासतों में व्यक्तिगत और स्वेच्छाचारी शासन के अन्त के लिए चलाये जाने वाले आन्दोलन का रूप निश्चित कर दिया। परिषद ने अपने दो नेताओं मणिलाल कोठारी और वी० एस० पाठिक को, कांग्रेस के नेताओं से मिलने और रियासती जनता की मांग के प्रति उस संगठन का सक्रिय समर्थन प्राप्त करने के लिए नियुक्त किया। इस प्रयत्न के फलस्वरूप, मद्रास के कांग्रेस अधिवेशन (दिसम्बर 1927) ने, कांग्रेस के इतिहास में पहली वार, एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें रियासती जनता की उत्तरदायी शासन के लिए मांग का समर्थन किया गया। इस प्रस्ताव को सब क्षेत्रों से इतना अधिक समर्थन मिला कि इसे प्रति वर्ष पास करने की एक प्रथा सी हो गयी। इसके फलस्वरूप, कांग्रेस, अपने कलकत्ता, लाहौर, कराची आदि के वार्षिक अधिवेशनों में, रियासती जनता के प्रति अपने समर्थन को दुहराती रही।

रियासती जनता के मामलों में नेहरू समिति द्वारा सक्रिय रुचि प्रदर्शित करने और इस प्रश्न पर स्पष्ट पक्ष ग्रहण करने का एक कारण, रियासती प्रजा परिषद द्वारा पैदा की गयी जनमत की जागृति और उसके नेताओं की गतिविधियां थीं। परन्तु नेहरू रिपोर्ट राजाओं के लिए भी अहितकर न थी। उसने विचार-विनिमय के लिए एक नया मंच तैयार किया, और राजाओं, रियासती जनता तथा अन्य समझदार लोगों को उस सामान्य मंच पर मिलने और रियासती समस्या का एक सर्वग्राह्य हल निकालने के लिए आमन्त्रित किया। एक न्यायसंगत हल ढूंढ़ने के भारतीय नेताओं के प्रयत्न को राजाओं ने न केवल ठुकराया अपितु खुल कर उसकी मजाक उड़ाई। वे उस मेज पर वैठना, जिस पर उसकी प्रजा के प्रतिनिधि भी वैठे हों, अपने गौरव के प्रतिकूल समझते थे। उन्हें तो केवल अपने हितों की रक्षा की चिन्ता थी; प्रजा की मांगों पर तो वे ध्यान ही नहीं देना चाहते थे।

वटलर समिति द्वारा अपने शिष्टमण्डल से वात करने से दुवारा इन्कार कर दिये जाने के वाद, रियासती जनता ने देखा कि नरेन्द्रमण्डल और अलग-अलग राजा इंगलेंड में वटलर-समिति के सदस्यों को प्रभावित करने में लगे हुए हैं। उन्हींका अनुसरण करते हुए और उनके मिथ्या प्रचार का भण्डाफोड़ करने के लिए, अखिल भारतीय प्रजा परिषद ने भी अपने प्रतिनिधियों का एक शिष्टमण्डल इंगलेंड भेजने

का निश्चय किया। इस शिष्टमण्डल ने ब्रिटिश जनता को रियासतों के मामलों की वास्तविक स्थिति बता कर रियासती जनता के हित में बहुत बड़ा काम किया। शिष्ट मण्डल ब्रिटिश पार्लमेंट के सदस्यों से मिला, प्रमुख व्यक्तियों से मिला, समाचारपत्रों के प्रतिनिधियों से मिला और अनेक सार्वजनिक सभाओं में उसने भाषण दिये। इससे ब्रिटिश जनता की हृत्तन्त्री झंकृत हो उठी।

शिष्ट मंडल ने एक ज्ञापन भी तैयार करके ब्रिटिश जनता को दिया। इस ज्ञापन ने ब्रिटेन के राजनीतिक क्षेत्रों में रियासती जनता के हितों के प्रति अपार सहानुभूति और समर्थन की भावना पैदा कर दी। इसमें जनता के उन अधिकारों की मान्यता के लिए प्रबल तर्क उपस्थित किये गये थे, जिन्हें राजा लोग सर्वोच्च सत्ता की सहायता से कुचल देना चाहते थे। इसने राजाओं के, जो दर्जनों की संख्या में लन्दन के शानदार होटलों का चक्कर काट रहे थे, इस दावे का भण्डाफोड़ करके रख दिया कि हम अपनी प्रजा के प्रतिनिधि हैं। भारत लौटने से पहले, रियासती जनता के शिष्टमण्डल ने, लन्दन में ब्रिटिश जनमत जागृत करने तथा वहां रियासती प्रजा परिषद के अभिकरण के रूप में काम करने के लिए एक समिति बना दी।

अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद की एक बड़ी सफलता यह थी कि उसने रियासती जनता के मामले को इतनी दृढ़ता, पर साथ ही इतनी निष्पक्षता से, पेश किया, कि उसे दलगत राजनीति से अलग रखने में सफलता मिल गयी। भारत का सभी शिक्षित वर्ग उसके पक्ष का स्वेच्छा से समर्थन करने लगा। कांग्रेस और राष्ट्रीय उदार संघ तथा अन्य तटस्थ संगठनों और प्रमुख व्यक्तियों ने समान रूप से उसका समर्थन किया। रियासती प्रजा परिषद को महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, जमनालाल बजाज, सत्यमूर्ति तथा और भी कई कांग्रेसी नेताओं के अलावा, सर तेज बहादुर सप्रू, भारत सेवक समाज (सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी) के अमृतलाल ठक्कर, श्रीनिवास शास्त्री, सी० वाई० चिन्तामणि आदि अनेक गैर-कांग्रेसी नेताओं की पूर्ण सहानुभूति और सक्रिय समर्थन प्राप्त करने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ।

1928 में कलकत्ता में जो सर्वदल-सम्मेलन हुआ, उसमें अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने एक पृथक् संगठन के रूप में भाग लिया, जिससे यह प्रमाणित हो गया कि परिषद देश के राजनीतिक जीवन में एक सुदृढ़ और महत्त्वपूर्ण हित का प्रतिनिधित्व करने लगी है। परिषद द्वारा नियुक्त आठ सदस्यों के शिष्ट मण्डल ने उसका प्रतिनिधित्व किया था। शिष्टमण्डल ने सभी वादविवादों में भाग लिया और नेहरू

रिपोर्ट तथा उसमें की गयी सांविधानिक व्यवस्थाओं के लिए अपना पूर्ण समर्थन प्रदान किया।

अखिल भारतीय रियासती प्रजा परिषद की स्थापना और उसकी गतिविधियों के सम्बन्ध में राजाओं की प्रतिक्रिया, ब्रिटिश भारत के राजनीतिक क्षेत्रों के रुख से सर्वथा भिन्न थी। अपनी प्रजा को अपने खिलाफ अपने ही देश में नहीं, इंग्लैंड में भी, आन्दोलन करते देख कर राजा लोग अति क्रुद्ध हुए और उत्तेजित होने लगे। रियासती प्रजा की मांगों के प्रति उनका रुख, जो कभी सहानुभूति का नहीं रहा, रियासती प्रजा परिषद की शाखाओं के रूप में काम करनेवाले प्रजामण्डलों की गति विधियों के कारण और भी सख़्त हो गया। उनके क्रोध का तात्कालिक कारण यह था कि उनके प्रगतिशील और उदार शासक बनने के झूठे दावों की कलई उन्हीं की प्रजा ने खोल दी थी। राजाओं ने विश्वास खो दिया और केवल अप्रगतिशील तथा स्वेच्छाचारी शासक होने के कारण ही नहीं, नैतिक दृष्टि से गिरे हुए और दुराग्रही स्वभाव के मनुष्य होने के कारण भी, वे घृणा के पात्र बन गये।

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के प्रथम अधिवेशन के वाद के दुर्भाग्यपूर्ण वर्षों में अनेक भंडाफोड़ हुए। परन्तु हम उनमें से केवल दो ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मामले लेंगे—जामनगर के शासक का मामला और पटियाला के शासक का मामला। दोनों ही शासक भारत में तथा भारत से वाहर लम्बे-चौड़े दावे किया करते थे कि हम प्रगतिशील और उत्तरदायी शासक हैं। दोनों ही एक प्रकार से नरेन्द्रमण्डल के स्तम्भ थे। उनके भंडाफोड़ ने केवल मंडल की ही प्रतिष्ठा को नहीं, आमतौर से राजवर्ग की प्रतिष्ठा को भी तीव्र आघात पहुंचाया।

जामनगर में अनेक उत्पीड़नकारी क़ानून वना कर प्रजा की स्वतन्त्रता सीमित कर दी गयी थी और रियासत में व्यापार के एकाधिकार की प्रथा चालू कर दी गयी थी। वस्तुओं के आयात और निर्यात की स्वतन्त्रता पर ऐसे प्रतिवन्ध लगाये गये थे, जिससे वाणिज्य व्यवसाय ने प्रायः सरकारी विभाग का रूप ले लिया था। सुधार के लिए सव प्रकार के विरोध और प्रार्थनायें जव व्यर्थ हो गयीं, तो जामनगर की जनता का मामला रियासती प्रजा परिषद ने अपने हाथ में ले लिया। उसने रियासत के प्रशासन के विरुद्ध विरोध-सभाएं कीं और प्रेस में आन्दोलन छेड़ा। जव जनता के एक प्रमुख व्यक्ति ने, प्रजा के कष्टों के वारे में एक आवेदनपत्र जाम साहव को दिया, तो जाम साहव ने उसे जेल में वन्द करा दिया। इससे भावनाओं में उभाड़ पैदा हुआ और विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। जनमत का दवाव पड़ने पर, अन्त में आवेदन-

कर्ता को छोड़ दिया गया। परन्तु जाम साहब ने यह मानने से इन्कार कर दिया कि रियासत में कोई उत्पीड़नकारी कानून है या कोई एकाधिकार की प्रथा चालू है, जैसा कि आरोप लगाया जाता था। इसका फल यह हुआ कि जामनगर प्रजामण्डल को, जमनादास मेहता की अध्यक्षता में, एक जांच-समिति बनानी पड़ी।

दरबार ने तुरन्त रियासत में जांच-समिति के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया। परन्तु, समिति ने सख्त परिश्रम करके साक्ष्य एकत्र किया और रिपोर्ट प्रकाशित की। रिपोर्ट ने स्पष्ट रूप से यह प्रमाणित कर दिया कि जनता के आरोप सही थे। जब जाम साहब इंगलैंड से लौटे तो उनका स्वागत काले झंडों के प्रदर्शन से किया गया।

इन गतिविधियों से एक ओर तो पीड़ित जनता को सान्त्वना मिली, और दूसरी ओर रियासतों की आतंकपूर्ण कार्रवाइयों की कलई खुली। इनसे यह भी प्रमाणित हो गया कि राजाओं की यह डींग कि हम लोकप्रिय शासक हैं और हमें प्रजा की सद्-भावना प्राप्त है, निराधार थी। अब यह स्पष्ट हो गया कि, उन्हें केवल अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों की चिन्ता थी, प्रजा के कल्याण की नहीं। अन्य कई रियासतों में भी ऐसी ही जांच-समितियां बनीं, जिनकी रिपोर्टों से राजाओं के कुकृत्य और रियासती जनता के कष्टों की रोमांचकारी कहानियां प्रकाश में आयीं।

पटियाला की घटनायें

पटियाला रियासत की घटनायें और भी अधिक गम्भीर थीं। जामनगर में जहां लोगों की यह मुख्य शिकायत थी कि रियासत की सरकार ने वहां की अर्थव्यवस्था को अपने शिकंजे में कस लिया था, वहां पटियाला की जनता का यह दुर्भाग्य था कि उसे ऐसा शासक मिला था, जिसमें नैतिक भावना का सर्वथा अभाव था, जो अपनी रियासत को अपनी कामवासना और व्यक्तिगत मनोविकारों की तृप्ति का साधनमात्र मानता था, तथा जिसका प्रशासन अत्यन्त गर्हित और उपेक्षापूर्ण था।

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के कार्यालय का ध्यान पटियाला की घटनाओं की ओर तब गया, जब उसे रियासत की जनता की ओर से अनेक ज्ञापन प्राप्त हुए। इनमें से बहुत से ज्ञापन उन ज्ञापनों की प्रतिलिपियां थे जो पहले भारत सरकार को भेजे जा चुके थे, परन्तु जिन पर कोई कार्रवाई न हुई थी। मुख्य शिकायत यह थी कि वहां व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं है। नरेन्द्र मण्डल के इस तथाकथित आदेश के बावजूद कि रियासतों में प्रतिनिधिमूलक संस्थायें स्थापित होनी चाहिए, पंजाब की इस अग्रणी रियासत में एक भी प्रतिनिधिमूलक संस्था न थी।

आश्चर्य की बात यह है कि उन्हीं दिनों महाराजा पटियाला नरेन्द्रमण्डल के अध्यक्ष थे, और वे स्वयं अपनी ही रियासत में ऐसा उदाहरण उपस्थित कर रहे थे। दूसरे, महाराजा के खिलाफ और भी गम्भीर आरोप थे, जो उनकी आचार-भ्रष्टता, चरित्र-हीनता और जनता के कल्याण की घोर उपेक्षा से सम्बन्ध रखते थे। इनका उल्लेख पहले किया जा चुका है। जनता लगभग एक साल तक कांग्रेस जैसे राजनीतिक संगठनों के माध्यम से ब्रिटिश भारत के समाचारपत्रों में विरोध की आवाज उठाती रही। अन्त में, रियासती प्रजा परिषद ने उसका पक्ष ग्रहण किया और उसमें विश्वास पैदा किया। परिषद ने एक पत्रक निकाला, जिसका शीर्षक था "पटियाला की पुकार" (ए क्राई फ्राम पटियाला)। इस पत्रक ने लोगों का ध्यान शासक के कुकृत्यों और रियासती जनता के कष्टों की ओर आकर्षित किया। इसने जनता द्वारा शासक और उसके प्रशासन के विरुद्ध लगाये गये आरोपों की पूरी और विस्तृत जांच की आवश्यकता भी बतायी।

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने अन्त में एक जांच-समिति नियुक्त की, जिसके अध्यक्ष अमृतलाल ठक्कर और सदस्य अभ्यंकर तथा अमृतलाल सेठ थे। परिषद की कार्य-समिति ने 1935 में जांच समिति का पुनर्गठन किया। एन० वी० गाडगिल अध्यक्ष और बलवन्तराय मेहता, मूलराज करसनदास तथा अमृतलाल सेठ सदस्य नियुक्त किये गये। इस समिति ने अगणित गवाहियां लीं तथा असंख्य शिकायतों और आरोपों पर विचार किया। सामग्री का भली प्रकार विश्लेषण और अध्ययन करने के बाद तथा स्थिति का व्यक्तिगत ज्ञान हो जाने के बाद, समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसका नाम था "पटियाला का अभियोगपत्र" (दी इंडिक्टमेंट आफ पटियाला)[1]। इस पुस्तिका में, महाराजा पटियाला और उनकी सरकार के विरुद्ध बहुत गम्भीर आरोप लगाये गये थे। सर्वोच्च सत्ता ने इस मामले को पहली दृष्टि में ही आगे और छानबीन के योग्य समझा। समिति ने महाराजा को चुनौती दी कि वह किसी न्यायालय में अपने चरित्र के विषय में सफाई पेश करे।

रिपोर्ट ने सनसनी पैदा कर दी। समाचारपत्रों ने विस्तृत समालोचनायें छापीं। जनता ने भी उसे विशेष ध्यान से पढ़ा। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के प्रधान मन्त्री बलवन्तराय मेहता को यह कार्य सौंपा गया कि वे नयी दिल्ली में केन्द्रीय विधान सभा के भारतीय सदस्यों से मिलें और इस मामले में उनकी रुचि पैदा करें।

---

[1]इससे पहला अध्याय भी देखिये।

राजवर्ग में खलबली मचना स्वाभाविक था, क्योंकि उसके अध्यक्ष को सार्वजनिक रूप से निन्दा की गयी थी और अभियोग लगाया गया था। परन्तु राजा लोग तो न्याय के प्रशासन अथवा प्रजा के कष्ट निवारण की अपेक्षा अपने वर्ग की प्रतिष्ठा में अधिक रुचि रखते थे। अतः उन्होंने इस पुस्तिका के प्रकाशन का उत्तर महाराजा पटियाला को दुबारा अपना अध्यक्ष चुन कर दिया।

"पटियाला का अभियोगपत्र" अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के हाथ में बड़ा शक्तिशाली और उपयोगी शस्त्र सिद्ध हुआ। बलवन्तराय मेहता ने पंजाब का और मेघनी ने बम्बई प्रेसीडेंसी का विस्तृत दौरा किया और पुस्तिका में उल्लिखित आरोपों का प्रचार किया तथा पटियाला रियासत की अभागिनी जनता की सहायता करने की लोगों से प्रार्थना की। उन्होंने जनमत को इतना उत्तेजित कर दिया कि जब महाराजा पटियाला गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिये लन्दन जाते समय मार्ग में बम्बई रुके तो वहां क्रुद्ध भीड़ ने उन्हें काले झंडे दिखाये। नौका पर सवार करने के लिए, उन्हें एक चक्करदार मार्ग से ले जाया गया। अपने व्यक्तिगत कुकृत्यों के कारण, और विशेषकर नीमूर्चना हत्याकाण्ड के कारण, जिसमें अनेक व्यक्तियों की जानें गयी थीं, महाराजा अलवर भी काफी कुख्यात हो चुके थे। दैवयोग से बम्बई में उनका भी वही हाल हुआ। उन्हें एक सार्वजनिक सभा में बोलने नहीं दिया गया और अन्त में उन्हें पुलिस के संरक्षण में वहां से जाना पड़ा।

परन्तु महाराजा पटियाला अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के आन्दोलन और अपमानजनक पुस्तक "पटियाला का अभियोगपत्र" के प्रकाशन से डरनेवाले न थे। भभकी में आकर उन्होंने एक वक्तव्य निकाला कि मैं रिपोर्ट के लेखकों के विरुद्ध मुकदमा चलाऊंगा। जनता और अ० भा० रियासती प्रजा परिषद उस क्षण की प्रतीक्षा करती रही और मुकदमा का सामना करने की तैयारी भी करती रही। परन्तु अन्त में, महाराजा की धमकी कोरी शेखी साबित हुई। रिपोर्ट के लेखकों के विरुद्ध कार्रवाई करने के बजाय, उन्होंने चुपचाप वाइसराय लार्ड इर्विन से अपने पुराने परिचित और दयालु मित्र फिट्ज-पैट्रिक को इस मामले की जांच करने तथा अपनी रिपोर्ट सम्राट् के प्रतिनिधि को देने के लिए नियुक्त करने की प्रार्थना की। इन महाशय को तहकीकात का नाटक रच कर महाराजा पटियाला को दोषमुक्ति का प्रमाणपत्र देने में तनिक भी हिचकिचाहट न हुई। यह सरकारी जांच गुप्त रीति से हुई थी। जो अधिकारी जांच कर रहा था उसके तथा महाराजा पटियाला और उसके विश्वस्त वरिष्ठ अधिकारियों के अलावा कोई भी इसके विषय में कुछ नहीं जानता था। यद्यपि

जांच अभियोगपत्र में लगाये गये आरोपों का उत्तर देने के लिए की जा रही थी, फिर भी यह कभी प्रकाश में न आयी। किसी को उसे प्रकाशित करने का साहस न था। केवल एक अधिसूचना गजट में निकाल कर महाराजा पटियाला को उन के विरुद्ध लगाये गये आरोपों से मुक्त कर दिया गया।

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने और भी कई रियासतों में, मुख्य रूप से अलवर और लिम्बडी में, कुप्रशासन के सम्बन्ध में ऐसी ही जांचें करायीं। इन सब ने रियासती जनता के कष्टों पर प्रकाश डाला। इस क्रियाकलाप से स्वभावतः परिषद का कार्य-क्षेत्र और प्रभाव बढ़ गया। इन जांचों का एक और परिणाम, जो किसी कदर कम महत्त्वपूर्ण न था, यह हुआ कि अब ब्रिटिश भारत के सब विचारधाराओं के नेताओं का ध्यान रियासती जनता की शिकायतों और उत्तरदायी शासन के लिए उसकी मांगों की ओर आकर्षित हो गया। जैसा कि सी० वाई० चिन्तामणि[1] ने कहा, किसी भी ईमानदार और चेतनावान् मनुष्य के लिए रियासती जनता से सहानुभूति न रखना तथा रियासतों में अच्छे और प्रतिनिधिमूलक शासन के लिए उसकी मांग का समर्थन न करना असम्भव हो गया।

रियासतों की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में ज्यों-ज्यों तथ्य प्रकाश में आते गये और अधिकाधिक लोग वहां की हृदयद्रावक परिस्थितियों से अवगत होते गये, त्यों-त्यों अ० भा० रियासती प्रजा परिषद का महत्त्व स्वयमेव बढ़ता चला गया। शीघ्र ही, वह समस्त देशी रियासतों की जनता के एकमात्र प्रामाणिक प्रतिनिधिमूलक संगठन के रूप में मान्य हो गयी।

श्रमिकों और किसानों में असन्तोष

देसी रियासतों में श्रमिकों की दशा बड़ी दयनीय थी। अधिकांश रियासतों में बेगार या जबरदस्ती काम लेने की प्रथा प्रचलित थी। श्रमिक और किसान, उत्पीडन-कारी श्रमिक कानूनों और अमानुषिक बेगार प्रथा[2] के कारण त्राहि-त्राहि कर रहे थे। जब यह मालूम हुआ कि एक भारतीय शिष्टमंडल अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन में भाग लेने जेनेवा जा रहा है, तो बलवन्तराय मेहता से कहा गया कि वे अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की ओर से एक ज्ञापन तैयार करें और उसे भारतीय शिष्टमंडल के सदस्य

[1]अध्यक्षीय भाषण से उद्धरण, परिशिष्ट (क) में देखिये।

[2]बिना पैसा दिये जबरदस्ती काम लेना, जो एक पुरानी प्रथा मानी जाती थी।

बी० शिवराव को दे दें। शिवराव ने इस सामग्री का स्वागत किया और जेनेवा में उसका सदुपयोग किया। इसी प्रकार, परिषद ने, 1929 में, अहमदाबाद में आयोजित बम्बई प्रेसीडेंसी युवक सम्मेलन में देसी रियासतों के युवकों का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक शिष्ट मण्डल मेघनी के नेतृत्व में भेजा। देसी रियासतों के प्रश्न पर विचार करने के लिए यह बहुत अच्छा अवसर सिद्ध हुआ। शिष्टमंडल अपने उद्देश्य में सफल हुआ और युवक सम्मेलन ने देसी रियासतों की हालत पर न केवल खेद प्रकट किया, अपितु एक प्रस्ताव भी पास किया, जिसमें ब्रिटिश भारत के नवयुवकों की ओर से देसी रियासतों के युवकों को उनके उत्तरदायी शासन के लिए किये जाने वाले संघर्ष में सब प्रकार की सहायता का वचन दिया गया।

उस समय राजनीतिक और सांविधानिक क्षेत्र में देसी रियासतों की परिस्थितियां लगभग वैसी ही थीं, जैसी सत्रहवीं शताब्दी के अन्त में इंगलेंड की थीं। इंगलेंड में उस समय पार्लमेंट और प्रतिनिधिक संस्थायें तो थीं, परन्तु जनता वहां के राजा की शक्ति और निरंकुश अधिकार को कम करने तथा अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिए एक भीषण संघर्ष में लगी हुई थी। इसके विपरीत, देसी रियासतों में कोई प्रतिनिधिक संस्था नहीं थी, और लोगों को निकटवर्ती प्रान्तों की घटनाओं से प्रेरणा लेनी पड़ती थी। रियासतों की जनता भी अपने राजाओं के निरंकुश शासन के विरुद्ध संघर्ष कर रही थी; और उसका संघर्ष शायद इंगलेंड की जनता के संघर्ष से भी अधिक भीषण था। इसलिए, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि रियासतों ने पुस्तक, पुस्तिकाओं और पत्रकों द्वारा उसी प्रकार अपने पक्ष का प्रचार करने और उसे लोकप्रिय बनाने की बात सोची जिस प्रकार इंगलेंड में 200 वर्ष पहले किया गया था। इस गतिविधि का संचालन अ० भा० रियासती प्रजा परिषद करती थी। वह लेखकों को ऐसे प्रकाशन निकालने के लिए प्रोत्साहित करती थी, जिनमें रियासतों के प्रशासन की कलई खोली गयी हो और परिषद के पक्ष का समर्थन किया गया हो। समय पर परिषद को अपने होब्स, स्विफ्ट, वालपोल और बर्क भी मिल गये।

पुस्तकें और पुस्तिकायें

इस ग्रन्थमाला की पहली पुस्तक 1929 में प्रकाशित हुई। यह राजनीतिक व्यवहार पर एक निबन्ध के रूप में थी। इसने उस कुहरे को साफ किया, जो राजाओं के तथाकथित सन्धि-अधिकारों पर छा गया था। इसने सम्राट् के साथ सीधे सम्बन्ध

के सिद्धान्त और रियासतों की तथाकथित प्रभुत्वसम्पन्नता को अपने असली रूप में दर्शाया। इसने कुछ राजाओं के सन्धि-अधिकारों के स्वरूप और विस्तार का भी चित्र खींचा।

राजाओं के वकील, सर लेस्ली स्काट, ने बटलर-समिति के सामने जो मनगढ़न्त योजना पेश की, उसका उत्तर भी परिषद को देना पड़ा। परिषद ने सर लेस्ली स्काट की योजना की एक आलोचना प्रकाशित की, जिसने सांविधानिक और राजनीतिक महत्त्व की समस्त समस्याओं के प्रति राजाओं के सामान्य प्रतिक्रियावादी रवैये की कलई खोल दी। सम्राट् से सीधे सम्बन्ध के सिद्धान्त से यह विश्वास हो सकता था कि दो भारत हैं। अतः इसकी तत्काल पूर्ण निन्दा की गयी और इसे ठुकरा दिया गया। "भय, पक्षपात और बहाने" (फीयर्स, प्रीजुडीसिस ऐंड प्रोफेशन्स) एक और पुस्तक थी, जो परिषद द्वारा प्रकाशित हुई। इसमें उन सब चीजों का रोचक वर्णन था, जिनके लिए राजाओं ने गोलमेज सम्मेलन में तथा भारतीय संघ विषयक अपने वक्तव्यों में दावे और मांगें पेश की थीं।

एक और पुस्तक, जो व्यङ्ग्यप्रधान वर्णनात्मक शैली में थी और जो बहुत लोकप्रिय हुई, "रणजी का नवानगर" (नवानगर आफ प्रिंस रणजी) थी। इसमें नवानगर के जाम साहब के प्रशासन की अन्तःकथा दी गयी थी। यह वर्णन और विश्लेषण प्रधान थी तथा प्रांजल शैली में लिखी गयी थी। सर पी० एस० शिवस्वामी अय्यर तथा सी० वाई० चिन्तामणि ने भी इसकी प्रशंसा की थी। इसने जामनगर के अंधेरे कोनों और छिद्रों में प्रकाश डाल कर उन पर ध्यान केन्द्रित किया तथा उसके शासक के इस दावे को मिथ्या सिद्ध कर दिया कि वह एक प्रगतिशील प्रशासक है।

एक और उत्तम पुस्तक, जिसने तत्काल रियासतों पर प्रामाणिक ग्रन्थ होने की प्रसिद्धि प्राप्त की, राजकोट के पी० एल० चुदगर द्वारा लिखी गयी। चुदगर अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के ही एक प्रमुख कार्यकर्ता थे। उनकी पुस्तक "ब्रिटिश संरक्षण में भारतीय राजा" (इंडियन प्रिंसेस अंडर ब्रिटिश प्रोटेक्शन) में संक्षेप में देसी रियासतों की पेचीदा समस्याओं का विशद वर्णन दिया गया था। प्रोफेसर अभ्यंकर की पुस्तक "देसी रियासतों की समस्यायें" (प्राब्लम्स आफ इंडियन स्टेट्स) इसकी पूरक के रूप में प्रकाशित हुई। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद, जनता की जानकारी बढ़ाने और ब्रिटिश भारत की जनता को रियासती जनता के कष्टों से अवगत कराने के लिए, ऐसे प्रकाशनों को बढ़ावा देने की अपेक्षा अधिक अच्छा और कोई काम नहीं कर सकती थी। इस साहित्य ने रियासती जनता के पक्ष के प्रचार में और देश की जनता के

समस्त वर्गों से उसके लिए सहायता की प्राप्ति में जो योग दिया उसकी अत्युक्ति नहीं की जा सकती। सचाई यह है कि यदि परिषद इन पुस्तकों के प्रकाशन के अलावा और कुछ न करती, तब भी रियासती समस्या के हल के लिए उसका योगदान अधिक माना जाता, क्योंकि इस साहित्य ने एक बड़ी कमी पूरी कर दी और भावी संघर्ष के लिए क्षेत्र तैयार कर दिया ।

एक महत्त्वपूर्ण घटना, जिसका यहां उल्लेख करना आवश्यक है, एक नये दल का मैदान में उतरना थी। इस दल का नाम था "भारतीय रियासती प्रजा गणराज्य संघ" (इंडियन स्टेट्स पीपुल्स रिपब्लिकन लीग)। यह घटना समय की लाक्षणिक घटना थी। अब तक अ० भा० रियासती प्रजा परिषद प्रस्ताव पास करके रियासतों में राजाओं की संरक्षकता में उत्तरदायी शासन की मांग किया करती थी। अधिकांश कांग्रेस नेता और महात्मा गांधी भी इसी विचार के थे। उत्तरदायी शासन का आश्वासन पूरा हो जाने पर कोई भी राजाओं को हटाने के लिए उत्सुक न था। कम से कम राजतन्त्र से किसी को द्वेष न था। भारतीय नेताओं तथा रियासती जनता के आन्दोलन के नेताओं का यह विचार था कि भविष्य में जो भारतीय संघ बनेगा उसकी घटक इकाइयों में से कुछ के अध्यक्ष वंशागत राजा होंगे और कुछ के राज्यपाल। परन्तु राजाओं का अड़ियल रुख, सम्राट् के साथ सीधे सम्बन्ध का उनका सिद्धान्त जो उन्होंने बटलर-समिति के सामने रखा, रियासतों में जन-आन्दोलन के प्रति उनका उपेक्षापूर्ण और विद्वेषपूर्ण रुख तथा शान झाड़ने का उनका निश्चय ऐसी बातें थीं, जिन्होंने धीरे-धीरे उस सद्भावना को समाप्त कर दिया, जिसे लोकप्रिय नेता उनके व्यक्तित्व और उनके वंश के प्रति प्रदर्शित किया करते थे। कांग्रेस में वाम पक्ष का उदय हो रहा था और रियासती प्रजा परिषद के सदस्यों में भी ऐसी ही विचारधारा जोर पकड़ रही थी। उसके कुछ नेता और कार्यकर्ता यह अनुभव करते थे कि राजाओं की संरक्षकता में उत्तरदायी शासन एक समझौता मात्र होगा, और किसी भी दशा में राजा लोग स्वयं उसके योग्य नहीं हैं।

अतः उन्होंने एक नया दल बनाया, जो राजतन्त्र की समाप्ति और राजवर्ग के पूर्ण अन्त के पक्ष में था।

नये दल का अस्तित्व में आना अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के लिये सर्वथा खेदजनक न था। परन्तु इससे कुछ चिन्ता इसलिए पैदा हो गयी कि यह डर लगने लगा कि कहीं इससे उसकी शक्ति बंट न जाय और कहीं उसकी राजनीतिक एकता छिन्न-भिन्न न हो जाय। परन्तु सौभाग्य से ये भय अतिरंजित सिद्ध हुए। अन्त में,

रियासती जनता के आन्दोलन के उठाव और राजाओं की अनन्त पथभ्रष्टता के कारण, दोनों दलों के बीच की दिखावटी खाई समाप्त हो गयी। वे दोनों एक मुद्दे पर मिल गये; और वह मुद्दा यह था कि रियासतों को उसी राजनीतिक और सांविधानिक स्तर पर लाने के लिए उत्तरदायी शासन की मांग की जाय, जिस स्तर पर प्रान्त पहुंच चुके हैं। शेष सब बातें भविष्य के लिए छोड़ी जा सकती हैं। रियासतें या रियासत-समूह वंशागत राजाओं के अधीन रहें या राज्यपालों के--यह विषय कभी जीवन्त प्रश्न नहीं बना।

हो सके। परिषद की यह शिकायत थी कि भारत की समस्या पर विचार करने के लिए जो दो समितियां बनायी गयी थीं--साइमन कमीशन और बटलर समिति--उन्होंने समस्या के आन्तरिक पहलू का स्पर्श तक नहीं किया। वास्तव में इस शिकायत का कोई उत्तर न था। यह बड़ी विचित्र बात थी कि राजाओं के संरक्षण और विशेषाधिकारों की सुरक्षा के लिए तो भारत सरकार और ब्रिटिश सरकार इतना अधिक कर रही थीं, परन्तु रियासतों में रहनेवाले 8 करोड़ लोगों के बारे में कोई कुछ सोचता तक न था। उस समस्त विचार विमर्श और बातचीत में, जो अनेक वर्षों तक चलती रही, विशेष रूप से उस समय, जब भारत का नया संविधान बन रहा था, रियासती जनता की कोई पूछ नहीं हुई, और न कभी संस्था के रूप में उसके प्रतिनिधित्व की आवश्यकता समझी गयी। स्वभावतः सम्मेलन ने अपने सबसे पहले प्रस्ताव में उस ढंग और प्रचार की कठोर शब्दों में निन्दा की, जिसे भारतीय रियासत जांच समिति ने रियासती जनता को अपने विचार उसके सामने प्रस्तुत करने का अवसर दिये बिना कार्रवाई जारी रखने के लिए अपनाया था।

और भी कई महत्त्वपूर्ण और अर्थसूचक प्रस्ताव पास हुए। उनमें राजाओं से अनुरोध किया गया कि वे अपनी रियासतों में प्रतिनिधिक संस्थायें स्थापित करें, न्यायपालिका के कार्य में सुधार करें, प्रतिवर्ष बजट प्रस्तुत करें और उसे मतदान द्वारा पास करायें तथा अपने प्रिवी पर्स को आम बजट से अलग रखें। यह भी मांग की गयी कि राजा लोग न्याय प्रशासन में हस्तक्षेप करना बन्द कर दें, तथा सहकारी संस्थाओं को बढ़ावा देना और पिछड़ी जातियों को ऊपर उठाना जैसे रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहन दें। सम्मेलन ने इन प्रस्तावों को कार्यान्वित करने के लिए तथा अपने लक्ष्यों एवं उद्देश्यों को आगे बढ़ाने के लिए 30 सदस्यों की एक प्रबन्ध-समिति बनायी और उसे 30 और सदस्य सहयोजित करने का अधिकार दिया।

स्वार्थान्ध राजा लोग जिस शरारतपूर्ण "दो भारत" सिद्धान्त की वकालत कर रहे थे, और उनके वेतनभोगी समर्थक रशब्रुक विलियम्स और लेस्ली स्काट आदि जिसका अथक प्रचार कर रहे थे, उस पर जनता का ध्यान केन्द्रित करके, परिषद ने समस्त भारत की प्रशंसनीय सेवा की।

तृतीय अधिवेशन

परिषद का तीसरा अधिवेशन भी बम्बई में ही हुआ। इसकी अध्यक्षता "माडर्न रिव्यू" के सम्पादक रामानन्द चटर्जी ने की। स्वागत समिति के अध्यक्ष लक्ष्मीदास

रावजी तायरसी थे। इसमें जिन लोगों ने भाग लिया वे भारत के जनमत का प्रतिनिधित्व करते थे। उनमें प्रमुख थे सुभाष चन्द्र बोस, श्रीमती कमला नेहरू, खान अब्दुल गफ्फार खां, मदन मोहन मालवीय, श्री और श्रीमती के० एम० मुंशी, सर लालूभाई सांवल दास, नगीनदास, टी० मास्टर, जमनादास मेहता, बलवन्तराय मेहता, यूसुफ मेहरअली, जी० आर० अभ्यंकर तथा देसी रियासतों के बहुत से गण्य-मान्य व्यक्ति।

अपने अध्यक्षीय भाषण में, रामानन्द चटर्जी ने रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिए प्रबल तर्क उपस्थित किये और देसी राजाओं से अपील की कि वे इंगलैंड के राजा से शिक्षा ग्रहण करें, जो प्रजा का प्रतिनिधि होने का दावा नहीं करता। उन्होंने कहा कि इस प्रत्यक्ष उदाहरण का अनुसरण करते हुए, देसी रियासतों के शासकों को चाहिए कि वे भी संविधानी राजा के रूप में आचरण करें और अपनी प्रजा की शिकायतों को दूर करें। उन्होंने रियासतों और ब्रिटिश भारत के मध्य नागरिक स्वतन्त्रता एवं न्यायिक शासन सम्बन्धी घोर विषमता की ओर भी संकेत किया, और कहा कि जब तक यह खाई कम चौड़ी न होगी, तब तक राजाओं को अपनी-अपनी रियासतों में प्रतिरोध और सुधार के लिए जन-आन्दोलन का सामना करना ही पड़ेगा। रामानन्द चटर्जी ने जोशीले शब्दों में राजाओं से अपील करते हुए कहा कि वे समय के संकेतों को समझें और यदि और किसी मतलब के लिए नहीं, तो कम से कम अपने स्वार्थ के लिए ही वे अपने को अपनी-अपनी रियासत का संविधानी (प्रतीक) अध्यक्ष समझें।

स्वागत समिति के अध्यक्ष ने सब रियासतों की प्रजा में ऐक्य के लिए प्रबल तर्क दिये, और कहा कि इसी से वह अपनी-अपनी रियासत में स्वशासन की स्थापना के लिए अधिक प्रभावशाली आन्दोलन चला सकती है। उन्होंने कहा कि जब तक रियासती जनता को भाषण, विचार और सभा करने की स्वतन्त्रता न मिलेगी तथा व्यक्तिगत सुरक्षा एवं संघन्यायालय में अपील करने का आश्वासन न मिलेगा, तब तक उनकी आशायें और आकांक्षायें पूरी न होंगी। तायरसी ने परिषद से अपील की कि वह प्रति वर्ष बम्बई में ही सम्मेलन न किया करे, और आगामी सम्मेलन किसी देसी रियासत में करें।

मदनमोहन मालवीय, अब्दुल गफ्फार खां, श्रीमती कमला नेहरू आदि प्रमुख कांग्रेस नेताओं ने सम्मेलन में भाषण दिये। उन्होंने रियासती जनता को उसके संघर्ष में पूर्ण सहानुभूति का आश्वासन दिया और आशा प्रकट की कि राजा लोग प्रजा की आकांक्षाओं को समझने की कोशिश करेंगे तथा उसकी न्यायपूर्ण मांगों को पूरा करेंगे।

सम्मेलन ने जो प्रस्ताव पास किया उसी से यह पता लग सकता है कि वास्तव में उसके मन में क्या था। सम्मेलन ने राजाओं के गोल मेज सम्मेलन में अपनी प्रजा का प्रतिनिधित्व करने अथवा उसके प्रवक्ता बनने के दावों का प्रत्याख्यान किया। उसने मांग की कि रियासती जनता के प्रतिनिधि उन प्रतिनिधियों में शामिल किये जायें जो गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए बुलाये गये हैं। उसने सामान्य रूप से गोलमेज सम्मेलन के सब सदस्यों से और विशेष रूप से महात्मा गांधी से अपील की कि वे रियासती जनता के हितों का ध्यान रखें, जो राजाओं के हितों से भिन्न हैं। उसने नेताओं से यह भी प्रार्थना की कि वे निम्नलिखित मुख्य विषयों पर विशेष जोर दें :—

1. संघीय सरकार को समस्त भारत से सम्बन्ध रखनेवाले उन विषयों को अपने अधिकार में रखना चाहिए जिन पर नियन्त्रण के लिए समरूपता की आवश्यकता है। सम्मेलन आमतौर से संघ-शक्ति के क्षेत्र का विस्तार चाहता है और संघीय सरकार को पर्याप्त शक्तिशाली बनाने के लिए यह आवश्यक समझता है कि, अन्य विषयों के साथ, दीवानी और फौजदारी कानून, श्रमिक विधान, लेखा परीक्षणऔर मताधिकार आदि निर्दिष्ट विषयों को संघ-सूची में शामिल कर लिया जाय।

2. सभी संघीय विषयों का प्रशासन आमतौर से संघ की कार्यपालिका के नियन्त्रण में रहना चाहिए।

3. संघ में शामिल होनेवाली किसी रियासत को कोई विषय संघ सरकार के अधिकार-क्षेत्र से हटाने की अनुमति न मिलनी चाहिए, जैसा कि कुछ क्षेत्रों में सुझाया जा रहा है। संघ-सूची में शामिल सभी विषय, बिना किसी विकल्प के, सब रियासतों के लिए संघीय होने चाहिए।

4. सर्वोच्चता के वे सब अधिकार, जिनका प्रयोग अबतक भारत सरकार रियासतों के सम्बन्ध में करती रही है, नये संविधान में संघ-सरकार को मिलने चाहिए, वाइसराय या उत्तरदायित्वहीन राजनीतिक विभाग को नहीं।

सम्मेलन ने निम्नलिखित मांगों को रियासती जनता की न्यूनतम मांगें बताया और कहा कि जब तक ये मांगें पूरी न होंगी, तब तक गोल मेज सम्मेलन में किये गये सब या कोई निर्णय उसे मान्य न होंगे :—

1. रियासती जनता के लिए संघीय नागरिकता के और मौलिक अधिकार नये संविधान में समाविष्ट किये जायें।

2. रियासती जनता के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए संविधान में संघीय न्यायतन्त्र की व्यवस्था की जाये।

3. केन्द्रीय विधानमण्डलों में रियासती जनता का सीधा प्रतिनिधित्व निर्वाचन और मतदान की उसी प्रथा से हो, जिस प्रथा से ब्रिटिश भारत की जनता का।

4. रियासतों की न्यायपालिका संघीय सर्वोच्च न्यायालय से सम्बद्ध कर दी जाय, और सर्वोच्च न्यायालय देश के न्याय-तन्त्र का शीर्ष रहे।

उसने महात्मा गांधी में पूर्ण आस्था व्यक्त की और रियासती जनता की न्यूनतम मांगें उनके अवधारणार्थ उन्हें सुपुर्द कर दीं तथा उनसे प्रार्थना की कि वे उन्हें मनवाने का आग्रह करें।

दूसरे प्रस्ताव में, सम्मेलन ने राष्ट्र संघ (लीग आफ नेशन्स) का ध्यान अनेक देसी रियासतों में विद्यमान बेगार प्रथा की ओर आकर्षित किया। सम्मेलन ने राजाओं की भी निन्दा की, क्योंकि उनमें से अधिकांश अपनी रियासत के प्रशासन में कुछ भी रुचि नहीं लेते थे, अक्सर विदेशों में ही घूमते रहते थे, और इस प्रकार अपने कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व को भूल कर रियासत के राजस्व को बर्बाद करते रहते थे।

सम्मेलन ने मिरज के शासक तथा कुछ अन्य रियासती शासकों की निन्दा की, क्योंकि उन्होंने उन रियासती कार्यकर्त्ताओं को, जिन्होंने पिछले राष्ट्रीय संघर्ष में भाग लिया था, परेशान करने के लिए, भारत सरकार द्वारा स्वीकृत "विदेशी अधिनियम" (फारेनर्स एक्ट) की व्यवस्थाओं का दुरुपयोग किया था। सम्मेलन ने तुरन्त इस अधिनियम में ऐसा संशोधन करने की मांग की, जिससे वह रियासती जनता पर लागू न हो। यह मांग विशेष रूप से इसलिए की गयी कि प्रस्तावित संघीय योजना के अन्तर्गत रियासतों को ब्रिटिश भारत के साथ सांविधानिक एकता के सूत्र में बँधना था।

सम्मेलन ने औंध और फाल्टन के शासकों की इस घोषणा के लिए सराहना की कि उत्तरदायी शासन उनके प्रशासन का ध्येय है और इस ध्येय की प्राप्ति के लिए शीघ्रता से प्रयत्न किये जायेंगे।

एक और प्रस्ताव द्वारा सम्मेलन ने परिषद का संविधान तैयार करने के लिए एक समिति बनायी और बलवन्तराय मेहता को उसका संयोजक नियुक्त किया। सम्मेलन ने कार्यसमिति द्वारा पारित उस प्रस्ताव का समर्थन किया और उसे स्वीकृति प्रदान की जिसमें सर्वोच्च सत्ता द्वारा पटियाला के मामले की जांच कराने के तरीके की निन्दा की गयी थी। उसने सरकार की भी निन्दा की, क्योंकि उसने महाराजा पटियाला को निलम्बित नहीं किया था और उसके विरुद्ध जो आरोप लगाये गये थे,

उनकी जांच के लिए राजनीतिक विभाग के अधिकारियों को नियुक्त किया था।

एक अन्य प्रस्ताव द्वारा, सम्मेलन ने, नवनिर्मित भारतीय रियासती प्रजा गण-राज्य संघ (इंडियन स्टेट्स पीपुल्स रिपब्लिकन लीग) के प्रति अपना रुख भी स्पष्ट किया। भारतीय रियासती प्रजा गणराज्य संघ की स्थापना ठीक उसी समय हुई, जब परिषद का तीसरा अधिवेशन होने वाला था। सम्मेलन ने संघ के उद्देश्यों से तो सहमति प्रकट की, परन्तु उसके आविर्भाव को परिषद की भावी उन्नति के लिए घातक बताया। यह भी सन्देह प्रकट किया गया कि संघ कुछ ऐसे असन्तुष्ट व्यक्तियों को आकर्षित कर रहा है, जो पहले परिषद की नीति के विरोधी थे और अब रियासती जनता में फूट डालने के लिए राजाओं के इशारे पर संघ में शामिल हो रहे हैं।

चतुर्थ अधिवेशन

परिषद का चौथा अधिवेशन भी बम्बई में हुआ। इसकी अध्यक्षता एन० सी० केलकर ने की और उसमें रियासतों तथा ब्रिटिश भारत के प्रमुख व्यक्ति शामिल हुए, जिनमें मुख्य थे प्रोफेसर अभ्यंकर, ए० वी० ठक्कर, डा० मुहम्मद आलम, ए० वी० पटवर्धन और अब्दुल रहमान कासम मिठा। जमनादास मेहता स्वागत समिति के अध्यक्ष थे।

अपने अध्यक्षीय भाषण में, केलकर ने स्वातन्त्र्य संघर्ष के प्रति मुस्लिम रियासतों की जनता की उदासीनता की निन्दा की। उन्होंने कहा कि यदि परिषद की भी ऐसी ही स्थिति हो गयी, जैसी कांग्रेस की हो गयी थी, तो बड़े दुर्भाग्य की बात होगी। राजा लोग और रियासती सरकारें एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय से भिड़ाने के लिए अत्युत्सुक दिखायी पड़ते थे। उन्होंने कहा कि मुस्लिम सम्प्रदाय स्वयं यह देखे कि उसके वास्तविक हित कहां हैं?

जमनादास मेहता ने अपने भाषण में राजनीतिक विभाग और राजाओं की यूरोपीय लोगों को रियासतों में मन्त्री नियुक्त करने की प्रवृत्ति की निन्दा की। उन्होंने कहा कि यह प्रवृत्ति बहुत घातक है, विशेष रूप से इसलिए कि प्रस्तावित संघीय विधान-मण्डल में इन्हीं में से कुछ मन्त्री रियासतों के प्रतिनिधि मनोनीत किये जा सकते हैं।

दूसरे दिन सम्मेलन ने दो प्रस्ताव स्वीकार किये। एक प्रस्ताव द्वारा पटियाला रियासत के मामले की जांच के लिए एक समिति नियुक्त की गयी। और दूसरे प्रस्ताव द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों को क्रियान्वित करने के लिए परिषद के कुछ पदाधिकारियों के नाम निर्दिष्ट किये गये। प्रोफेसर अभ्यंकर परिषद के अध्यक्ष, बलवन्तराय मेहता

और अमृतलाल सेठ संयुक्त मन्त्री, मणिशंकर त्रिवेदी प्रधान मन्त्री, दुर्लभचन्द उमेदचन्द कोषाध्यक्ष और चितरंजन शरण अजीत अन्तः कालीन मन्त्री नियुक्त किये गये।

गोलमेज सम्मेलन में रियासती जनता के प्रतिनिधित्व का प्रश्न फिर उठा और सम्मेलन ने संविधान-निर्मात्री सभा, गोलमेज सम्मेलन, परामर्शदात्री समिति और संसदीय संयुक्त प्रवर समिति से रियासती जनता को जानबूझ कर अलग रखने के विरुद्ध प्रबल विरोध प्रदर्शित किया। इसका अर्थ था कि संविधान-निर्माण के समय भारत के 8 करोड़ से भी अधिक लोगों की कोई राय नहीं ली गयी। यह सरासर अन्याय था और लोकतन्त्र की हत्या थी; विशेष रूप से इसलिए कि रियासती जनता से यह आशा की जाती थी कि वह संघ सरकार को कर देगी और संघीय कानून उस पर भी लागू होते। इतनी भारी संख्या में जनता को प्रतिनिधित्व के अधिकार से वंचित करना "प्रतिनिधित्व नहीं तो कर भी नहीं" के मौलिक सिद्धान्त के विरुद्ध था।

रियासती जनता के इसी अप्रतिनिधित्व के प्रश्न को लेकर, सम्मेलन ने श्वेतपत्र (ह्वाइट पेपर) में समाविष्ट संघ योजना की भी निन्दा की। उसने अनुरोधपूर्वक कहा कि रियासती जनता ऐसे मौलिक अधिकारों की अधिकारिणी है, जैसे व्यक्तिगत सम्पत्ति रखने का अधिकार, पूजा, भाषण, विचार और सभा करने की स्वतन्त्रता तथा एक सुगठित न्यायपालिका द्वारा अभियोग का निर्णय किये जाने का अधिकार। सम्मेलन ने यह भी मांग की कि रियासत के प्रत्येक व्यक्ति को यह अधिकार होना चाहिए कि वह किसी भी राजा पर, जो संघ के कानून को तोड़े, न्यायालय में मुकदमा चला सके। उसने इच्छा प्रकट की कि संघ न्यायालय देसी रियासतों को भी अपने अधिकार-क्षेत्र में रखे और उसके पास रियासती जनता के लिए भी वैसे ही अपीली न्यायालय के अधिकार हों, जैसे ब्रिटिश भारत की जनता के लिए।

एक अन्य प्रस्ताव द्वारा, सम्मेलन ने छावनियों की सीमाओं को रियासतों में मिलाने की भारत सरकार की नीति की निन्दा की। उसने यह भी अनुरोध किया कि जो छावनियां पहले ही रियासतों को हस्तान्तरित की जा चुकी हैं, वहां रियासती प्रजा की जान और माल की रक्षा के लिए समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। इसके बाद, रियासतों में स्वेच्छाचारिता और मनमाने करनिर्धारण का पुराना विषय विचार के लिए उपस्थित हुआ। राजाओं की फिजूलखर्ची, असह्य और अनुचित करों के लगाने, पुलिस की ज्यादती, उत्पीडन और हिंसा के कामों, इच्छानुसार अध्यादेश जारी करने तथा दूषित प्रशासन एवं कुशासन के अनेक उदाहरण पेश किये गये और उनकी निन्दा करते हुए एक प्रस्ताव पास किया गया। सम्मेलन ने बीकानेर के 8 सार्वजनिक

कार्यकर्त्ताओं को षड्यन्त्र का झूठा आरोप लगा कर कैद करने का विरोध किया। ये कार्यकर्ता परिषद के सदस्य बना रहे थे और एक ज्ञापन पर, जिसमें रियासती जनता की मांगें थीं, हस्ताक्षर करा रहे थे। सम्मेलन ने महाराजा बीकानेर से इन कैदियों को बिना शर्त छोड़ने और जन-सुरक्षा अधिनियम को निरस्त करने का अनुरोध किया।

सम्मेलन ने सर्वोच्च सत्ता से अपील की कि वह ऐसे सब मामलों पर स्वतन्त्र न्यायाधिकरणों की सहायता से पुनर्विचार करे, जिससे अभियुक्तों को न्याय मिल सके।

यह बड़े महत्त्व की बात है कि परिषद के इस सम्मेलन ने एक ऐसा प्रस्ताव पास किया, जो राजाओं के लिए प्रशंसात्मक कहा जा सकता है। प्रस्ताव में यह मांग की गयी कि कुशासन के आरोप से किसी राजा को तब तक निलम्बित न किया जाय और न गद्दी से उतारा जाय, जबतक उसकी प्रजा की ओर से या रियासती प्रजा परिषद की ओर से, उसके लिए स्पष्ट मांग न की गयी हो, क्योंकि प्रजा ही अपने राजा और उसकी सरकार के गुणदोषों की अन्तिम निर्णायक है। सम्मेलन का विचार था कि जब किसी राजा को हटा दिया जाय, तो उस स्थिति में, जांच की अवधि में, रियासत के प्रशासन को चलाने के लिए, रियासती प्रजा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने वाली एक समिति नियुक्त की जानी चाहिए; प्रशासन का कार्य सर्वोच्च सत्ता द्वारा मनोनीत किसी नागरिक अधिकारी को नहीं सौंपा जाना चाहिए।

सम्मेलन ने कुछ राजाओं की अपने नाम से व्यापारिक और औद्योगिक कारोबार चलाने की अथवा अपने लाभ के लिए उस कारोबार का एकाधिकार कुछ खास व्यक्तियों को देने की प्रवृत्ति की निन्दा की। काठियावाड़ की समुद्रतटवर्ती रियासतें ऐसी एकाधिकारवाली गतिविधियों के लिए सबसे अधिक दोषी थीं। सम्मेलन ने अनुरोध किया कि ऐसी अवांछनीय व्यापारिक नीतियों को तथा एकाधिकार और लाइसेंस देने की प्रथा को तुरन्त रद्द किया जाय तथा बन्द कर दिया जाय।

भारत की राष्ट्रीय एकता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए, सम्मेलन ने अनुरोध किया कि किसी भी देसी रियासत को अखिल भारतीय संघ में शामिल होने या न होने का विकल्प न दिया जाय। उसने इस बात को तर्कपूर्वक कहा कि समस्त रियासतों के लिए यह अनिवार्य होना चाहिए कि वे चाहे एक एक, चाहे समूहों में, संघ में शामिल हों। सम्मेलन ने भावी संघीय विधानमण्डल में रियासतों को अधिभार (वेटेज) देने का भी विरोध किया और यह मांग की कि सिद्धान्त के रूप में रियासती जनता को जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। उसने यह भी विचार व्यक्त किया कि किसी रियासत को तब तक संघ में शामिल होने की अनुमति नहीं दी जानी

चाहिए जब तक यह मालूम न हो जाय कि उसने संघ में प्रवेश के साथ अपने क्षेत्र में उत्तरदायी शासन शुरू कर दिया है या शुरू करना स्वीकार कर लिया है।

सम्मेलन ने बताया कि कुछ राजा ऐसी निरर्थक विधान सभायें स्थापित कर रहे हैं, जो न स्वरूप से प्रतिनिधिमूलक हैं और न कानून बनाने में स्वतन्त्र। ऐसी विधान-सभाओं का उद्देश्य केवल राजाओं की वास्तविक कपट-योजनाओं पर पर्दा डालना था। उसने भारत सरकार से मांग की कि वह इस बात पर ध्यान दे कि सब देसी रियासतें उन चारों सुधारों को अवश्य क्रियान्वित करें, जो लार्ड ईर्विन ने अपने वाइस-रायत्व काल में सुझाये थे, यथा—प्रभावी प्रतिनिधिक विधानमण्डलों की स्थापना, स्वतन्त्र उच्च न्यायालयों का आरम्भ, रियासती सेवाओं को स्थायी बनाना, और प्रिवी पर्स निश्चित करना। उसने सर्वोच्च सत्ता को स्मरण दिलाया कि स्वेच्छाचारी राजाओं के कुशासन से रियासती जनता की रक्षा के लिए वह उसके प्रति उत्तरदायी है; और आग्रह किया कि यह उत्तरदायित्व रियासती जनता की स्वीकृति के बिना, किसी दूसरे अभिकरण को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता; क्योंकि रियासती जनता को, कम से कम अपने कल्याण के बारे में, राय देने का अधिकार है।

अखिल भारतीय संघ के प्रश्न पर विचार करते हुए, सम्मेलन ने सिद्धान्ततः संघ के विचार का समर्थन किया, परन्तु उसने मांग की कि समान विशेषाधिकार के आधार पर, संघ की नागरिकता भारत के सब नागरिकों के लिए मान्य होनी चाहिए, चाहे वे रियासतों में रहते हों चाहे प्रान्तों में। उसने पहले सम्मेलनों में अभिव्यक्त इस विचार को फिर दुहराया कि लोक तन्त्रीय विधि से शासित ब्रिटिश भारत के प्रान्तों तथा एक तन्त्रीय विधि से शासित देशी रियासतों में वास्तविक ऐक्य नहीं हो सकता, अतः देसी रियासतों को प्रान्तों की बराबरी पर लाने के लिए यह आवश्यक है कि उनका लोकतन्त्रीकरण शीघ्रता से किया जाय। सम्मेलन ने श्वेतपत्र में प्रस्तावित इस मत का विरोध किया कि रियासतों की देख भाल का अधिकार, भारत सरकार से हटा कर वाइसराय में निहित कर दिया जाय।—सम्मेलन सर्वोच्चता संघीय सरकार को देने के पक्ष में था।

इन सब कारणों से सम्मेलन ने महसूस किया कि जब तक श्वेतपत्र में समाविष्ट संघ-योजना समुचित ढंग से संशोधित न की जायगी, तब तक वह ब्रिटिश भारत की जनता के हितों के लिए भी उतनी ही हानिकारक रहेगी, जितनी रियासती जनता के हितों के लिए।

संघ की कल्पना : राजाओं की प्रतिक्रिया

मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार लागू होने से प्रान्तों में जो द्वैध शासन आरम्भ हुआ, उससे ब्रिटिश भारत के शासन में दो नये तत्त्व पैदा हुए। एक तो यह, कि केन्द्र और प्रान्तों के मध्य अधिकार-परिवर्तन की शुरुआत हो गयी। दूसरा यह ,कि कुछ विभागों कोप्रान्तीय विधानमण्डलों के निर्वाचित सदस्यों के लिए सुरक्षित रख कर, यदि क्रिया-रूप में नहीं तो कम से कम सिद्धान्त रूप में, उत्तरदायी शासन की बात मान ली गयी। केन्द्र में वाइसराय की प्रबन्ध परिषद (एक्जीक्यूटिव कौंसिल) का पुनर्गठन किया गया और लगभग आधे पद वाइसराय द्वारा मनोनीत भारतीयों के लिए सुरक्षित रखे गये। परन्तु इन परिवर्तनों का प्रभाव केवल ब्रिटिश भारत पर पड़ा। रियासतें नये सुधारों के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर रहीं। यद्यपि ये सुधार भारत में लगभग सभी राजनीतिक दलों की आलोचना के लक्ष्य बने रहे; फिर भी आमतौरसे मांटेग्यू के इस दावे का स्वागत किया गया कि सुधारों से "स्वशासी संस्थाओं का क्रमिक विकास" होगा। यही सोच कर राजाओं ने स्वभावतः अपने भविष्य के विषय में चिन्ता व्यक्त करनी शुरू कर दी, क्योंकि यह स्पष्ट था कि प्रान्तों में प्रस्तावित सुधारों के क्रियान्वित होने पर रियासतें अप्रभावित नहीं रहेंगी।

समस्त भारत में समीपवर्ती रियासतों की निगाह के सामने सुधारों का क्रियान्वित होना, विधान मण्डलों के लिए अधिक विस्तृत मताधिकार द्वारा निर्वाचन होना, हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन के लिए विधान परिषदों के प्रति उत्तरदायी मन्त्रियों की नियुक्ति तथा विधान परिषदों की प्रश्नोत्तर, विचार-विनिमय और विधिनिर्माण सम्बन्धी गतिविधियां ऐसी चीजें थीं, जो रियासती जनता से अनदेखी नहीं रह सकती थीं, और शायद यह भी असम्भव था कि रियासती जनता उनसे ईर्ष्या न करती। वह यह सोचने लगी कि रियासतों में भी ऐसी ही द्वैध शासन प्रणाली का जन्म सम्भव है। उस द्वैध शासन प्रणाली में "राजा" पहले की तरह कुछ विषयों का निर्देशन स्वेच्छा से करता रहे, परन्तु अन्य विषय जनता की सभाओं के प्रतिनिधियों द्वारा प्रशासित हों। कुछ रियासतों में तो इस विचार के आते ही, राजाओं ने मिश्रित विधान सभायें स्थापित कर दीं, भले ही उनका स्वरूप वस्तुतः संसदीय न होकर सलाहकार का जैसा रहा हो।

प्रान्तों में जो दूरगामी परिवर्तन हो रहे थे, उन्होंने राजाओं के लिए अपने भविष्य के बारे में सोचने का मसाला प्रस्तुत कर दिया। स्वयं मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट ने कोई सन्देह नहीं रहने दिया था। रिपोर्ट के अन्तिम अध्याय में कहा गया था :—

"भारत के अंतिम भावी रूप की हमारी कल्पना ऐसे राज्यों का एक मेल है, जो विशुद्ध स्थानीय अथवा प्रान्तीय हितों के मामलों में स्वशासी होंगे। ···इस राज्य-समूह के ऊपर एक केन्द्रीय सरकार होगी, जो सभी राज्यों की जनता का धीरे-धीरे अधिकाधिक प्रतिनिधित्व करेगी और उसके प्रति उत्तरदायी होगी; समस्त भारत के समान हित के अन्दरूनी और बाहरी दोनों प्रकार के मामलों की देखभाल करेगी; राज्यों के आपसी सम्बन्धों में निर्णायक का काम करेगी, तथा ब्रिटिश साम्राज्य की स्वशासी इकाइयों के समान समस्त भारत के हितों का प्रतिनिधित्व करेगी। इस नक्शे में देशी रियासतों के लिए भी स्थान है।"[1]

नरेन्द्र मण्डल के शुभारम्भ के अवसर पर कदाचित् इन्हीं नयी घटनाओं के सन्तुलन के लिए राजवर्ग को यह वचन दिया गया कि राजाओं को यह विश्वास रखना चाहिए कि सम्राट् ने भारतीय राजाओं के विशेषाधिकार, अधिकार और प्रतिष्ठा को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए जो आश्वासन उन्हें अनेक अवसरों पर दिये हैं, उनका सदा आदर किया जायगा। कनाट के ड्यूक ने, नरेन्द्र मण्डल का उद्घाटन करते हुए घोषणा की थी कि सम्राट् की प्रतिज्ञायें सदा "अभंग और अभंजनीय" रहेंगी।

परन्तु, फिर भी, राजा असन्तुष्ट और भयभीत थे। वे यह जानने के लिए उत्सुक थे कि यदि ब्रिटिश भारत को औपनिवेशिक स्वराज्य मिल गया तो ब्रिटिश संसद उसे रियासतों के साथ अपने सम्बन्धों की देखभाल का अधिकार देगी या नहीं, तथा वह किसी भी प्रकार के संविधान के अधीन, जो कि ब्रिटिश भारत या समस्त भारत के लिए बनाया जाय, सदा के लिए उनकी आन्तरिक प्रभुता की रक्षा करेगी या नहीं।

दूसरे, राजा लोग एक दूसरे कारण से सर्वोच्च सत्ता की भी अधिक स्पष्ट और असन्दिग्ध परिभाषा चाहते थे। उनका यह आरोप था कि राजनीतिक विभाग सन्धि की शर्तों को भंग कर के उनके अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप किया करता है। सर्वोच्चता की स्पष्ट परिभाषा कभी हुई ही न थी, इसलिए वे अपराधी से जवाब तलब भी नहीं कर सकते थे। अतः राजाओं की यह मांग थी कि सर्वोच्च सत्ता के कामों और अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या कर दी जाय, जिससे राजा लोग यह साफ-साफ जान सकें कि उनकी क्या स्थिति है और उनकी आन्तरिक प्रभुता की सीमायें क्या हैं।

तीसरे, राजा लोग यह चाहते थे कि ब्रिटिश भारत और रियासतों के वित्तीय

---

[1]मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट।

एवं आर्थिक सम्बन्ध की जांच की जाय, जिससे वे राजस्व के भार से, जिसे वे अन्यायपूर्ण समझते थे, उन्मुक्ति की मांग कर सकें। ऐसी जांच को राजा लोग किसी भी योजना के लिए आवश्यक उपक्रम समझते थे, चाहे वह योजना संघ में शामिल होने के बारे में हो, और चाहे रियासतों और ब्रिटिश भारत के मध्य समान हित के मामलों में संगठित परामर्श के बारे में।

राजाओं के लिए नरेन्द्रमण्डल के रूप में जिस नये मंच की व्यवस्था की गयी थी, उसका उन्होंने अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए पूर्ण सदुपयोग किया। आरम्भ के प्रथम पांच वर्षों में, राजाओं की शिकायतें और मांगें नरेन्द्रमण्डल के हर अधिवेशन में व्यक्त की गयीं। इससे निश्चय ही मण्डल की उन्नति में सहायता मिली, यद्यपि कुछ लोग यह सोचते थे कि उसका और भी अच्छा उपयोग हो सकता था।

नरेन्द्र मण्डल की प्रकृति या स्वरूप चाहे कैसा ही रहा हो, उससे मौजूदा स्थिति के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं में सुधार अवश्य हुआ। नरेन्द्र मण्डल के गठन ने रियासतों का युक्तियुक्त वर्गीकरण करके, राजाओं को गड़बड़झाला के अन्धकूप से बाहर निकाल लिया। एक सौ आठ राजा तो अपनी ही अधिकार-शक्ति से नरेन्द्र मण्डल के सदस्य बनाये गये, और 12 राजा 127 दूसरी रियासतों के शासकों द्वारा चुने गये। शेष रियासतें और लघु-रियासतें, जिनकी संख्या 365 से कम न थी, महत्वहीन समझी गयीं, और इसलिए उन्हें प्रतिनिधित्व के योग्य नहीं समझा गया।

फिर, पहली बार, रियासतें सामान्य हित के मामलों पर आपस में मिल कर विचार-विमर्श और परामर्श करने के लिए प्रोत्साहित हुईं। अब उन्हें नरेन्द्र मण्डल के अधिवेशनों में भाग लेने, परामर्श करने तथा ऐसे विषयों पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार व्यक्त करने के लिए आमन्त्रित किया जाता था, जैसे कि "सम्राट् के साथ उनका सम्बन्ध, राजनीतिक व्यवहार तथा ब्रिटिश भारत के साथ सम्पर्क की कड़ियों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न।" डी मान्टमोरेंसी ने लिखा है :—

> "नरेन्द्र मण्डल के और विशेष रूप से नरेन्द्रमण्डल की स्थायी समिति के कार्य ने जंगल के झाड़-झंकाड़ को काट कर साफ कर दिया तथा जो प्रश्न निर्णय की प्रतीक्षा कर रहे थे, उन्हें दिन के स्वच्छ प्रकाश में ला कर रख दिया।"[1]

---

[1] "दी इंडियन स्टेट्स एंड दी इंडियन फेडरेशन"—पृ० 92

परन्तु, ब्रिटिश सरकार की साम्राज्यवादी नीति और स्वार्थ की भावना ने, नरेन्द्रमण्डल को स्वस्थ परम्परायें डालने अथवा रियासतों के प्रशासन को प्रान्तों के प्रशासन की कोटि में लाने के लिए समुचित उपाय करने के वास्तविक अवसरों से वंचित कर दिया। वज्रपात तो आरम्भ में ही हो गया था, जब यह निश्चय हुआ कि मण्डल की कोई सिफारिश पृथक् रूप से किसी रियासत या किसी शासक के लिए वन्धनकारी न होगी, तथा मण्डल किसी रियासत के किसी मामले के सम्बन्ध में भारत सरकार को सम्बोधित करने के अधिकार अथवा कर्म स्वातन्त्र्य पर किसी प्रकार का कोई प्रभाव न डालेगा। इस प्रकार मण्डल एक ऐसी संस्था बन कर रह गया, जिसका विशेषाधिकार केवल मिलना, बातचीत करना और चले जाना था। हैदराबाद और मैसूर सरीखी कुछ सबसे बड़ी और सबसे महत्त्वपूर्ण रियासतें इसमें कभी शामिल ही नहीं हुईं। इसके वार्षिक अधिवेशनों में अधिकांश समय विशेषाधिकारों और निर्वाध अधिकारों के विचार-विमर्श में ही व्यतीत हो जाता था। रियासती जनता के अधिकारों और कल्याण पर प्रभाव डालने वाले प्रशासकीय एवं राजनीतिक महत्त्व के मामलों पर शायद ही कभी विचार होता था । इसके अतिरिक्त अधिवेशनों में शानशौकत और बाहरी तड़कभड़क का बेतहाशा प्रदर्शन किया जाता था तथा राजा लोग रियासतों के साथ अपने एकाकार होने के छूछे दावे पेश किया करते थे।

राजाओं के मस्तिष्क में, सर्वोच्च सत्ता और उसके साथ उनके सम्बन्ध का प्रश्न, उनकी प्रजा के कल्याण को प्रभावित करने वाले अन्य समस्त प्रश्नों से आगे रहता था। भारत सरकार इस प्रवृत्ति को आड़ी निगाह से देखने के बजाय, अक्सर प्रोत्साहित करने का यत्न किया करती थी। इसी लिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि नरेन्द्रमण्डल को किसी प्रकार की कोई सफलता प्राप्त नहीं हो सकी।

मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट में तीन सिफारिशें की गयी थीं—जांच आयोग द्वारा रियासतों के बीच के या रियासत और प्रान्तीय सरकार के बीच के अथवा रियासत और भारत सरकार के बीच के विवादों का निपटारा; रियासतों का भारत सरकार से सीधा सम्बन्ध स्थापित करना; तथा रियासतों और भारत सरकार को सम्मिलित विचार-विनिमय द्वारा एक दूसरे के अधिक निकट लाना। परन्तु इनमें से अन्तिम सिफारिश कभी क्रियान्वित नहीं की जा सकी, क्योंकि नरेन्द्र मण्डल और राज्य परिषद के सम्मिलित विचार-विनिमय का कभी प्रयत्न ही नहीं किया गया। जैसा कि मेनन ने कहा है, रियासतों और भारत सरकार का धीरे-धीरे निकट आना विशुद्ध आशा

मात्र वना रहा। सर्वोच्च सत्ता सर्वोच्च बनी रही और 'सर्वोच्चता' सदा की भांति अनिश्चित और अनिर्दिष्ट ही रही।[1]

नरेन्द्रमण्डल की स्थापना के समय मिस्टर मांटग्यू और लार्ड चैम्सफोर्ड के अथवा ब्रिटिश सरकार के इरादे चाहे कुछ भी रहे हों; यह महान् संस्था आदि से अन्त तक विशुद्ध विचार-विमर्श करने वाली संस्था वनी रही, और इसने विधान सम्वन्धी या प्रबन्धकार्य सम्बन्धी कोई काम नहीं किया। मण्डल की स्थापना के समय और वाद में लगातार कई वाइसरायों तथा साइमन कमीशन ने जो यह आशा की थी कि इस से रियासतें और केन्द्रीय विधानमण्डल का उच्च सदन किसी न किसी प्रकार एक दूसरे के अधिक निकट आ जायेंगे, कभी पूरी नहीं हुई। यह कहना कि नरेन्द्रमडल से ऐसी आशा कभी की ही नहीं गयी, तथ्यों के विपरीत होगा। बटलर समिति ने ऐसे मामलों के सम्बन्ध में, जो ब्रिटिश भारत और रियासतों दोनों को समान रूप से प्रभावित करते थे, एक समान कार्रवाई करने की आवश्यकता पर बल दिया था। उसका भी अर्थ नरेन्द्र मण्डल की प्रेरणा से अथवा उसकी सहायता से दोनों भारतों के प्रतिनिधियों के बीच किसी न किसी प्रकार का सामान्य विचार-विनिमय ही था। मि० मांटेग्यू और लार्ड चैम्सफोर्ड के मस्तिष्कों में भी अखिल भारतीय शासनविधि की कल्पना पहले से ही मौजूद थी, यह बात उनकी रिपोर्ट के इस अनुच्छेद से पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है :—

> "20 अगस्त 1917 की घोषणा को मान कर भी हम इस समय केवल स्वशासी भारतीय प्रान्तों के समूह के रूप में ही जो कतिपय प्रयोजनों के लिए एक उत्तरदायी भारत सरकार के अधीन, मिल कर बना हो, इसकी सर्वांशतः पूर्ति की आशा कर सकते हैं; इसके अलावा और किसी रूप में इसकी पूर्ति की आशा नहीं की जा सकती। यह सम्भावना है कि इस समय जो भारत की देसी रियासतें कहलाती हैं, वे भी अन्त में उसी सम्पूर्ण में मिल जायेंगी। उनका सम्बन्ध कैसा होगा, इसकी परिभाषा करने का प्रयत्न हम अभी नहीं करेंगे। ऐसे संगठन के लिए अंग्रेजी भाषा में "फेडरल" (संघीय) के अलावा दूसरा शब्द नहीं है।"[2]

---

[1]"दी स्टोरी आफ दी इन्टीग्रेशन आफ दी इंडियन स्टेट्स"—पृ० 19

[2]मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड रिपोर्ट (जी० एन० जोशी की 'इंडियन एडमिनिस्ट्रेशन' में उद्धृत)—पृ० 30

गोलमेज सम्मेलन में, संयुक्त संसदीय समिति की बैठकों में तथा बाद में जब वाइसराय ने अधिमिलन-पत्रों के मसविदे राजाओं की स्वीकृति के लिये उनके सामने रखे तब, संघ योजना के प्रति राजाओं की प्रतिक्रिया कैसी थी, इसकी भी एक कहानी है, जो बाद के एक अध्याय में कही गयी है। यहां इतना ही कह देना काफी है कि यद्यपि कुछ राजा लोग कभी-कभी भावावेश और ऊपरी देशभक्ति के प्रवाह में बह जाते थे, परन्तु वास्तव में वे उन शर्तों पर भारतीय संघ में शामिल होने के लिए कभी राजी नहीं हुए, जो एक ओर रियासती जनता के लिए और दूसरी ओर समस्त भारत के लिए उचित और न्यायसंगत कही जा सकती थी।

मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधारों और उनकी पूर्ववर्ती तथा परवर्ती घोषणाओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इनमें भारत में सांविधानिक सुधारों के अन्तिम परिणाम की व्याख्या करते हुए उनका क्षेत्र ब्रिटिश भारत के बाहर भी बताया गया था। जो चीज उस समय अस्पष्ट थी, वह सांविधानिक सुधारों के क्रियान्वयनकाल में स्पष्ट मालूम पड़ने लगी। इस सांविधानिक विकास में कुछ ऐसी स्पष्ट और सुनिर्दिष्ट अवस्थायें आयीं, जिनके कारण ब्रिटिश सरकार, राजाओं और भारतीय जनता के प्रतिनिधियों को अधिकृत वक्तव्यों के रूप में निश्चित आश्वासन देना आवश्यक हो गया। उदाहरणार्थ, उन घटनाओं ने, जिनके कारण साइमन कमीशन की नियुक्ति हुई, एक ऐसा अवसर उपस्थित कर दिया कि वाइसराय और भारत-मन्त्री (सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया) को, यह दुहराते हुए सरकारी तौर पर घोषणायें करनी पड़ीं कि इन सुधारों का अवश्यंभावी और अनिवार्य परिणाम एक अखिल-भारतीय संघ का निर्माण है। ऐसी सभी घोषणाओं में, प्रस्तावित संघ में, किसी परस्पर स्वीकार्य व्यवस्था के अनुसार रियासतों के शामिल होने का, नपी-तुली भाषा में, परन्तु अनिवार्य रूप से, उल्लेख रहता था।

घटनाक्रम के इस विकास का स्वागत करते हुए, भारत के लोकनेता इस राष्ट्रीय मांग को दुहराने लगे कि अन्त में ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों को एक ही प्रशासन के अंग बनना पड़ेगा। नेहरू समिति ने भी स्पष्ट शब्दों में इस बात पर बल दिया था कि रियासतों को अखिल भारतीय संघ के दायरे से बाहर रखना सम्भव नहीं है, क्योंकि वे भारत के अविभाज्य अंग हैं। यद्यपि समिति ने राजाओं को यह आश्वासन दे दिया था कि वे अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों का उपभोग करते रहेंगे, फिर भी उसने यह स्पष्ट कर दिया था कि ऐसी व्यवस्था के लिए "उनकी रियासतों की मौजूदा शासन और प्रशासन प्रणाली में सुधार" की आवश्यकता होगी।

यह संकेत मिलने पर कि किसी न किसी दिन राजाओं को अपनी शान्तिपूर्ण पृथक्ता की स्थिति भंग करनी होगी, उनकी जो प्रतिक्रिया हुई, उससे उनमें बेचैनी की भावना व्याप्त हो गयी। उनकी वर्तमान स्थिति ने उन्हें संतृप्ति-बिन्दु तक सुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रदान कर रखी थी। वे इस बात को भली भांति जानते थे कि उस स्थिति में किसी प्रकार के परिवर्तन का अर्थ होगा उनके अधिकारों और विशेषाधिकारों में से कम से कम कुछ के साथ समझौता करना। अतः अखिल भारतीय संघ के नाम मात्र से ही वे थर्रा जाते थे। संविधान जांच कमीशन के अध्यक्ष सर जान साइमन और वाइसराय लार्ड इर्विन भी इसी प्रकार के घटना-विकास की ओर संकेत कर रहे थे। सर जान साइमन का यह सुझाव भी कि समस्त भारतीय समस्या के पूर्ण समाधान के लिए, ब्रिटिश भारत और देसी रियासतों के प्रतिनिधियों में परामर्श के हेतु, एक गोलमेज सम्मेलन होना चाहिए, ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार कर लिया था। वाइसराय ने एक सरकारी घोषणा द्वारा यह बताया कि "भारत की सांविधानिक प्रगति की स्वाभाविक समस्या औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति है।" ऐसे घटना-विकास का स्वाभाविक अर्थ होगा भारतीयों को अधिक सत्ता का हस्तान्तरण। इससे ब्रिटिश भारत और भारतीय भारत आमने-सामने आ जायेंगे। यदि ब्रिटिश भारत में, सम्पूर्ण सत्ता का उपयोग, लोकतन्त्रीय विधि से शासित प्रान्तों में जनता के प्रतिनिधियों द्वारा हुआ, तो राजा लोग रियासतों में अपने निरंकुश शासन के विरुद्ध जनता के आन्दोलन के ज्वार को कब तक रोके रखने की आशा कर सकेंगे।

इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि सांविधानिक सुधारों के बारे में हर प्रकार की चर्चा से राजा लोग बिदकते थे, क्योंकि जो भी सुझाव दिये जाते थे, वे सब दृढ़तापूर्वक किसी न किसी प्रकार की संघीय एकता की ओर ले जाते प्रतीत होते थे और उसका प्रभाव देसी रियासतों पर भी पड़ता था। परन्तु राजा लोग खुल्लम-खुल्ला संघ के विचार के विरोधी न थे। नरेन्द्र मण्डल ने इस विचार के प्रति रियासतों का आम रवैया कभी प्रकट नहीं किया। केवल महाराजा बीकानेर ने, पहले गोलमेज सम्मेलन में रियासती शिष्ट मण्डल की ओर से यह अवश्य घोषित किया था कि देसी रियासतों के शासक किसी अखिल भारतीय संघ की योजना में इस शर्त पर शामिल होने के लिए तैयार हैं कि रियासतों और उनके शासकों के अधिकारों और विशेषाधिकारों का समुचित आदर किया जाय। उन्होंने अपनी ओर से तथा राजवर्ग की ओर से आश्वासन दिया था कि "हम इस बात से सहमत हैं कि भारत को संघीय आधार पर संयुक्त हो जाना चाहिए, तथा यदि हमारे अधिकार और विशेषाधिकार सुरक्षित

रहे, तो हम स्वेच्छा से संघ में शामिल हो जायेंगे।" देशभक्ति के प्रवाह में बहते हुए उन्होंने "संसार की दृष्टि में समानता के दर्जे के लिए उस उत्कण्ठा के साथ राजाओं का तादात्म्य बताया, जो औपनिवेशिक स्वराज्य के लिए उत्कट इच्छा के रूप में प्रकट हो रही है, और जो आज समस्त विचारशील भारतवासियों को प्रबल शक्ति प्रदान कर रही है।"[1] नवाब भोपाल ने महाराजा बीकानेर के कथन का केवल समर्थन ही नहीं किया, बल्कि और भी आगे बढ़ कर कहा--"हम केवल स्वशासी और संघ-बद्ध ब्रिटिश भारत से ही संबद्ध हो सकते हैं।"

बाद में राजाओं के प्रतिनिधियों के रुख में परिवर्तन हो गया। उनकी पहली उक्तियों को देखते हुए यह परिवर्तन आश्चर्यजनक मालूम पड़ता था। वर्षों तक लोग यही न समझ पाये कि आखिर राजाओं ने, या कम से कम बड़ी रियासतों के शासकों ने, अचानक संघ में शामिल होने का निर्णय कैसे कर लिया। कुछ लोग यह सोचते थे कि शायद अंग्रेज राजमर्मज्ञों ने उन्हें मना लिया है, क्योंकि वे केन्द्र में कुछ उत्तरदायित्व देने का विरोध नहीं कर सकते थे। परन्तु, मेनन ने राजाओं के रुख में परिवर्तन की जो व्याख्या की है, वह अधिक विश्वसनीय मालूम पड़ती है। वे कहते हैं:--

> "ऐसे कई कारण थे, जिन्होंने राजाओं को ऐसा करने के लिए प्रेरित किया। ऐसी कोई रियासत न थी, जो ब्रिटिश भारत की जन-जागृति से सर्वथा अछूती रही हो। कुछ रियासतों में उपद्रव भी हुए थे और सरकार को चुनौती दी गयी थी। किसी शासक को इस विषय में कोई भ्रम न था कि यदि उसकी रियासत में सविनय अवज्ञा आन्दोलन शुरू हुआ तो क्या होगा। राजाओं को यह विश्वास था कि यदि वे प्रतीक्षा करते रहे और तब तक एक संयुक्त और स्वशासी ब्रिटिश भारत सामने आ गया तो अच्छा सौदा करना अधिक कठिन हो जायगा। कुछ बड़े शासक, जो नरेन्द्रमण्डल पर नियन्त्रण रखते थे वास्तव में यह समझते थे कि संघ में शामिल होने से उनकी रियासतों को वित्तीय लाभ होगा। कुछ व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा से उद्युक्त हुए थे और प्रशासन पर प्रभाव जमाने तथा सम्भव हुआ तो नयी सरकार में किसी उच्च पद पर आसीन होने का स्वप्न देख रहे थे। मजदूर सरकार के हाथ में सत्ता का आना भी उनके रुख के निर्धारण में एक प्रमुख कारण था।"[2]

---

[1] "दी स्टोरी आफ दी इन्टीग्रेशन आफ इंडियन स्टेट्स"—पृ० 28

[2] वही,—पृ० 28

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि उस समय अधिकांश राजाओं के ऐसे ही भाव थे। परन्तु विकल्प भी थे। कुछ राजा, जिनके मुखिया महाराजा पटियाला थे, संघ-योजना के विरोधी थे। वास्तव में, उन्होंने अपने इस विरोध को छिपाने का भी प्रयत्न नहीं किया। राजाओं का यह समुदाय अखिल भारतीय संघ में शामिल होने से पहले रियासतों का संघबद्ध होना आवश्यक समझता था। यद्यपि कई छोटी रियासतों ने इस मत का समर्थन किया, परन्तु राजाओं के प्रामाणिक प्रवक्ताओं ने "भारतीय भारत" का संघ बनाने के विचार का कभी समर्थन नहीं किया।

परन्तु जब संघ की आवश्यकताओं पर विस्तार से विचार होने लगा और उसकी कल्पना मूर्त रूप धारण करने लगी तो राजाओं का रुख भी पग-पग पर सख्त होने लगा। पहले तो, अपने अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए उनकी मांग ही इतनी अस्पष्ट थी कि भारत के राजनीतिक दल, जिनमें कांग्रेस भी थी, जितनी रियायतें उन्हें देना चाहते थे, उन्हें वे आशा से कम समझ कर ठुकरा देते थे। दूसरे, वे संघ के प्रयोजनों के लिए किसी प्रकार की प्रत्यक्ष कर प्रणाली स्वीकार करने के लिए तैयार न थे, और न पूरी क्षतिपूर्ति के बिना अपने किसी अधिकार या विशेषाधिकार का त्याग ही करना चाहते थे। तीसरे, केन्द्र में भारतीय सरकार बनने के उनके बद्धमूल सन्देह ने तथा अपने विशेषाधिकारों की रक्षा के लिए एकमात्र अंग्रेजों पर ही उनकी निर्भरता ने भारत में यथापूर्व स्थिति बने रहने में ही उनके लिए एक विशिष्ट निहित स्वार्थ पैदा कर दिया था।

जब कांग्रेस ने यह कहना शुरू किया कि संघीय विधानमण्डल के लिए रियासतों के प्रतिनिधि रियासती प्रजा द्वारा चुने जाने चाहिए, रियासतों की सरकारों या उनके शासकों द्वारा मनोनीत नहीं होने चाहिए, तो राजाओं के मन में जो चोर छिपा हुआ था वह खुली शत्रुता के रूप में प्रकट हो गया।

पहला गोलमेज सम्मेलन एक संघीय ढांचा उपसमिति बनाने के अतिरिक्त और कुछ न कर सका। उसकी एकमात्र सफलता यह थी कि एक सामान्य समझौता इस विषय में हो गया कि बातचीत का अन्तिम लक्ष्य एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना होना चाहिए। अपने कार्य-क्षेत्र की परिभाषा करने के अतिरिक्त, गोलमेज सम्मेलन का पहला अधिवेशन अधिक कुछ नहीं कर सका, इसका एक कारण यह भी था कि कांग्रेस ने सम्मेलन का बहिष्कार कर दिया था और उसमें अपना कोई प्रतिनिधि नहीं भेजा था।

पहला गोलमेज सम्मेलन समाप्त होते ही, कुछ ही सप्ताहों में, देश की स्थिति

बदलने लगी। लार्ड इर्विन की समझौतावादी नीति के फलस्वरूप कांग्रेस के सब नेता जेल से मुक्त कर दिये गये और मार्च 1931 में गांधी-इर्विन समझौता हस्ताक्षरित हुआ। कांग्रेस दूसरे गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने के लिए राजी हो गयी और उसने महात्मा गांधी को अपने एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में भेजा। दूसरा गोलमेज सम्मेलन शीघ्र ही कार्यव्यस्त हो गया और संघीय विधान मण्डल की रचना पर विचार करने लगा। रियासतों के प्रतिनिधि केवल अपने ही लाभ की बातें सोचने लगे। बड़ी रियासतें अपने महत्त्व और जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व की मांग करने लगीं। उनके शासक संघ में मिलने से विशेष वित्तीय लाभ चाहते थे। उदाहरणार्थ, मैसूर रियासत इस शर्त पर संघ में शामिल होने को राजी थी, कि उसे शुल्कमुक्त कर दिया जाय। हैदराबाद की संघ में शामिल होने के लिए यह शर्त थी कि बरार के सम्बन्ध में निजाम की इच्छा पूरी की जाय। बड़ौदा रियासत शामिल होने से पहले ओखा बन्दरगाह और नमक के प्रश्नों का सन्तोषजनक हल करा लेना चाहती थी। धीरे-धीरे सभी राजा संघ के विरोधी हो गये और दूसरे गोलमेज सम्मेलन की समाप्ति पर जो परिणाम सामने आये वे अधिक आशाप्रद न थे।

जब तीसरा गोलमेज सम्मेलन शुरू हुआ तो उसके सामने संघीय विधानमण्डल, उसका आकार और रचना आदि से सम्बन्ध रखने वाले महत्त्वपूर्ण प्रश्न थे, जिनका अभी तक समाधान नहीं हो पाया था। कांग्रेस फिर इसमें शामिल नहीं हुई।

रियासतों के प्रतिनिधित्व का प्रकार वाइसराय और ब्रिटिश सरकार के लिए एक समस्या ही बना रहा। कभी यह सोचा जाता था कि सीटों का नियतन जनसंख्या के आधार पर किया जाय और कभी यह कि वह रियासतों के राजनीतिक दर्जे के अनुसार तथा उन सलामियों की संख्या के अनुसार किया जाय, जो राजाओं को दी जाती थीं। जब कभी वाइसराय और उसके दूत इस प्रश्न को सुलझाने का प्रयत्न करते, तभी राजा पूछते "हमारे अधिकारों और विशेषाधिकारों का क्या होगा?" उनकी यह मांग बड़ी विचित्र थी कि "संविधान में हमारे सन्धि-अधिकारों का आदर होना चाहिए, हमारे अन्दरूनी मामलों में कोई हस्तक्षेप न होना चाहिए और ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि रियासतें संघबद्ध होकर सामूहिक रूप से संघ में शामिल हो सकें।"[1]

अन्त में, सम्राट् की सरकार को स्वयं ही निर्णय करना पड़ा और स्वयं ही प्रस्ताव

---

[1]वही—पृ० 32

तैयार करने पड़े, जो एक श्वेतपत्र में प्रकाशित किये गये। इन प्रस्तावों पर विचार करने के लिए संसद के दोनों सदनों की एक संयुक्त प्रवर समिति नियुक्त की गयी। वाद के विचार-विमर्श में रियासतों के प्रतिनिधियों तथा कांग्रेस के अलावा समस्त राजनीतिक दलों ने भाग लिया। अक्टूबर 1934 में संयुक्त प्रवर समिति की रिपोर्ट मिल जाने के बाद, उसी वर्ष दिसम्बर में भारत शासन विधेयक संसद में लाया गया। इस विधेयक की व्यवस्थाओं पर विचार करने के लिए राजाओं ने रियासती मन्त्रियों की एक प्रतिनिधिक समिति बनायी। समिति ने कई संशोधनों और परिवर्तनों का सुझाव दिया और कहा कि यदि ये नहीं किये जायेंगे तो समिति राजाओं से यह सिफारिश नहीं कर सकेगी कि वे प्रस्तावित संघ में शामिल हों। कुछ महीनों बाद राजाओं और उनके प्रतिनिधियों का एक और सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन ने एक प्रस्ताव पास किया, जिसमें कहा गया कि "विधेयक और अधिमिलन-पत्र देशी रियासतों के लिए स्वीकार्य नहीं माने जा सकते।"

राजाओं द्वारा बेसुरीला राग अलापे जाने के बावजूद, हाउस आफ कामन्स तथा हाउस आफ लार्ड्स में आठ सप्ताह तक लम्बे विचार-विमर्श और वादविवाद के पश्चात् संसद ने भारत शासन विधेयक पास कर दिया। अगस्त में सम्राट् की स्वीकृति मिलने के बाद, यह विधेयक भारत शासन अधिनियम, 1935 (गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, 1935) बन गया।

हमें भारत शासन अधिनियम की व्यवस्थाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन करने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही कहना पर्याप्त है कि इसमें संघीय आधार पर रियासतों और ब्रिटिश भारत के मध्य सांविधानिक सम्बन्ध की व्यवस्था की गयी थी। अधिनियम की एक विशेषता यह थी कि जहां रियासतों के लिए संघ-योजना स्वीकार करना ऐच्छिक रखा गया था वहां प्रान्तों के लिए वह अनिवार्य बना दिया गया था। रियासतों को एक अधिमिलन-पत्र द्वारा शामिल होना था। अधिमिलन की शर्तों में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यह अधिनियम रियासतों पर उस अधिकार के प्रयोग के अलावा और किसी अधिकार की अनुमति नहीं देता, जो राजाओं द्वारा स्वतन्त्ररूप से लिखे गये अधिमिलन-पत्र से मिलेगा। प्रान्तों और रियासतों के मध्य इस विभेदकारी व्यवहार के समर्थन में अनेक तर्क दिये गये। यह बात तो आसानी से समझ में आती है कि 1935 में ये दोनों प्रकार के राज्य-क्षेत्र ऐतिहासिक और राजनीतिक दृष्टि से एक दूसरे से बहुत भिन्न थे; परन्तु राजनीति-विज्ञान के विद्यार्थी के लिए यह समझना कठिन है कि सांविधानिक योजना में उनके साथ भेदपूर्ण व्यवहार क्यों किया

गया। संयुक्त प्रवर समिति ने इस विरोधाभास का परिहार इस प्रकार किया :—

"मुख्य कठिनाइयां दो हैं : एक तो यह कि देशी रियासतें दर्जा और स्वरूप में ब्रिटिश भारत के प्रान्तों से सर्वथा भिन्न हैं; और दूसरी यह कि रियासतें उन शर्तों पर संघ में शामिल होने के लिए तैयार नहीं हैं, जिन पर प्रान्त शामिल होंगे। पहली कठिनाई के विषय में तो यह बात है कि रियासतें विभिन्न अंशों में प्रभुसत्ता रखती हैं और एक प्रकार से वे व्यक्तिगत शासनप्रणाली के अधीन हैं, परन्तु ब्रिटिश भारत के प्रान्त ऐसे नहीं हैं। रियासतों का संघ में अधिमिलन इसीलिए प्रत्येक रियासत के शासक की इच्छा के बिना नहीं हो सकता। अधिमिलन के पश्चात्, संघीय विधान-मण्डल के लिए, अधिमिलित रियासत के प्रतिनिधि शासक द्वारा मनोनीत किये जायेंगे, तथा उसकी प्रजा उसके प्रति वफादारी बनाये रखेगी। दूसरी कठिनाई के विषय में राजाओं ने यह स्पष्ट कर दिया है कि अब वे कुछ शर्तों पर ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के साथ संघबद्ध होने को तैयार हैं, परन्तु सम्पूर्ण-प्रभुत्वसम्पन्न होने के कारण, वे इस बात के लिए राजी नहीं हो सकते कि संघीय सरकार उनके सम्बन्ध में ऐसे अधिकारों का प्रयोग करे, जो सब प्रकार से उन अधिकारों के समान हों, जिनका प्रयोग वह प्रान्तों के सम्बन्ध में करेगी, जिनको अभी स्वशासन भी नहीं मिला।"

1936 में भारत शासन अधिनियम 1935 की घोषणा होने के बाद से सितम्बर 1939 तक, जब कि यूरोप में युद्ध छिड़ जाने के कारण सारी स्थिति बदल गयी, वाइसराय लार्ड लिनलिथगो का मुख्य कार्य राजाओं को संघ में शामिल होने के लिए मनाना था। ऐसा कोई तरीका न था, जिसे वाइसराय राजाओं को संघ में शामिल होने के लाभ बताने के काम में न लाया हो। परन्तु उसके सब प्रयत्न इसलिए व्यर्थ सिद्ध हुए, कि राजा लोग अपनी सुरक्षा और विशेषाधिकार की उस स्थिति में किसी भी परिवर्तन के विरुद्ध थे, जिसका उपयोग वे 100 से भी अधिक वर्षों से कर रहे थे। यद्यपि राजकीय भोजों के अवसरों पर वे कभी-कभी देशभक्ति के उद्‌गार प्रकट कर दिया करते थे, परन्तु भारत की राजनीतिक प्रगति में उनकी रत्तीभर भी रुचि न थी।

पहला कदम, जो वाइसराय ने अपने कर्तव्य को पूरा करने के लिए उठाया, वह अपने तीन विश्वासपात्र दूतों को, अधिमिलन-पत्र के मसविदे की प्रतिलिपियों के साथ, रियासतों में भेजना था। एक साल तक ये दूत विभिन्न रियासतों का दौरा करते रहे और राजाओं तथा उनके परामर्शदाताओं से मिलते रहे। इनके नाम थे सर कोर्टने लेटिमर, सर फ्रांसिस वाइली और सर आर्थर लोथियन। उनके सत्परामर्श

और मित्रतापूर्ण उपदेश का राजाओं पर कोई प्रभाव न पड़ा। मेनन के शब्दों में, राजाओं ने यह स्पष्ट कर दिया कि उनके लिए संघ का विशेष महत्त्व नहीं है, और न वे उसमें प्रवेश के लिए उत्सुक हैं। जो प्रश्न उन्हें परेशान किये हुए था, वह यह नहीं था कि संघ में मिल जाने से वे समस्त भारत की उन्नति में अपना योग दे सकेंगे या नहीं, बल्कि यह था कि संघ के अन्दर रह कर उनकी अपनी स्थिति अधिक अच्छी और अधिक सुरक्षित रहेगी या संघ के बाहर रह कर।

दौरे से लौट कर दूतों ने वाइसराय को बताया कि उनका मिशन फेल हो गया है। उन्होंने कहा कि राजा लोग संघ में शामिल होने के लिए राजी होने से पहले संविधान में दूरगामी परिवर्तन और रियायतें चाहते हैं। स्पष्ट शब्दों में, वे अच्छे से अच्छा सौदा करने पर तुले हुए हैं और समुचित रियायतों के बिना उन्हें संघ में शामिल होने के लिए मनाना सम्भव न होगा। वाइसराय राजाओं को संघ में लाने के लिए उत्सुक था; अतः उसने भारत मन्त्री को सुझाव दिया कि राजाओं को कुछ और अधिक स्पष्ट गारन्टी दी जाय और ऐसे वित्तीय मामलों के सम्बन्ध में यथास्थिति कायम रखी जाय, जिनके लिए राजा लोग आग्रह करते हैं। उसने यह भी सुझाव दिया कि भारत शासन अधिनियम भी तदनुसार संशोधित किया जाय। परन्तु भारतमन्त्री वाइसराय के 'विचार से सहमत न हुआ। उसका विचार था कि "ऐसी रियायतें संघ की सामान्य योजना से मेल नहीं खातीं और इनसे ब्रिटेन तथा भारत दोनों देशों में अत्यन्त हानिकारक विवाद खड़ा हो सकता है।"

अधिनियम के संशोधन का इस प्रकार निषेध हो जाने पर, राजनीतिक विभाग अधिनियम की सीमाओं के अन्दर रहकर ही राजाओं की मांगें पूरी करने के असम्भव कार्य में जुट गया। विचार-विमर्श और बातचीत का फिर एक दौर शुरू हुआ। परन्तु उनका कोई फल न हुआ। सच तो यह है कि राजनीतिक विभाग के अधिकारियों ने बातचीत को ऐसा रूप दे दिया, जो वाइसराय के दृष्टिकोण से भिन्न था। वाइसराय की उत्सुकता को राजाओं के लिए अच्छा अवसर समझ कर, इन अधिकारियों ने, एक प्रकार से उन्हें अपनी बात पर अड़े रहने के लिए प्रोत्साहित किया। मेनन के अनुसार, "ऐसा मालूम पड़ता था कि राजनीतिक विभाग राजाओं की कभी न समाप्त होने वाली मांगों पर रोक लगाने तथा उनके संघ-प्रवेश से प्राप्त होने वाले लाभों पर जोर देने के बजाय, उनके संघ-प्रवेश से होने वाली हानि पर जोर देने में तथा उस हानि को पूरा करने या कम करने के लिए उपाय खोजने में, अधिक समय खर्च कर रहा है।

इसके फलस्वरूप हर मोर्चे पर राजाओं के सामने झुकने की प्रवृत्ति पैदा हो गयी।"[1]

निष्फल वार्तालाप और विचार-विमर्श से ऊब कर, राजाओं ने नवम्बर 1938 में बम्बई में एक सम्मेलन किया। उन्होंने घंटों बातचीत की और अपने मन्त्रियों तथा परामर्शदाताओं के विचार सुने। अन्त में एक प्रस्ताव पास कर उन्होंने इस तर्क के आधार पर सांविधानिक योजना को ठुकरा दिया कि इसे स्वीकार करने से "राजा और उनके उत्तराधिकारी देश की तीव्रगति से बदलती हुई परिस्थितियों में सम्राट्' अपने वंश और अपनी प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्य के पूर्ण निर्वाह में असमर्थ रहेंगे।"

अब लार्ड लिनलिथगो का धैर्य भी समाप्त होने लगा था। वह इस आंख-मिचौनी के खेल से तंग आ गया था। चीजों को अन्तिम रूप देने के विचार से तथा यह जानने के लिए कि हर सम्बन्धित व्यक्ति का क्या मन्तव्य है, उसने सलामी रियासतों के समस्त शासकों को एक गश्ती पत्र भेजा। पत्र के साथ, उसने अधिमिलन-पत्र के मसविदे और सम्राट् के स्वीकृति-पत्र का मसविदा भी भेजा। पत्र में यह स्पष्ट लिखा था कि अधिमिलन-पत्र की शर्तों में किसी प्रकार के तात्विक परिवर्तन की कोई गुंजाइश नहीं है और राजाओं को 6 मास के अन्दर वाइसराय को यह सूचित कर देना चाहिए कि जिस रूप में यह लिखा गया है, उसी रूप में उसे स्वीकार करने के लिए वे तैयार हैं या नहीं।

किसी भी राजा ने इस पत्र का उत्तर नहीं दिया। इसके विपरीत उन्होंने इस मामले पर विचार करने के लिए एक और सम्मेलन बुलाया। सम्मेलन ने पुनः अधिमिलन-पत्र पर हस्ताक्षर करने में राजाओं की असमर्थता व्यक्त की। परन्तु अस्वीकृति प्रकट करते समय उन्होंने संयत और राजनयिक भाषा का प्रयोग किया। उन्होंने जो प्रस्ताव पास किया, वह यहां दिया जाता है :—

"बम्बई में आयोजित राजाओं और मन्त्रियों का यह सम्मेलन अधिमिलन-पत्र के संशोधित मसविदे और सम्बन्धित कागजों पर विचार करने के बाद, संकल्प करता है कि वे शर्तें, जिनके आधार पर अधिमिलन दिया जा रहा है, उस दिशा में, जिसका निर्देश मन्त्रियों की हैदरी समिति की रिपोर्ट में किया गया है और जिसकी पुष्टि ग्वालियर सम्मेलन की सिफारिशों द्वारा की गयी है, मौलिक रूप में असन्तोषजनक हैं और इसलिए अस्वीकार्य हैं। फिर भी सम्मेलन को विश्वास है कि सम्राट् की सरकार का अखिल भारतीय संघ के प्रश्न पर दरवाजा बन्द करने का इरादा नहीं हो सकता।

---

[1]वही,—पृ० 30

राजाओं को अपने नवीनतम संकल्प के सम्बन्ध में वाइसराय अथवा राजनीतिक विभाग की ओर से चाहे कुछ भी उत्तर मिला हो, जहां तक रियासतों का सम्बन्ध था, संघ के लिए दरवाजा अब वस्तुतः बन्द हो गया। सब बातों से यह मालूम पड़ता था कि राजाओं के रवैये ने वाइसराय को नाराज कर दिया था। साथ ही यह भी बात है कि उसके करने के लिए कुछ बचा भी न था। उन स्वशासी प्रान्तों की सीमावर्ती रियासतों में, जहां कांग्रेस ने सत्ता पर अधिकार कर लिया था, बिगड़ती हुई स्थिति से वह और भी अधिक चिन्तित हो गया था : अ० भा० रियासती प्रजा परिषद और उसकी अनेक शाखायें, अब प्रान्तों में अपने सजातीय संगठन, कांग्रेस की अभिनव अर्जित प्रतिष्ठा और शक्ति से प्रोत्साहित होकर, रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिए आन्दोलन के वास्ते इतनी अधिक साहसिक हो गयी थीं जितनी पहले कभी नहीं हुई थीं। राजस्थान में, दक्षिण की रियासतों में तथा दूरवर्ती कश्मीर और त्रावणकोर में संकट की आग सुलग रही थी तथा मैसूर और राजकोट में खुले संघर्ष हो रहे थे।

यह अवश्य कहना होगा कि वाइसराय इन जिम्मेदारियों के प्रति अपने रुख में आदि से अन्त तक सन्तुलन बनाये रहा। उसने यह सोचा होगा कि राजाओं का रुख, जो लगातार एकतरफा रहा, अब दृढ़ता से स्थिर हो गया है। यद्यपि यह सम्भव था कि वाइसराय रियासतों में उत्तरदायी शासन की मांग का और कांग्रेस के पक्षग्रह का समर्थन न करता, फिर भी उसके रुख में सांविधानिक परिवर्तन की वह भावना प्रति-बिम्बित हो रही थी, जिसने देश को आप्लावित कर दिया था। यह अनुमान लगाना कठिन है कि यदि विश्वयुद्ध उसकी रक्षा के लिए न आता, तो वह भारत में राजाओं के साथ तथा अपने देश में ब्रिटिश सरकार के साथ टकराव हुए बिना, कब तक सन्तुलन बनाये रखता। तथ्य यह है कि जब युद्ध छिड़ा, तो लार्ड लिनलियगो ने चैन की सांस ली, क्योंकि उसने स्वयं उसे उस स्थिति से बाहर निकाल लिया, जो दिन-ब-दिन अधिकाधिक गम्भीर और काबू से बाहर होती जा रही थी। युद्ध की घोषणा के केवल एक ही सप्ताह बाद, वाइसराय ने केन्द्रीय विधान मण्डल के दोनों सदनों में अपने भाषण में घोषणा की कि संघ की स्थापना तो सम्राट् की सरकार का लक्ष्य रहेगी, परन्तु "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के दबाव के कारण तथा हमारे सामने उपस्थित संकट पर ध्यान केन्द्रित रखने की आवश्यकता के कारण, हमारे सामने इसके अलावा और कोई विकल्प नहीं है कि हम संघ के लिए तैयारी का काम अभी विलम्बित रखें।"

इससे वाइसराय रियासतों से अपनी इच्छायें तथा भारत शासन अधिनियम की संघ-सम्बन्धी व्यवस्थायें मनवाने के कठिन कार्य से बच गया।

यूरोप में युद्ध छिड़ने से भारत में समस्त सांविधानिक दृष्टिकोण बदल गया। युद्ध-प्रयत्नों में सहायता देना, सरकारी क्षेत्र के लिए, समय की सबसे बड़ी आवश्यकता बन गयी, जो सब आवश्यकताओं से ऊपर थी। जब तक युद्ध जारी रहा, तब तक सभी सांविधानिक प्रश्न, जिनमें रियासतों का प्रश्न भी था, खटाई में पड़े रहे।

भारत के सांविधानिक भविष्य पर विचार करने के लिए दूसरा अवसर, 1942 में क्रिप्स मिशन के भारत आगमन के समय उपस्थित हुआ। क्रिप्स योजना का उद्देश्य, अल्पाधिक उपाय के रूप में, ब्रिटिश भारत के दलीय नेताओं को केन्द्रीय सरकार की जिम्मेदारियां संभालने के लिए राजी करना था, जिनमें रियासतों के भाग लेने की आवश्यकता नहीं समझी गयी थी।

राजाओं का यह अनुमान सही निकलने पर कि क्रिप्स योजना के प्रति कांग्रेस और मुसलिम लीग की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं है, उनको अपने हृदय में बड़ी प्रसन्नता हुई। वे स्वयं प्रस्तावों का विरोध करने के अरुचिकर कार्य से बच गये। फिर भी, उनका शिष्ट मण्डल सर स्टेफर्ड क्रिप्स से मिला और संक्षिप्त बातचीत के बाद, उसे निम्नलिखित प्रस्ताव दिया:

> "देसी रियासतें, अपनी मातृभूमि के हित में, भारत के लिए संविधान बनाने में, हर उचित तरीके से, जो रियासतों की प्रभुता और एकता का अविरोधी होगा, प्रसन्नता से अपना योग देंगी, जैसा कि वे सदा देती रही हैं। परन्तु रियासतों को यह आश्वासन मिलना चाहिए कि यदि कुछ रियासतें उसे मानना सम्भव न समझें, तो न माननेवाली रियासतों या रियासत-समूहों को, इच्छा प्रकट करने पर, यह अधिकार होगा कि वे एक उपयुक्त और मानी हुई प्रक्रिया के अनुसार, जिसे इसी प्रयोजन के लिए निश्चित किया गया हो, अपना संघ बना लें, जो सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न हो।"

जब क्रिप्स मिशन की असफलता घोषित हो गयी, और क्रिप्स स्वयं भारत से चला गया, तो राजाओं ने चैन की सांस ली। वस्तुतः कहा जाता है कि एक बड़ी रियासत के प्रधान मन्त्री ने वाइसराय के राजनीतिक परामर्शदाता सर हेनरी क्रेक को लिखा—"मैं समाचार पत्रों में मिशन की असफलता पर गम्भीर शोक के भावों की पर्याप्त अभिव्यक्तियां देखता हूं, और उस असफलता को एक महान् दुःखान्त घटना बताया जाता है। परन्तु व्यक्तिगत रूप से मैं यह अनुभव करता हूं कि हम उससे बाल बाल बच गये हैं।"[1]

---

[1]वही—पृ० 51

क्रिप्स योजना त्रुटियों से भरी हुई थी और वह भारत के भविष्य के लिए घातक समझी जाती थी, अतः कांग्रेस ने उसकी उपेक्षा कर दी। राजाओं और उनकी सरकारों को, अपनी स्वाभाविक तुच्छतापूर्ण शर्तें रखने के अलावा, उस पर अपने विचार प्रकट करने का कभी अवसर ही न मिला। क्रिप्स मिशन के उदाहरण का अनुसरण करते हुए, लार्ड वेवल ने भी रियासतों को 1945 के शिमला सम्मेलन में नहीं बुलाया। इस सम्मेलन का भी वही हाल हुआ, जो क्रिप्स योजना का हुआ था।

यूरोप में युद्ध बन्द होते ही तथा-इंगलेंड में मजदूर दल के सत्ताधिरूढ़ होते ही भारत की सांविधानिक और राजनीतिक समस्या के हल की खोज नये सिरे से शुरू हुई। ब्रिटिश संसदीय शिष्ट मण्डल और मन्त्रिमण्डल मिशन के दौरों का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। पूर्वकालिक सरकारी वक्तव्यों की धारा का अनुसरण करते हुए, मन्त्रिमण्डल मिशन ने राजाओं को आश्वासन दिया कि उनके दर्जे में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन करने का सम्राट् का इरादा नहीं है। परन्तु, उसने यह आशा व्यक्त की कि यदि बातचीत के फलस्वरूप कोई परिवर्तन सामने आये, तो राजा लोग बुद्धिमत्तापूर्वक उस पर अपनी स्वीकृति अवश्य देंगे। मन्त्रिमण्डल मिशन ने 16 मई 1946 को अपनी योजना घोषित की। इस योजना में भारत के प्रस्तावित संघ (यूनियन) के लिए एक विस्तृत प्रक्रिया दी गयी थी। इसमें रियासतों के विषय में विस्तार से कुछ नहीं कहा गया था, परन्तु उनके प्रवेश के लिए निम्नलिखित व्यवस्था की गयी थी :

1. सर्वोच्च सत्ता न तो ब्रिटिश सम्राट् के पास रह सकती है और न नयी सरकार को हस्तान्तरित की जा सकती है। परन्तु राजाओं द्वारा दिये गये इस आश्वासन के अनुसार कि वे भारत के नव विकास में सहयोग देने के लिये तैयार और इच्छुक हैं, रियासतों से यह आशा की जाती है कि वे अवश्य सहयोग देंगी।
2. रियासतों के सहयोग का स्वरूप नये संविधान के ढांचे के निर्माण के समय बातचीत द्वारा निश्चित किया जायगा। परन्तु यह किसी प्रकार न समझना चाहिए कि वह सब रियासतों के लिए एक-सा होगा।
3. उन विषयों के अलावा जो संघ को सौंपे जायेंगे, शेष सभी विषय और अधिकार रियासतों के पास रहेंगे। संघ को देशिक मामले, प्रतिरक्षा और संचार के विषय सौंपे जायेंगे।

4. आरम्भ में संविधान सभा में रियासतों का प्रतिनिधित्व एक वार्ता-समिति करेगी।
5. अन्तिम संविधान सभा में रियासतों को समुचित प्रतिनिधित्व मिलेगा, परन्तु सीटें 93 से अधिक नहीं मिलेंगी। चुनाव की विधि परामर्श द्वारा निश्चित की जायगी।
6. जब संविधान सभा के तीनों विभाग प्रान्तों और समूहों के लिए संविधान तैयार कर चुकेंगे, तो विभागों तथा देसी रियासतों के प्रतिनिधि संघीय संविधान को अन्तिम रूप देने के लिए फिर मिलेंगे।

जहां तक रियासतों के प्रवेश का प्रश्न था, मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना के प्रति कांग्रेस की प्रतिक्रिया सर्वथा आलोचनात्मक थी। कांग्रेस कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव पास कर यह विचार प्रकट किया कि संविधान सभा सर्वथा असमान तत्वों द्वारा गठित नहीं की जा सकती तथा "उसके लिए रियासतों के प्रतिनिधियों को चुनने का तरीका, जहां तक सम्भव हो, लगभग वैसा ही होना चाहिए, जैसा प्रान्तों में।[1] परन्तु, इसके एक ही दिन बाद, मन्त्रिमण्डल मिशन की ओर से जो प्रेस-वक्तव्य प्रकाशित हुआ, उसमें पुनः दृढ़ता के साथ कहा गया कि "रियासतों के प्रतिनिधियों को संविधान सभा में किस प्रकार नियुक्त किया जाय, यह प्रश्न मन्त्रिमण्डल मिशन के निर्णय का विषय न था, बल्कि यह साफ तौर से ऐसा प्रश्न था, जिस पर रियासतों के साथ विचार-विमर्श होना चाहिए।"

मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना पर रियासतों के शासकों की पहली प्रतिक्रिया प्रतिकूल न थी। नरेन्द्र मण्डल की स्थायी समिति ने अपने एक वक्तव्य (10 जून 1946) में योजना को "बातचीत के लिए उत्तम आधार" बताया। उसी समय संविधान सभा में रियासतों के प्रवेश के विषय में बात चीत करने के लिए उसने एक प्रतिनिधिक समिति बनायी। बाद में संविधान सभा ने भी नरेन्द्रमण्डल की वार्ता-समिति से बातचीत करने के लिए एक समिति नियुक्त की।

यह अच्छा ही हुआ। रियासतें संविधान सभा में प्रवेश के लिए बातचीत करने को राजी हो गयीं। बातचीत की प्रक्रिया कैसे चली और किस प्रकार पग-पग पर राजा लोग या तो अपना विचार बदलते रहे या एक ही विषय पर बार-बार विचार-विमर्श करने में व्यग्र रहे यह सब एक दूसरे अध्याय "स्वतन्त्रता की पूर्ववेला" का विषय है।

---

[1]24 मई 1946 को हुए कांग्रेस कार्य समिति के अधिवेशन का कार्यविवरण।

1946 की समाप्ति तक के इस विषय के वर्णन को हम यहां समाप्त करते हैं। परन्तु ऐसा करने से पहले हमको मन्त्रिमण्डल मिशन की योजना के सम्बन्ध में रियासती जनता की प्रतिक्रिया भी देखनी चाहिये। उसके मुख्य संगठन, अ० भा० रियासती प्रजा परिषद, ने योजना पर विचार करने के लिए अपनी प्रबन्ध समिति की एक आपात बैठक बुलायी। इस बैठक में विभिन्न रियासतों के 200 से भी अधिक प्रतिनिधि शामिल हुए, और इसकी अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की। बैठक में जो लम्बे-चौड़े वाद-विवाद हुए, वे आशावाद और निराशावाद की झूला में झूलते रहे। केवल नेहरू का भाषण ही ऐसा था, जिसने रियासती जनता के विचारों को सही ढंग से अभिव्यक्त किया और उसके आन्तरिक भावों को प्रतिबिम्बित किया। रियासती जनता इस व्यवस्था से नाराज थी कि संविधान सभा में रियासतों के प्रतिनिधि अधिकांशतः राजाओं के नामजद व्यक्ति होंगे; अतः नेहरू ने अपने भाषण में इस विषय का भी उल्लेख किया। उन्होंने अपनी अननुकरणीय दृढ़ता के साथ घोषणा की कि "रियासती जनता अपना प्रतिनिधित्व आप करने का दावा करती है और वह यह देखेगी कि उसकी बात सुनी जाती है। उसके सिवाय और कोई उसकी ओर से नहीं बोल सकता; उसके शासक तो निश्चय ही नहीं बोल सकते।"[1]

इसके बाद सब रियासतों में गतिविधियां तेज हो गयीं। प्रजामण्डलों और लोक परिषदों का जाल पहले ही कांग्रेस के साथ पूर्णतया एकाकार हो गया था। अतः शीर्षस्थ कांग्रेसी नेताओं से निर्देश प्राप्त कर रियासती जनता भारत के संविधान-निर्माण में भाग लेने के लिए अपने अधिकारों की प्राप्ति के वास्ते भावी संघर्ष हेतु, जो शायद उनके विचार से अन्तिम था, तैयारी करने लगी। दक्षिण में त्रावणकोर और मैसूर से उत्तर-पश्चिम में जोधपुर और बीकानेर तक राजनीतिक संगठन संविधान सभा के लिए अपने प्रतिनिधि निर्वाचित करने की अपनी मांग के समर्थन में जनमत जागृत करने में व्यस्त हो गये।

---

[1]ऊर्मिला फडनीस "टूवर्ड्स दी इन्टीग्रेशन आफ इंडियन स्टेट्स"—पृ० 159

आन्दोलन ज़ोरों पर

अब हम बिखरे सूत्रों को फिर इकट्ठा करेंगे और यह देखेंगे कि युद्ध से पहले और बाद के निर्णायक वर्षों में रियासती जनता का आन्दोलन किस प्रकार जोर पकड़ता गया।

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद का पंचम अधिवेशन, जो कराची में 1936 में हुआ, रियासती जनता के स्वतन्त्रता-संग्राम के इतिहास में अनेक प्रकार से सीमा-चिन्ह बन गया। उसकी अध्यक्षता डा० बी० पट्टाभि सीतारामय्य ने की, और इसमें जिन लोगों ने भाग लिया उनमें कांग्रेस अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू और भूतपूर्व कांग्रेस अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद भी थे। यद्यपि रियासतों के और ब्रिटिश भारत के स्वतन्त्रता आन्दोलन एक प्रकार से अन्तर्निगडित और परस्पर-सम्बद्ध थे, फिर भी ऊपरी तल पर, दोनों आन्दोलनों के सम्बन्ध में सदा कुछ ऐसी चीज शेष रह जाती थी, जिसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता पड़ती थी। गांधी जी के दो-टूक लेखों और स्पष्टीकरणों के बाद, डा० सीतारामय्य, जवाहरलाल नेहरू और राजेन्द्रप्रसाद ने कराची अधिवेशन में जो भाषण दिये, उनसे नागरिक स्वतन्त्रता और स्वशासन के लिए रियासती जनता द्वारा छेड़े गये संघर्ष के प्रति कांग्रेस के रुख का सबसे अच्छा संकेत मिला। आन्दोलन में डा० पट्टाभि की रुचि बहुत दिनों से थी, और अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के साथ उनका सम्बन्ध कालान्तर में परिषद के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

सम्मेलन का उद्घाटन जवाहरलाल नेहरू ने किया। अपने उद्घाटन भाषण में उन्होंने देसी रियासतों के प्रति कांग्रेस-नीति पर पर्याप्त प्रकाश डाला। उन्होंने कुछ गलतफहमियों को, जो रियासती जनता और कांग्रेस के बीच चली आ रही थीं, दूर करने की इच्छा प्रकट की। भारत की एकता और अखंडता पर बल देते हुए उन्होंने कहा कि कांग्रेस जिस भारतीय स्वतन्त्रता के लिए लड़ रही है, उसमें रियासती प्रजा की स्वतन्त्रता भी शामिल है, परन्तु, उन्होंने एक और वाक्य जोड़ कर यह स्पष्ट कर दिया कि ऐसा केवल भारत के स्वतन्त्र होने के बाद ही होगा। यदि कांग्रेस को स्वराज्य मिल जाता है, तो रियासती जनता को भी उसमें अनिवार्य रूप से हिस्सा मिलेगा। उन्होंने कहा कि एक बात साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि रियासतों में स्वतन्त्रता और उत्तरदायी शासन के लिए लड़ाई ब्रिटिश सरकार से लड़नी है, न कि राजाओं से। कांग्रेस ब्रिटिश सरकार के साथ संघर्षरत है। ज्योंही उसे सफलता

मिली और ब्रिटिश सत्ता धराशायी हुई, त्योंही राजा लोग रियासती जनता की मांग का प्रतिरोध करने में असमर्थ हो जायेंगे।

जवाहरलाल ने रियासती जनता को एक और सुझाव यह दिया कि कांग्रेस की तरह उसे भी लोगों से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए और जनता में जागृति पैदा करनी चाहिए; केवल ज्ञापन और आवेदनपत्र भेजने से काम न चलेगा। उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि भारत की राजनीतिक समस्या केवल संविधान सभा द्वारा ही सुलझायी जा सकती है। ऐसी सभा केवल तभी बन सकती है जब ब्रिटिश सरकार चली जाय या जाने वाली हो। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय कांग्रेस रियासती जनता के प्रतिनिधियों को संविधान सभा में शामिल करेगी।

1947 के बाद जो वास्तविक घटनायें घटीं, उनके प्रकाश में जब हम आज इन शब्दों को पढ़ते हैं तो यह मानना पड़ता है कि जवाहरलाल ने कराची में 1936 में जो कुछ कहा था उसमें भविष्यवाणी छिपी हुई थी।

राजेन्द्र प्रसाद ने भी अपने भाषण में जवाहरलाल के विचारों का आमतौर से समर्थन किया और रियासती जनता को उसके हित के साथ कांग्रेस की सहानुभूति का आश्वासन दिया। उन्होंने रियासती जनता को कांग्रेस के नेतृत्व में पूर्ण आस्था रखने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि अ० भा० रियासती प्रजा परिषद को कांग्रेस के कार्यक्रम का अनुसरण करते हुए रियासतों में रचनात्मक कार्य की व्यवस्था करनी चाहिए, जिससे उसे अपने आन्दोलन के लिए किसानों और सामान्य जनता का समर्थन प्राप्त हो सके।

डा० पट्टाभि सीतारामय्य ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि रियासती जनता द्वारा अपने आन्दोलन का श्रीगणेश करने के बाद तथा अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की स्थापना करने के बाद, जो एक दशक बीता है, उसमें परिषद चार नियमित अधिवेशन और एक विशेषाधिवेशन कर चुकी है, जो उसकी कर्त्तव्यनिष्ठा और उत्साह का पर्याप्त प्रमाण है। उन्होंने यह स्वीकार किया कि देसी रियासतों में स्वतन्त्रता आन्दोलन चलाना ब्रिटिश भारत की अपेक्षा अधिक कठिन और अधिक दुःसाध्य है।

शायद डा० सीतारामय्य के भाषण का सबसे महत्त्वपूर्ण अंश वह था, जिसमें उन्होंने रियासती जनता और कांग्रेस के सम्बन्ध के बारे में अपने विचार प्रकट किये उन्होंने जो विचार प्रकट किये, वे कुछ बातों में उन विचारों से सर्वथा प्रतिकूल थे, जो नेहरू और राजेन्द्र प्रसाद द्वारा उसी विषय पर प्रकट किये गये थे। उन्होंने कहा कि रियासती जनता को अपने भाग्य पर छोड़ कर कांग्रेस ने ठीक नहीं किया। उन्होंने

इस बात को स्वीकार किया कि रियासती समस्या के प्रति कांग्रेस का रुख वैसा नहीं रहा, जैसा होना चाहिए था, अतः उसमें तात्त्विक परिवर्तन की आवश्यकता है। उनके विचार से रियासती जनता द्वारा यह सीधासादा प्रश्न पूछना पूर्णतया न्यायसंगत था कि—"आप संघ के लिए काम कर रहे हैं, या आप केवल ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों के के लिए स्वराज्य के लिए काम कर रहे हैं ? यदि आप संघ के लिए काम कर रहे हैं, तो रियासती जनता तथा उनकी समस्याओं के प्रति उदासीनता अथवा कृपालुता का रुख न अपनाइये; और यदि आप केवल ब्रिटिश प्रान्तों के वास्ते स्वराज्य के लिए काम कर रहे हैं, तो ऐसा स्पष्ट कहिए—हम आपकी सफलता चाहेंगे तथा उससे प्रेरणा और शक्ति प्राप्त करने की आशा करेंगे। हम उसका स्वागत करेंगे, परन्तु वहीं और उसी समय आपका साथ छोड़ देंगे।"

जो प्रश्न उन्होंने स्वयं उठाया था, उसका उत्तर देते हुए डा० सीतारामय्य ने कहा कि यह बात मानी जा सकती है कि पहली बात ही सही है, अर्थात् कांग्रेस सारे ही देश को संघबद्ध करने के लिए लड़ रही है। उन्होंने कांग्रेस को सलाह दी कि वह बांये हाथ से देकर दांये हाथ से न छीने। खुले तौर पर यह घोषित करने के बाद कि वह समस्त देश का प्रतिनिधित्व करती है, कांग्रेस के लिए देसी रियासतों के स्वतन्त्रता-संग्राम में पूर्ण सहायता देने के अलावा और कोई विकल्प नहीं रह जाता। फिर भी, क्योंकि कांग्रेस और रियासती प्रजा परिषद के लक्ष्य एक ही हैं—अर्थात् अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना—रियासती प्रजा कांग्रेस द्वारा अपनाये गये तरीकों का अनुसरण करके राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन के भार से मुक्त होने की आशा कर सकती है।

नागरिक स्वतन्त्रता संघ

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के कराची अधिवेशन का एक दूसरा प्रमुख कार्य नागरिक स्वतन्त्रता संघ (सिविल लिबर्टीज यूनियन) की स्थापना था। तत्सम्बन्धी प्रस्ताव पर बोलते हुए, प्रस्तावक जयनारायण व्यास ने कहा—"जो लोग रियासतों में रहते हैं अथवा जो रियासती प्रजा से सम्बन्ध रखते हैं, केवल वे ही यह जानते हैं कि वहां लोगों पर क्या-क्या अत्याचार और अनाचार होते हैं तथा किस प्रकार उन्हें नागरिक अधिकारों से वंचित रखा जाता है। जिस प्रकार हम ब्रिटिश भारत में अपने विचार प्रकट करते हैं, उस प्रकार रियासतों में नहीं कर सकते। दमन और

अत्याचार की जो घटनायें वहां रोज होती हैं, उनका वर्णन परियों की कहानी जैसा अविश्वसनीय मालूम पड़ता है; परन्तु वे वास्तविक तथ्य हैं।"

व्यास ने आगे बोलते हुए यह भी बताया कि किस प्रकार अन्य राजनीतिक कार्यकर्ताओं के साथ उनका नाम जोधपुर रियासत के पुलिस रजिस्टर में "दस नम्बरी बदमाशों" में लिख लिया गया है। रियासत में सार्वजनिक सभाओं पर रोक लगी हुई है। जोधपुर तथा अन्य कई रियासतों में किसी सामयिक पत्रिका या किसी समाचार पत्र के प्रकाशन की तो बात ही क्या, उसका साइक्लोस्टाइल करना भी अपराध है। उन्होंने कहा कि जयपुर में कोई भी रियासत के अधिकारियों की अनुमति के बिना विद्यालय नहीं चला सकता और न बाहर के किसी अध्यापक को नियुक्त किया जा सकता है। उन्होंने बताया कि मैसूर, कश्मीर और हैदराबाद सरीखी बड़ी रियासतों तक में लोगों को गम्भीर कष्टों का सामना करना पड़ रहा है। न्याय-प्रशासन मनमाना और एकतरफा है। उन्होंने अपनी बात को समझाने के लिए नाभा रियासत में जवाहरलाल नेहरू, सन्तराम तथा कुछ अन्य व्यक्तियों की गिरफ़्तारी और उन पर मुकदमा चलाने के हास्यास्पद तरीके का उदाहरण दिया। उन्होंने कहा कि इस दृष्टि से देखने से रियासती जनता की सबसे पहली और तात्कालिक समस्या उसे नागरिक स्वतन्त्रता के अधिकार देना है। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने इसी प्रयोजन से "नागरिक स्वतन्त्रता संघ" नाम का एक पृथक् संगठन बनाने का निश्चय किया है। परिषद के पंचम अधिवेशन में जो अनेक प्रस्ताव स्वीकृत हुए, उन्हींमें से एक यह था।

भारत शासन अधिनियम 1935 पर जो प्रस्ताव पेश हुआ और स्वीकृत हुआ, उसमें उस प्रस्तावित संघीय ढांचे की निन्दा की गयी, जिसमें रियासती जनता को प्रतिनिधित्व से वंचित रखा गया था और जिसके निर्माण में किसी स्थल पर उसकी सलाह नहीं ली गयी थी। एक दूसरे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव में किसानों के उस बढ़ते हुए असन्तोष की समस्या का उल्लेख था, जिसकी परिणति कश्मीर, अलवर, सीकर (जयपुर) और लोहारू की दुःखान्त घटनाओं में हुई। सम्मेलन ने सुझाव दिया कि तेजी से बिगड़ती हुई स्थिति को सुधारने के लिए रियासती सरकारों द्वारा शीघ्र ही निम्नलिखित उपाय करने चाहिए :-

1. भू-राजस्व की दरों में एक-तिहाई कमी।
2. किसानों पर ब्रिटिश भारत के आयकर-क़ानून के आधार पर कर-निर्धारण के समान सिद्धान्त लागू करना।

3. ग्रामीण ऋण का भार, जो किसानों की कमर तोड़ रहा है, कम करना तथा निपटा देना।

4. भू-राजस्व एवं भू-स्वामित्व प्रणाली में संशोधन करने की दृष्टि से किसानों की हालत की तत्काल जांच, जिससे वे जीवन के आधुनिक स्तर पर पहुंच सकें।

सम्मेलन ने ब्रिटिश भारत के समस्त राजनीतिक संगठनों से जोरदार अपील की कि वे रियासतों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति को त्याग दें और रियासती जनता के विषम स्वातन्त्र्य-संघर्ष में अधिक से अधिक सक्रिय सहायता प्रदान करें। सम्मेलन ने इस बात पर ध्यान दिया कि लखनऊ कांग्रेस का देशी रियासतों सम्बन्धी प्रस्ताव रियासती जनता की मांग की पूर्ति की दिशा में कुछ आगे बढ़ा है, परन्तु उसके विचार से वह प्रस्ताव भी सर्वथा सन्तोषजनक या पर्याप्त न था। उसने कांग्रेस से प्रार्थना की कि वह भारत की मुक्ति की समस्या को व्यापक और विशाल दृष्टि से देखे, क्योंकि वह प्रान्तों और रियासतों दोनों को समान रूप से प्रभावित करती है।

सम्मेलन ने सिरोही में असह्य कुशासन के विरुद्ध भी विरोध प्रदर्शित करते हुए प्रस्ताव पास किये। वहां रियासती दरबार स्वयं व्यापार का एकाधिकार अपने हाथ में रखता था; ऐसे नियम बनाता था, जो जनता के हित के लिए घातक थे; बलात् धर्म-परिवर्तन की प्रथा को प्रोत्साहन देता था; रियासती सेवा में बाहरवालों को अनुचित अधिमान्यता देता था; स्वास्थ्य, शिक्षा, कृषि-सुधार आदि लोककल्याण की आवश्यकताओं की सर्वथा उपेक्षा करता था तथा अपनी दमन-नीति पर दृढ़ रहता था। सम्मेलन ने सीकर (जयपुर) के ठिकानेदार की उच्छृंखलता की भी निन्दा की। ठिकानेदार किसानों के वैध आन्दोलन को कुचलने की कोशिश कर रहा था। उसने लगान कम कराने के लिए चलाये गये किसानों के आन्दोलन को बलपूर्वक कुचलने की कोशिश की थी, जिसके फलस्वरूप कई व्यक्ति बंदूक की गोली के शिकार हो गये थे। सम्मेलन ने जयपुर सरकार की भी निन्दा की, क्योंकि उसने पीड़ित लोगों की शिकायतें दूर करने के बजाय उल्टे उनको पीड़ित करनेवाले सीकर के ठिकानेदार का समर्थन किया था।

लोहारू, मलेरकोटला, पटियाला, ध्रांगध्रा, बड़ौदा, धार, रतलाम और कपूरथला की सरकारों की भी उनकी दमनात्मक कृषि-नीति के लिए आलोचना की गयी। यह बताया गया कि किसानों को डबल अत्याचार और उत्पीडन इसलिए सहना पड़ता है कि रियासती सरकारें और सामन्ती जमींदार किसानों पर अत्याचार करने

में एक दूसरे से होड़ करते हैं। एक राजनीतिक कार्यकर्त्ता, सेवासिंह, को मरवा डालने के लिए पटियाला सरकार की निन्दा की गयी। सेवासिंह पटियाला जेल में पुलिस की ज्यादतियों के फलस्वरूप मर गया था।

इस सम्मेलन की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उसे परिषद तथा उसकी सहायक संस्थाओं के लिए एक वैज्ञानिक एवं नियमित संगठनात्मक ढांचा तैयार करने के प्रयत्नों में सफलता मिल गयी। उसने परिषद का संविधान पास किया और कार्य समिति को अधिकार दिया कि उसकी व्यवस्थाओं के अधीन जिस प्रबन्ध-यन्त्र की व्यवस्था की गयी है उसे वह यथासम्भव शीघ्र चालू करे।

कार्यसमिति को संविधान को क्रियान्वित करने तथा समस्त आपात समस्याओं को हल करने के लिए आवश्यक नियम बनाने का अधिकार दिया गया। अपने उद्देश्यों का प्रचार करने के लिए परिषद ने निम्नलिखित संगठन इकाइयां बनायीं :—

1. पंजाब की रियासतें, कश्मीर, खैरपुर और शिमला पहाड़ी की रियासतें ;
2. राजपूताना की रियासत;
3. मध्यभारत की रियासतें, रामपुर, बनारस और टेहरी-गढ़वाल;
4. गुजरात की रियासतें;
5. काठियावाड़ की रियासतें;
6. दक्षिणी मराठा रियासतें;
7. दक्षिण भारत की रियासतें;
8. हैदराबाद; और
9. उड़ीसा की रियासतें, मणिपुर और कूच विहार।

परिषद के इसी अधिवेशन में उसके संगठनात्मक ढांचे की स्पष्ट परिभाषा की गयी और उसे सुव्यवस्थित किया गया। कांग्रेस की पूर्ण और मुक्त सहायता प्राप्त करने के लिए जितना काम इस अधिवेशन में हुआ उतना उससे पहले या बाद के किसी अधिवेशन में नहीं हुआ। अधिवेशन में कांग्रेस-अध्यक्ष की उपस्थिति तथा डा० पट्टाभि सीतारामय्य जैसे अग्रगण्य कांग्रेसी नेता की अध्यक्षता में उसकी सम्पन्नता ने कांग्रेस के नेतृत्व को रियासती जनता के आन्दोलन के समीप लाने में बहुत योग दिया।

इस अधिवेशन की दूसरी बड़ी सफलता नागरिक स्वतन्त्रता संघ की स्थापना थी, जिसने लोगों का ध्यान रियासती जनता पर किये जाने वाले अत्याचारों तथा रियासतों में नागरिक स्वतन्त्रता एवं नागरिक अधिकारों के नितान्त अभाव की ओर आकर्षित किया।

नवसारी की सभा

निरन्तर बदलती हुई परिस्थितियों की जांच-पड़ताल के लिए तया कुछ ऐसी तात्कालिक समस्याओं पर विचार करने के लिए, जिनका सामना देसी रियासतों में राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को करना पड़ता था, अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के कार्यकर्त्ताओं ने फरवरी 1938 में नवसारी में एक सभा की। इन समस्याओं में सबसे प्रधान अखिल भारतीय संघ की योजना थी, जिसका धुंधला चित्र देश के राजनीतिक क्षितिज पर दिखायी पड़ रहा था। यद्यपि रियासती जनता ने इस प्रश्न पर कोई बात बिना कही नहीं छोड़ी थी, फिर भी परिस्थितियां इतनी अनिश्चित थीं कि वह यह अनुभव करती थी कि वह अपने विचारों को जल्दी-जल्दी दुहराये।

परन्तु इस सभा को बुलाने का तात्कालिक कारण यह था कि उन समस्याओं पर फिर से विचार किया जाय, जो कांग्रेस कार्यसमिति द्वारा अपनी कलकत्ता की बैठक में स्वीकृत प्रस्ताव के कारण उठ खड़ी हुई थीं। प्रस्ताव में रियासती जनता द्वारा रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिए तथा प्रशासन को अधिक उदार बनाने के लिए किये जाने वाले संघर्ष में उसके साथ पूर्ण सहानुभूति तो अवश्य प्रकट की गयी थी, पर साथ ही असंदिग्ध शब्दों में यह भी कहा गया था कि देसी रियासतों को अपने स्वकीय राजनीतिक संगठन बनाने चाहिए, जिन्हें कांग्रेस समितियां कहना आवश्यक नहीं है। रियासती जनता ने यह सोचा कि जब भारत का प्रमुख राजनीतिक संगठन होने के नाते कांग्रेस समस्त भारत की स्वतन्त्रता के लिए लड़ रही है, तो कांग्रेस कार्य-समिति द्वारा रियासतों में कांग्रेस-समितियां बनाने पर रोक लगाना अन्यायपूर्ण है। कार्य-समिति की इस धारणा ने कि रियासती जनता में सामूहिक कार्रवाई का अभाव है, केवल जले पर नमक छिड़कने का काम किया। रियासती जनता यह समझती थी कि रियासतों में भी वैसी ही राष्ट्रीय जागृति और राजनीतिक चेतना मौजूद है जैसी प्रान्तों में।

तथ्य यह है कि हरिपुरा वाला प्रस्ताव मैसूर रियासत की घटनाओं के कारण पास किया गया था। मैसूर रियासती कांग्रेस ने रियासत में महाराजा की संरक्षकता में उत्तरदायी शासन की प्राप्ति के लिए सत्याग्रह छेड़ दिया था। जन-आन्दोलन के समय रियासत के अधिकारियों ने कांग्रेस का झंडा, जिसे प्रदर्शनकारी ले जा रहे थे, छीन लिया। राष्ट्रध्वज (उस समय कांग्रेस के झंडे का यही नाम था) के अपमान से सारा देश क्षुब्ध हो गया। बावजूद इस बात के कि कांग्रेस उस समय कम से कम सात

प्रान्तों में सत्तारूढ़ थी, वह मैसूर के अपराधियों से जवाबतलब करने की दिशा में कुछ न कर सकी। वह इस बात के निश्चय के लिए भी कुछ न कर सकी कि दूसरी रियासतों में ऐसी घटनायें न होंगी। इस अप्रतीकार्य असमर्थता के कारण ही कांग्रेस को रियासतों में काम करनेवाली कांग्रेस समितियों की गतिविधियां रोकने का विचार करना पड़ा।

इस विषय पर बोलते हुए, कई रियासती कार्यकर्त्ता व्यक्त रूप से उत्तेजित हो गये। जिन्होंने कांग्रेस कार्य समिति के प्रस्ताव की आलोचना की और उसमें समुचित संशोधन की मांग की, उनमें ये लोग थे--इन्द्र विद्यावाचस्पति, दिल्ली; प्रेमनाथ बजाज, कश्मीर; परनलाल मुंशी, बड़ौदा; नारायण प्रसाद, उड़ीसा रियासत; राजगोपालाचार्य, मैसूर; अवधेश प्रसाद सिंह, रीवां; खानोलकर, सावन्तवाडी; पाण्डुरंग राव और इस्माइल हिरानी, हैदराबाद; हरिभाऊ मसूरकर, इन्दौर तथा कुछ अन्य। कार्रवाई में प्रमुख भाग बलवन्तराय मेहता, जयनारायण व्यास और चुदगर ने लिया।

जब विभिन्न वक्ता अपने विचार प्रकट कर चुके और रियासती जनता को उसका देय न देने के लिए कांग्रेस कार्य समिति को जी भर कर कोस चुके, तो सभाध्यक्ष के, जो डा० पट्टाभि सीतारामय्य के अलावा और कोई न था, सहानुभूतिपूर्ण एवं विवेकपूर्ण भाषण से भावनायें कुछ शान्त हुईं। प्रस्ताव उचित ढंग से संशोधित कर दिया गया, क्षोभपूर्ण शब्द निकाल दिये गये और मृदुभाषा का प्रयोग करके उसे ऐसा रूप दे दिया गया, जिससे रियासतों में कांग्रेस समितियां बनाने की अनुमति न देने पर रियासती जनता की केवल निराशा व्यक्त हो। प्रस्ताव में यह आशा की गयी कि कांग्रेस के अगले अधिवेशन में कांग्रेस समिति का आधिकारिक रुख बदल कर देशी रियासतों के अनुकूल हो जायगा।

नवसारी की सभा ने रियासती जनता के दृष्टिकोण को समझाने की दृष्टि से एक प्रस्ताव का मसविदा इस विचार से तैयार किया कि वह कांग्रेस से उसे स्वीकार करने की प्रार्थना करेगी। वह डा० पट्टाभि के हाथ की कारीगरी थी। प्रस्ताव का मसविदा इस प्रकार था:--

> "कांग्रेस रियासतों में भी वैसी ही राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता चाहती है, जैसी शेष भारत में, और रियासतों को भारत का अविभाज्य अंग समझती है, जो अलग नहीं किये जा सकते। पूर्ण स्वराज्य या पूर्ण स्वतन्त्रता, जो कि कांग्रेस का लक्ष्य है, सम्पूर्ण भारत के लिए है, जिसमें रियासतें भी शामिल

हैं; क्योंकि स्वतन्त्रता में भी भारत की अखण्डता और एकता उसी प्रकार बनी रहनी चाहिए, जिस प्रकार वह दासता में बनी रही है। केवल उसी प्रकार का संघ कांग्रेस को स्वीकार्य हो सकता है, जिसमें रियासतें स्वतन्त्र इकाई के रूप में भाग लें और उन्हें उतनी ही लोकतन्त्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त हो, जितनी शेष भारत को।"

यह मसविदा कांग्रेस द्वारा स्वीकार कर लिया गया और हरिपुरा अधिवेशन में अविकृत प्रस्ताव के रूप में पेश किया गया।[1]

सभा ने संघ के प्रश्न पर अपना सिद्धान्त-पक्ष दुहराया। उसने भारत शासन अधिनियम 1935 में प्रस्तावित संघ-योजना की निन्दा की और इस बात का दृढ़ निश्चय किया कि जब तक उसमें ऐसा संशोधन न होगा, जिससे रियासती जनता और कांग्रेस को सन्तोष हो सके, तबतक वह उसके विरुद्ध जी-जान से लड़ती रहेगी। सभा ने मत प्रकट किया कि रियासती जनता को संघ की ऐसी कोई योजना स्वीकार्य नहीं होगी, जो इन बातों पर आधारित न हो—(1) रियासतों में उत्तरदायी शासन, (2) संविधान सभा में निर्वाचित प्रतिनिधि भेजने की व्यवस्था और (3) रियासती जनता को नागरिकता के मौलिक अधिकार तथा उन अधिकारों की रक्षा के लिए संघीय न्यायालय के माध्यम से गारन्टी, जो संघीय संविधान में शामिल की जाय।

एक अन्य प्रस्ताव में, सभा ने दक्षिण भारत की उन रियासतों की अप्रत्यक्ष रूप से प्रशंसा की, जो प्रबुद्ध सरकारों की दृष्टि से तथा सुसंगठित लोकमत की दृष्टि से अच्छी स्थिति में थीं। सभा ने इन रियासतों के शासकों को राजनीतिक सुधारों के

---

[1]हरिपुरा अधिवेशन में सुभाष बोस के अध्यक्षीय भाषण से यह बात प्रकट होती है कि कांग्रेस-नेताओं का एक वर्ग रियासती जनता के संघर्ष में उससे कितनी सहानुभूति रखता था। उन परिस्थितियों पर प्रकाश डालने के बाद, जिनके कारण कांग्रेस को रियासतों में अपनी गतिविधियाँ रोकने के लिए बाध्य होना पड़ा, उन्होंने घोषणा की कि "कांग्रेस में मुझ जैसे अनेक व्यक्ति हैं, जो यह चाहते हैं कि कांग्रेस रियासती जनता के आन्दोलन में अधिक सक्रिय भाग ले। व्यक्तिगत रूप से मैं आशा करता हूं कि निकट भविष्य में ही कांग्रेस के लिए आगे कदम बढ़ाना और रियासतों में अपने साथी संघर्षकर्ताओं के लिए सहायता का हाथ बढ़ाना सम्भव हो सकेगा। हमें यह नहीं भूल जाना चाहिए कि उन्हें हमारी सहानुभूति और सहायता की आवश्यकता है।" "क्रासरोड्स—दी वर्ड्स आफ सुभाषचन्द्र बोस, 1938-40"—पृ० 6

मामलों में अग्रणी बनने के लिए प्रोत्साहित किया। उसने दक्षिण भारतीय रियासतों की जनता से भी अपील की कि वह अपनी-अपनी रियासत में उत्तरदायी शासन प्राप्त करने के लिए मिलकर काम करती रहे।

इस बात को ध्यान में रखते हुए कि रियासतों की स्थिति के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के विचार प्रकट किये जा रहे थे और उस स्थिति को सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार के सुझाव दिये जा रहे थे, सभा ने सुझाव दिया कि कांग्रेस एक आयोग नियुक्त करे, जो रियासती जनता की समस्याओं का हर दृष्टिकोण से अध्ययन करे तथा शीघ्रातिशीघ्र एक विस्तृत रिपोर्ट कांग्रेस के समक्ष प्रस्तुत करे।

भारत सरकार अजमेर-मेरवाड़ा प्रान्त के 100 से भी अधिक ग्रामों को, वहां की जनता की इच्छा के विरुद्ध, जोधपुर और उदयपुर रियासतों को हस्तान्तरित करना चाहती थी। इस प्रस्तावित हस्तान्तरण के विरुद्ध सभा ने प्रबल विरोध प्रकट किया।

एक अन्य प्रस्ताव द्वारा यह निश्चय किया गया कि अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की ओर से अंग्रेजी का एक साप्ताहिक समाचारपत्र निकाला जाय। अन्त में "दी स्टेट्स पीपुल" साप्ताहिक की स्थापना की गयी, जो समस्त रियासतों के संघर्ष का केन्द्रबिन्दु बन गया। यह भी निश्चय किया गया कि इसके बाद प्रजा परिषद की कार्रवाई, जहां तक सम्भव हो, हिन्दुस्तानी भाषा में चलायी जाय, जिससे लोग अधिकाधिक संख्या में उसमें भाग ले सकें और उसे समझ सकें।

रियासती जनता के आन्दोलन का इतिहास लिखने की दृष्टि से, नवसारी की सभा का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण पहलू, उसके अध्यक्ष डा० पट्टाभि सीतारामय्य का भाषण था। रियासती जनता की समस्याओं का आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए, उन्होंने अखिल-भारतीय संघ सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का स्पष्टीकरण किया, और रियासती जनता के हितों का ध्यान रखते हुए, उनके समुचित समाधान सुझाये। डा० सीतारामय्य ने भारत में तथा बाहर व्यक्त किये गये विभिन्न दृष्टिकोणों पर प्रकाश डाला। उन्होंने कहा कि लार्ड लोथियन ने संघ के प्रस्ताव को "योजना का सबसे अधिक कठिन भाग" बताया है, क्योंकि यह लोकतन्त्रीय ब्रिटिश भारत का सामन्ती रियासतों के साथ एक ही संघ में परिणय कराने का प्रयत्न करता है। लार्ड लोथियन के अनुसार, ब्रिटिश भारत तक में अभी आधारभूत नागरिक स्वतन्त्रता कानून के अनुसार मिलना बाकी है—बन्दी-प्रत्यक्षीकरण का अधिकार, भाषण की स्वतन्त्रता तथा राजनीतिक संस्था बनाने की स्वतन्त्रता जैसी नागरिक स्वतन्त्रतायें अभी वहां अंशतः ही हैं। लार्ड लोथियन इस बात को भी अनिवार्य समझते थे कि ज्यों-ज्यों राजनीतिक चेतना

बढ़ेगी, त्यों-त्यों भारतीय राजाओं को भी, यूरोपीय राजाओं की भांति, सांविधानिक (प्रतीक) शासक की स्थिति धारण करने के लिए अधिकाधिक वाध्य होना पड़ेगा। डा० पट्टाभि सीतारामय्य ने लार्ड लोथियन के भाषण से निम्नांकित उद्धरण प्रस्तुत किया :

"सर्वोच्चता का, निश्चय ही, यह अर्थ नहीं हो सकता कि ग्रेट ब्रिटेन का कर्त्तव्य उन्हीं अधिकारों से अपनी प्रजा को वंचित करने में शासक की सहायता करना है, जो संसद के प्रभुत्व से समस्त ब्रिटिश भारत में स्थापित हो चुके हैं। इसमें कितना समय लगेगा, यह भविष्यवाणी तो मैं नहीं कर सकता; परन्तु यह सोचने के कम से कम कुछ कारण अवश्य हैं कि और किसी विधि की अपेक्षा संघ की स्थापना से यह प्रक्रिया अधिक सरल और कम तीखी हो जायगी। अतः अधिनियम द्वारा 'ब्रिटिश भारत और रियासतों' के मध्य जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है, वह इतना दृढ़ नहीं है, जितना कि आमतौर से विश्वास किया जाता है। राजाओं के पास अपनी रियासतों में स्वायत्त शासन पर प्रभाव डालने वाले अंश को छोड़ कर संविधान के विकास को रोकने के लिए कोई प्रभावशाली निषेधाधिकार नहीं हैं। यही नहीं, जब रियासतों में उत्तरदायी संस्थाओं के लिए आन्दोलन सफलता को प्राप्त होगा, तब अखिल भारतीय संघ के विरोध में जो आपत्तियां खड़ी की जाती हैं, वे स्वयमेव दूर हो जायेंगी तथा अन्त में सबकी सम्मति से अधिनियम के अन्य विरोधाभास भी दूर किये जा सकेंगे।"

डा० पट्टाभि को इस विषय में सन्देह था कि राजा लोग ऐसे सदाशय व्यक्तियों की उन आशाओं को पूरा होने देंगे, जो उन्होंने रियासतों के क्रमिक लोकतन्त्रीकरण के सम्बन्ध में व्यक्त की थीं।

डा० पट्टाभि सीतारामय्य ने उस संघर्ष का भी उल्लेख किया, जो मैसूर रियासत में चल रहा था। चीतादुर्ग में आयोजित मैसूर रियासती कांग्रेस की सभा में असहयोग की योजना स्वीकार कर लिये जाने के बाद, राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं की गिरफ़्तारियां शुरू हो गयी थीं। एच० दासप्पा उन लोगों में थे, जो सबसे पहले गिरफ़्तार हुए। यद्यपि रियासती सरकार ने जनता के लिए उत्तरदायी शासन का लक्ष्य सिद्धान्ततः स्वीकार कर लिया था, परन्तु मैसूर रियासती कांग्रेस को तब तक सन्तोष न था, जब तक कि उत्तरदायी शासन तुरन्त स्वीकार न किया जाय। जैसा कि डा० पट्टाभि ने कहा, स्वशासन के सिद्धान्त की स्वीकृति से जनता को अधिक लाभ न था। मैसूर में नागरिक स्वतन्त्रता और उत्तरदायी शासन के लिए संघर्ष से गंभीर प्रश्न उठ खड़े

हुए। परन्तु, उन्होंने कहा कि कांग्रेस को चौकन्ना रहना चाहिए और परिस्थिति के हर पहलू पर पूरा विचार करने के बाद कोई कार्यविधि अपनानी चाहिए। डा० सीतारामय्य ने कांग्रेस की ढुलमुल नीति के प्रति रियासती जनता की सामान्य प्रतिक्रिया का समर्थन किया। वे कांग्रेस के उस प्रस्ताव से सहमत न थे, जिसमें यह निर्देश किया गया था कि देसी रियासतों में कांग्रेस समितियां स्थापित नहीं होनी चाहिए तथा रियासती जनता का आन्तरिक संघर्ष कांग्रेस के नाम से न चलाना चाहिए। उनके विचार से यह उन लोगों की कुसेवा थी, जो राष्ट्रीय संघर्ष में कांग्रेस से एकाकार हो गये थे तथा जो आन्तरिक सुधार के लिए कांग्रेस समितियों के नाम से संघर्ष चला रहे थे। रियासती जनता के नेताओं द्वारा रियासतों के प्रति कांग्रेस के रुख में परिवर्तन की आवश्यकता के बारे में प्रकट किये गये विचारों से वे लगभग पूर्णतया सहमत थे।

सभा में मैसूर की घटनाओं पर भी मुख्य रूप से विचार हुआ। नवसारी की सभा में भाग लेने वाले रियासत के प्रतिनिधियों ने कहा कि वहां के लोग मैसूर में अपने अधिकारों के लिए तथा उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए संघर्ष करने को कृतसंकल्प हैं। उन्होंने चीतादुर्ग में आयोजित मैसूर कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं की सभा में हुए विचारविमर्श का विवरण सुनाया। असहयोग का कार्यक्रम इसी सभा में स्वीकार किया गया था। इस सभा में यह भी निश्चय किया गया कि कोई भी राजनीतिक बन्दी अपने बचाव का प्रयत्न नहीं करेगा। इस सम्बन्ध में, मैसूर के एक प्रमुख वकील और राजनीतिज्ञ एच० दासप्पा की धारा 124–ए के अधीन गिरफ़्तारी का उल्लेख किया गया।

कुल मिला कर नवसारी की सभा राजनीतिक संगठन और लोकमत निर्माण के लिए एक अच्छा प्रयोग सिद्ध हुई। इसने रियासती जनता पर ही नहीं कांग्रेस पर भी गम्भीर प्रभाव डाला। अब कांग्रेस रियासती जनता के भावों और स्वभाव को अधिक अच्छी तरह से समझने लगी।

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद का लुधियाना अधिवेशन

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद का अगला अधिवेशन लुधियाना में 1939 में हुआ। सम्मेलन के समय, देश के राजनीतिक वातावरण तथा लुधियाना में किये गये निर्णयों को देखते हुए, यह अधिवेशन रियासती जनता के आन्दोलन के इतिहास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। देशी रियासतों में स्वातन्त्र्य-संघर्ष से

सम्बन्ध रखने वाली हर महत्त्वपूर्ण वस्तु में प्रत्यक्ष रूप से अच्छा परिवर्तन होना शुरू हो गया था, जिससे आन्दोलनकर्त्ताओं को बहुत लाभ हुआ। रियासती जनता और उसके नेताओं के अथक प्रयत्नों के फलस्वरूप रियासतों की प्रजा में जागृति पैदा हो गयी थी। सर्वत्र जागृति के चिन्ह दिखाई देने लगे। लोग अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हो गये तथा इससे भी अधिक, वे अपने ऊपर लदे हुए बोझ और असमर्थता के कारण अधीर हो गये।

लगभग सभी छोटी-बड़ी रियासतों में राजनीतिक संगठन उत्तरदायी शासन और नागरिक स्वतन्त्रता के पक्ष में अपनी आवाज उठाने लगे। हैदराबाद, कश्मीर, त्रावणकोर और मैसूर जैसी बड़ी रियासतों में आन्दोलन स्वतन्त्रता का सन्देश फैला चुके थे और एक प्रकार से दमन की निरर्थकता सिद्ध कर चुके थे। युद्धारम्भ से 6 मास पूर्व आयोजित अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के इस अधिवेशन का समुचित मूल्यांकन करने में भारत की राजनीतिक और सांविधानिक पृष्ठभूमि के ज्ञान से सहायता मिलेगी।

सर्वोच्च सत्ता के, विशेष रूप से वाइसराय लार्ड लिनलिथगो के, रुख से, चाहे वह कितना ही सावधानीपूर्ण और संयत रहा हो, परिवर्तन की मांग में, कम से कम अप्रत्यक्ष रूप से, सहायता अवश्य मिली। अच्छा नागरिक और न्यायिक प्रशासन प्रदान करने की दृष्टि से, वाइसराय छोटी रियासतों के परस्पर समामेलन के लिए सक्रिय रूप से प्रचार कर रहा था। छोटी रियासतों की जनता के कुछ अधिकारों पर उसके बल देने का प्रभाव बड़ी रियासतों की परिस्थितियों पर भी पड़ा।

1939-42 की अवधि में, काठियावाड़, गुजरात मध्यभारत और उड़ीसा की तथा पंजाब की पहाड़ी रियासतों में से अधिकांश छोटी रियासतों ने सहकारी समूहीकरण का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। वाइसराय द्वारा प्रायोजित इस योजना के अनुसार, कतिपय प्रशासनिक और न्यायिक मामलों के लिए छोटी रियासतों को मिला दिया गया था।

परन्तु सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन कांग्रेस के रुख और संघर्ष-नीति में हुआ। कांग्रेस ने रियासतों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति अपना रखी थी। बड़ी सावधानी से वह उस नीति से चिपकी रही, और इस बात पर जोर देती रही कि लोगों को संगठित करना तथा इस प्रकार ऐसी शक्ति प्राप्त करना जो राजाओं को उसकी बात सुनने के लिये तथा उसकी मांग स्वीकार करने के लिए बाध्य करे, रियासती जनता की जिम्मेदारी है। यह विचार गांधी जी का था, जिन्होंने हस्तक्षेप

न करने की नीति निर्धारित की थी। परन्तु रियासती जनता की दृढ़ता एवं डा० पट्टाभि सीतारामय्य की सहायता के कारण, हरिपुरा में कांग्रेस ने अपनी नीति में काफी परिवर्तन कर लिया; फिर भी रियासतों में कांग्रेस समितियां बनाने पर लगी हुई रोक को हटा कर रियासती जनता की मांग सर्वांशतः पूरी नहीं की।

निःसन्देह रियासती जनता की स्वशासन की मांग से कांग्रेस की सदा ही सहानुभूति रही; परन्तु अब वह सहानुभूति प्रशासनिक औचित्य में बदल गयी। अब वह देसी रियासतों के मामलों को नयी दिल्ली से सूत्र संचालन करनेवाले राजनीतिक विभाग का पृथक् सुरक्षित विषय बने रहना नहीं देख सकती थी। प्रान्तीय सरकारों ने ऐसे मामले में, जो देश की चौथाई जनसंख्या पर प्रभाव डालता था, केन्द्रीय नीति के निर्धारण में अपना अधिकार जताना आरम्भ कर दिया।

जैसी कि आशा की जाती थी, महात्मा गांधी सबसे पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने आनेवाले परिवर्तन का संकेत दिया तथा घटनाओं के दबाव को समझा। "हरिजन" में प्रकाशित एक अग्रलेख में, जिसका शीर्षक "स्टेट्स एंड दी पीपुल" (रियासतें और जनता) था, गांधी जी ने विस्तार से उन कारणों पर प्रकाश डाला, जिनसे कांग्रेस की रियासती मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। यद्यपि उन्होंने स्पष्ट नहीं कहा, फिर भी उनके शब्दों से किसी को इसमें सन्देह नहीं रहा कि अब कांग्रेस-नीति में परिवर्तन अवश्यम्भावी है। महात्मा गांधी ने कहा: "अब तक कांग्रेस ने जिस अहस्तक्षेप की नीति का अवलम्बन किया है, उसके लिए मैं उत्तरदायी हूं। परन्तु रियासतों में जो अन्याय हो रहा है, उसे देखते हुए इस नीति का समर्थन करना अब मेरे लिए असम्भव है।" महात्मा गांधी ने घोषणा की कि यद्यपि संविधान के अनुसार प्रान्तीय मन्त्रियों का रियासतों पर कोई अधिकार नहीं है, फिर भी उनकी सीमाओं के अन्दर रियासतों में जो कुछ होता है उसके प्रति उनका नैतिक उत्तरदायित्व है। अतः कांग्रेस सरकारें घोर कुशासन पर ध्यान देने तथा सर्वोच्च सत्ता को यह राय देने के लिए नैतिक दृष्टि से बाध्य हैं कि उनके विचार से उस कुशासन को रोकने के लिए क्या करना चाहिए। महात्मा जी ने कहा कि मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं, कि यदि सर्वोच्च सत्ता कांग्रेस सरकारों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना चाहती है तो उसे इस राय पर सहानुभूति से कान देना पड़ेगा।

अधिकांश रियासतों में आन्दोलनों तथा उन्हें कुचलने के लिए केन्द्रीय और रियासती सरकारों द्वारा उत्पीडनकारी बलप्रयोग से घटनाओं में और भी अधिक तेजी आयी। उदाहरणार्थ, उड़ीसा की रियासतों में, जन-आन्दोलन को कुचलने के लिए पाश-

विक बल का प्रयोग किया गया, जिसके फलस्वरूप अनेक मृत्युयें हुईं। जयपुर, नाभा, पटियाला, कपूरथला आदि में जन-आन्दोलन बल-प्रयोग द्वारा कुचल दिया गया और आन्दोलन के नेताओं के साथ जघन्य व्यवहार किया गया। बड़ी रियासतों में, विशेष रूप से हैदराबाद, कश्मीर और त्रावणकोर में, रियासती सरकारों ने राजनीतिक आन्दोलन को साम्प्रदायिक रंग दे डाला और इस प्रकार आन्दोलनकारियों के विरुद्ध अपने द्वारा किये गये शस्त्र प्रयोग का औचित्य सिद्ध किया। हैदराबाद में उसे मुसलिम शासक के विरुद्ध हिन्दू-आन्दोलन बताया गया; कश्मीर में हिन्दू शासक के विरुद्ध मुसलिम बहुमत का विद्रोह बताया गया; तथा त्रावणकोर में सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने हिन्दू रियासत को उखाड़ फेंकने के लिये उसे ईसाइयों की पैशाची चाल बताने का प्रयत्न किया। इन सबसे ऊपर वे विचार थे, जो अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के कार्यकर्त्ताओं ने नवसारी की सभा में व्यक्त किये। इन सबका कांग्रेस के नेतृत्व पर निर्णायक प्रभाव पड़ा।

रियासती जनता की बात का सहानुभूति के साथ न सुना जाना, आधे से अधिक भारत पर शासन करने वाले कांग्रेस दल द्वारा सहायता का आश्वासन, तथा आने वाले परिवर्तन के साथ अपना मेल बैठा सकने में राजवर्ग की नितान्त अयोग्यता एवं असमर्थता आदि ऐसे कारण थे, जिन्होंने रियासती जनता के स्वतन्त्रता आन्दोलन को एक नया महत्त्व और एक नयी शक्ति प्रदान की।

यह पृष्ठभूमि थी, जिसमें अ० भा० रियासती प्रजापरिषद का अधिवेशन लुधियाना में 1939 के आरम्भ में हुआ। इस अधिवेशन में उत्साह का जैसा दृश्य दिखायी दिया, वैसा पहले कभी नहीं देखा गया था। सम्भवतः परिषद के और किसी अधिवेशन में रियासतों का प्रतिनिधित्व करनेवाले इतने डेलीगेट शामिल नहीं हुए थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि कांग्रेस-अध्यक्ष जवाहरलाल नेहरू, जो कांग्रेस के सबसे अधिक सक्रिय नेता थे, इस अधिवेशन के अध्यक्ष चुने गये थे। परिणाम यह हुआ कि अधिवेशन में लोकोत्साह की वही उमड़ सर्वत्र दिखाई पड़ने लगी, जो सामान्यतया कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशनों के समय देखी जाती थी। तैयारियां भी लगभग वैसी ही की गयी थीं तथा उपस्थिति और समाचारपत्रों के लिए समाचार-संकलन की व्यवस्था भी वैसी ही थी।

अपने अध्यक्षीय भाषण में, जवाहरलाल ने अपनी विशिष्ट शैली में सम्पूर्ण स्थिति का सिंहावलोकन किया। देसी रियासतों की स्थिति का विश्लेषण करने के बाद तथा यह बताने के बाद कि ब्रिटिश भारत के लोग रियासतों के आन्दोलन के प्रति तटस्थ

क्यों नहीं रह सकते, जवाहरलाल ने संसार में सर्वत्र कलह, संघर्ष और अहिंसा के संकेतों का उल्लेख किया, जो अनिवार्य रूप से विप्लव की ओर ले जाने वाले थे। उन्होंने कहा: "हम में से कोई भारत में ऐसा विप्लव नहीं चाहता, क्योंकि वह स्वतन्त्रता की भूमिका नहीं है। हम यह समझते हैं कि हमारी शक्ति बढ़ रही है; पर साथ ही भेद और अलगाव की, साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता की, अनुत्तरदायित्व और संकीर्णता की शक्तियां भी बढ़ रही हैं। ··· फिर भी भारत में आशा की किरणें दिखाई देती हैं, यद्यपि काले बादल भी घिरे हुए हैं और सबसे चमकीली किरण नवजागृत रियासती जनता की ओर से आ रही है। हम यह मानते हैं कि हम उसके संघर्ष का भार अपने कन्धों पर ले रहे हैं। यह एक भारी जिम्मेदारी है और इसे निष्ठा के साथ पूरा करने में हमें अपनी सारी शक्ति और सारी बुद्धि लगाने की आवश्यकता होगी। सख्त भाषा का प्रयोग करने से कोई लाभ न होगा। यह अक्सर कमजोरी की निशानी है और काम न करने का बहाना है। आज तो हमें काम की आवश्यकता है—बुद्धि-मत्तापूर्ण और प्रभावी काम की। वही हमें शीघ्रता से अपने लक्ष्य तक ले जा सकता है, अलगाव की शक्तियों को नियन्त्रण में रख सकता है, तथा हमारे स्वप्न का संघबद्ध भारत बना सकता है।"

भारत के महान् राष्ट्रीय आन्दोलन के सन्दर्भ में रियासती जनता के संघर्ष का उल्लेख करते हुए, नेहरू ने कहा : "रियासती जनता की स्वतन्त्रता एक काफी बड़ी चीज है; फिर भी वह भारत की विशाल स्वतन्त्रता का एक अंशमात्र है; और जब तक हम उस विशाल स्वतन्त्रता को प्राप्त नहीं कर लेंगे, तब तक हमारा यह संघर्ष जारी रहेगा। यदि हम पर संघ लादा गया तो हम उससे लड़ेंगे और उसे उखाड़ कर फेंक देंगे। रियासतों में जहां कहीं भी ब्रिटिश सत्ता जनता के विरुद्ध हस्तक्षेप करेगी, वहीं हम उसका मुकाबिला करेंगे। वह समय निकट आ रहा है, जब अन्तिम हल सामने आयेगा—जब समस्त भारतीय जनता की संविधान सभा स्वतन्त्र और लोकतन्त्रीय भारत का संविधान तैयार करेगी।

"रियासती प्रजा परिषद ने अतीत में अच्छा काम किया है, परन्तु जितना वह कर सकती थी, उसका यह अंशमात्र ही है। अब उसे अपनी समस्त गतिविधियों के कुशल संगठन पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए, जिससे वह रियासतों से सम्बन्ध रखने वाली हर वस्तु का केन्द्रबिन्दु तथा हमारे समस्त संघर्षरत साथियों के लिये सहायता और प्रेरणा का स्रोत बन जाय। उसे रियासतों में प्रजामण्डलों या प्रजा-संगठनों के निर्माण में सहायता देनी चाहिए। उसे सब प्रकार की साम्प्रदायिकता

से दूर रह कर अपना काम करना चाहिए तथा इस बात को सदा याद रखना चाहिए और दूसरों को भी याद दिलाते रहना चाहिए कि इस संघर्ष का आधार अहिंसा है।

"हमारा यह बड़ा सौभाग्य है कि इस संघर्ष में कांग्रेस हमारी पीठ पर है, और उसके नेताओं का समर्थन हमें प्राप्त है। सबसे अधिक प्रसन्नता की बात यह है कि गांधी जी हमारा पथप्रदर्शन कर रहे हैं और हमें प्रेरणा दे रहे हैं।"

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के लुधियाना अधिवेशन में कई प्रस्ताव पास हुए। इनमें वह प्रस्ताव सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था, जिसमें देसी रियासतों के सम्बन्ध में 'जीवनक्षमता' की परिभाषा की गयी। इसमें बताया गया कि केवल वे ही रियासतें जीवित रहने योग्य प्रशासनिक इकाइयां मानी जा सकती हैं, जिनकी जनसंख्या कम से कम बीस लाख और राजस्व कम से कम 50 लाख रुपया हो। ऐसी रियासतों को छोड़ कर, शेष सब रियासतों को या तो आपस में मिल जाना चाहिए, या समीपवर्ती रियासतों अथवा प्रान्तों में मिल जाना चाहिए। रियासतों की समस्या की यह सही पकड़ थी और यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि इसके कारण राजनीतिक विभाग तथा वाइसराय तक ने परिषद पर गम्भीरता से ध्यान देना शुरू कर दिया। एक प्रकार से यह प्रस्ताव स्वयं वाइसराय के ही विचारों का सुधरा हुआ रूप था। अन्तर केवल इतना था कि परिषद ने रियासतों को दो श्रेणियों में बांट कर 'जीवन-क्षमता' की दो-टूक परिभाषा कर दी थी—पहली श्रेणी में वे रियासतें रखी गयी थीं, जिन्हें जीवित रहने का अधिकार था और दूसरी श्रेणी में वे रियासतें थीं, जिन्हें स्वतन्त्र प्रशासनिक इकाई के रूप में नहीं रहना चाहिए था।

लगभग सभी अन्य प्रस्तावों में विभिन्न रियासतों के जन-आन्दोलन का उल्लेख था।[1] इनमें रियासती जनता को धन्यवाद दिया गया था और उसके आन्दोलन के विरुद्ध बलप्रयोग की निन्दा की गयी थी। एक प्रस्ताव में एक शासक को, अपनी रियासत के वास्ते उत्तरदायी शासन के आधार पर नया संविधान बनाने के उसके साहसपूर्ण निर्णय के लिए धन्यवाद दिया गया था। यह पश्चिम भारत में औंध की छोटी सी रियासत थी। अपनी निर्भीकता एवं अभिप्रेरणा के लिए शासक निश्चय ही प्रशंसा का पात्र था। सम्मेलन इस तथ्य को सार्वजनिक रूप से स्वीकार करना चाहता था, जिससे दूसरे शासक भी इस अच्छे उदाहरण का अनुकरण कर सकें और अपनी प्रजा के साथ संघर्ष के कारणों को दूर कर सकें।

---

[1]अगला अध्याय देखिये।

युद्धारम्भ के पश्चात्

सितम्बर 1939 में भारत सरकार द्वारा की गयी युद्ध की घोषणा ने भारत में समस्त सांविधानिक एवं राष्ट्रनिर्माण सम्बन्धी गतिविधियों पर अपनी अनिवार्य काली छाया डाल दी। प्रान्तों में समस्त कांग्रेसी सरकारों ने, पदों पर बने रहने को वाइसराय द्वारा भारत की ओर से की गयी युद्ध-घोषणा के रूप और प्रकार से असंगत पाकर, विरोधस्वरूप त्यागपत्र दे दिया। प्रान्तीय स्वायत्त शासन के आरम्भ से ही रियासती जनता का आन्दोलन जोर पकड़ रहा था, और सबका ध्यान आकर्षित कर रहा था। परन्तु इन घटनाओं से उसकी तेजी पर भी प्रभाव पड़े बिना न रहा। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद सिद्धान्त और निदेशन की दृष्टि से कांग्रेस से बंधी हुई थी; अतः कांग्रेस मन्त्रियों के त्यागपत्र से प्रजामण्डल तथा परिषद के अन्य एकक स्वतः अस्त-व्यस्त हो गये।

परन्तु इस स्थिति में कोई नयी बात न थी; क्योंकि राज दरबारों और रियासती प्रजा परिषद में कभी मेल रहा ही नहीं। कांग्रेस के विपरीत, प्रजा परिषद सदा विरोध पक्ष में रही थी। अतः युद्ध-घोषणा के बाद के घटनाचक्र का प्रभाव रियासती जनता के आन्दोलन पर इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं पड़ा कि इससे उसके काम कुछ अस्त-व्यस्त हो गये। उसके ही नहीं, देश में सांविधानिक प्रगति के लिए आन्दोलन करने-वाले सभी राजनीतिक संगठनों के काम इसी प्रकार अस्त-व्यस्त हो गये। परन्तु निष्क्रियता की यह अवस्था केवल दो साल रही। पर्ल हार्बर पर जापान का आक्रमण होते ही तथा धुरी राष्ट्रों के साथ उसके मिलते ही, ब्रिटेन (यूनाइटिड किंगडम) को यह चिन्ता हुई कि यदि सम्भव हो सके तो युद्धप्रयत्नों में भारतीय जनता की सक्रिय सहायता प्राप्त की जाय। इसके फलस्वरूप राजनीतिक स्थिति में फिर गर्मी आ गयी। चिन्ता की परिणति सर स्टेफर्ड क्रिप्स की भारत-यात्रा में हुई। उसकी भारत-यात्रा का उद्देश्य सांविधानिक समस्या का कोई ऐसा हल निकालना था, जो अंग्रेजों तथा समस्त भारतवासियों को स्वीकार्य हो सके।

यह राजनीतिक गतिविधि प्रायः ब्रिटिश भारत में हो रही थी, क्योंकि ब्रिटिश सरकार के प्रतिनिधि अपने प्रस्ताव ब्रिटिश भारत के प्रमुख राजनीतिक संगठनों के सामने ही रखते थे। जब कांग्रेस रियासती समस्या का उल्लेख करती थी और रियासतों में सांविधानिक सरकार के लिए तर्क उपस्थित करती थी, तभी रियासती प्रजा परि-षद की बात होती थी; इसके अलावा उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध न था। फिर

भी परिषद उसी उत्साह से काम करती रही, जिससे पहले करती थी। यद्यपि अब युद्ध-प्रयत्न में सहायता का बहाना लेकर सब राजनीतिक आन्दोलनों को दबाना रियासती सरकारों के लिए अधिक आसान था, फिर भी जनता का आन्दोलन कभी नहीं दबाया जा सका। कुछ रियासतों में तो उसे सीमा से बाहर निकाल दिया गया, और कुछ में या तो छिपे-छिपे होने लगा या उसके नेताओं को सरकारी नीति का फल भोगना पड़ा।

जब वाइसराय ने घोषणा करके भारत को युद्ध में घसीट लिया तो, उसके बाद, अ० भा० रियासती प्रजा परिषद का सबसे पहला काम यह हुआ कि उसने अपनी स्थायी समिति की एक बैठक, अक्टूबर 1939 में, बम्बई में बुलायी। इस बैठक में रियासती आन्दोलन के नेताओं ने राजाओं के इस द्वैध आचरण की ओर संकेत किया कि यूरोप में लोकतन्त्रीय सिद्धान्त का तो वे समर्थन करते हैं परन्तु अपने राज्य-क्षेत्रों में विशुद्ध निरंकुश एवं एकतन्त्रीय शासन ही रहने देना चाहते हैं। स्थायी समिति ने युद्ध के लिए राजाओं के सहायता-वचनों एवं रियासतों के साधनों के दानों को मानने से इन्कार कर दिया तथा युद्ध-प्रयत्न में सहायता देने के बहाने बनाये गये नये दमनकारी कानूनों को लागू करने की निन्दा की। समिति ने राजाओं से अनुरोध किया कि वे अपनी रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन का लक्ष्य स्वीकार करने की घोषणा करें और उसे निकट भविष्य में पूरा करने का प्रयत्न करें। स्थायी समिति ने अपना पूर्व सिद्धान्त-पक्ष फिर दुहराया कि ब्रिटिश सरकार तथा भारतीय राजाओं को, रियासती जनता को सदा के लिए स्वतन्त्रता से वंचित रखने के लिए, तथाकथित सन्धि-व्यवस्थाओं का आश्रय नहीं लेने दिया जायगा। समिति ने बताया कि देसी रियासतों में ब्रिटिश सरकार का आचरण मित्रराष्ट्रों के युद्ध-उद्देश्यों के सर्वथा विपरीत है।

स्थायी समिति ने भारत की राजनीतिक स्थिति के विषय में, विशेष रूप से रियासती जनता की मांगों और यूरोप में युद्ध के प्रति उसके रुख के विषय में, कई प्रस्ताव पास किये। सामान्यतया वह कांग्रेस के ही मार्ग पर चली, और उसी आधार पर उसने युद्ध-प्रयत्न का विरोध किया, जिस आधार पर कांग्रेस ने भारत की ओर से की गयी वाइसराय की युद्ध-घोषणा का समर्थन करने से इन्कार कर दिया था और अन्त में प्रान्तों में लोकप्रिय सरकारों को त्यागपत्र देना पड़ा था।

रियासती प्रजा परिषद की स्थायी समिति की अगली बैठक जुलाई 1940 में, पूना में, जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में हुई। इसमें डा० पट्टाभि सीतारामय्य, जमनालाल बजाज, बलवन्तराय मेहता, काशीनाथ राव वैद्य, मियां इफ्तिखारुद्दीन, सारंगधर दास, जी० रामचन्द्रन्, शमशेर सिंह गिल, एस० वी० शिखरे, गोपीकृष्ण

विजयवर्गीय, जयनारायण व्यास, कन्हैयालाल वैद्य, तालिब हुसैन आदि अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने भाग लिया। बैठक में पहले दिन परिषद के संगठन के सम्बन्ध में महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों पर विचार हुआ। इसमें औंध के प्रधान मन्त्री राजकुमार अप्पासाहब ने भी भाग लिया। उन्होंने रियासत में हाल ही में लागू की गयी सांविधानिक सुधार योजना के फलितार्थ बताये।

दूसरे दिन अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की सभा हुई। अपने अध्यक्षीय भाषण में जवाहरलाल ने, अक्टूबर 1939 में बम्बई में हुई पिछली बैठक से बाद की रियासतों की स्थिति का सिंहावलोकन किया। परिषद के बढ़ते हुए क्रियाकलाप को और रियासती समस्या में देश की बढ़ती हुई रुचि को देखते हुए उन्होंने परिषद के कार्य के पुनर्गठन पर बल दिया।

इस बैठक में ब्रजलाल वियाणी, देवसुमन (टेहरी गढ़वाल) और मृदुला साराभाई विशेष निमन्त्रण पर उपस्थित थे।

सभा ने कई प्रस्ताव स्वीकार किये। एक प्रस्ताव द्वारा परिषद की ओर से एक साप्ताहिक समाचारपत्र[1] निकालने के लिए आवश्यक व्यवस्था करने के वास्ते डा० पट्टाभि सीतारामय्य, बलवन्तराय मेहता और ब्रजलाल वियाणी की एक समिति बनाई गयी।

हैदराबाद के काशीनाथ राव वैद्य ने एक सुन्दर भाषण देने के बाद निम्नांकित प्रस्ताव पेश किया :

> "संसार तथा भारत की स्थिति में द्रुतगति से होने वाले बदलाव को, तथा भारत में निकट भविष्य में होने वाले दूरगामी राजनीतिक परिवर्तनों की, जो देश की पूर्ण स्वतन्त्रता में परिणित हो सकते हैं, संभावना को ध्यान में रखते हुए, सभा यह मत प्रकट करती है कि रियासतों की स्थिति को भी इस बदलती हुई व्यवस्था के अनुरूप बनाया जाय, जिससे कि रियासतें भारतीय स्वतन्त्रता के ढांचे में अपने को ठीक से बैठा सकें। हाल का घटनाचक्र भी यह बताता है कि छोटी स्वतन्त्र रियासतें संसार में कहीं भी बहुत दिनों तक अस्तित्व में नहीं रह सकतीं। उन्हें अनिवार्य रूप से बड़े और ठोस संघ में या साम्राज्य के राज्यों में अन्तर्भुक्त होना पड़ेगा। सभा का यह मत है कि संसार में शान्ति

---

[1] इस आशय का एक प्रस्ताव प्रजा परिषद के एक अधिवेशन में पास हो चुका था, परन्तु अभी क्रियान्वित नहीं हुआ था।

और स्थिरता अन्तिम रूप से केवल तभी स्थापित हो सकती है, जब सब राष्ट्र स्वतन्त्र हों और विश्व-व्यवस्था में परस्पर सहयोग करें। परन्तु यह स्पष्ट है कि निकट भविष्य में भी भारतीय स्वतन्त्रता केवल भारतीय एकता और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता में स्वतन्त्र लोकतन्त्रीय एककों के घनिष्ठ सहयोग के आधार पर ही सुरक्षित रह सकती है। लोकतन्त्रीय और सामन्ती एककों में ऐसा सहयोग नहीं हो सकता, क्योंकि वे अनिवार्य रूप से एक दूसरे से टकराते रहेंगे। अतः भारत के सभी भागों में, चाहे वे प्रान्त हों या रियासतें, एक समान लोकतन्त्रीय स्वतन्त्रता होनी चाहिए, और प्रत्येक एकक को समान शर्तों पर स्वतन्त्र भारतीय संघ में शामिल होना चाहिए।

"अतः सभा का यह मत है कि इस अवस्था में रियासतों के लोकतन्त्रीकरण में तनिक भी विलम्ब केवल रियासती जनता के लिए ही नहीं, समस्त भारत की स्वतन्त्रता के लिए भी घातक है।

"अतः सभा यह विश्वास करती है कि राजा लोग इन बदलती हुई परिस्थितियों के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करेंगे तथा अपनी प्रजा के साथ मिल कर एक ऐसी स्वतन्त्र लोकतन्त्रीय रियासत के सामान्य भाग्य की ओर साथ-साथ कदम बढ़ायेंगे, जो स्वतन्त्र भारत का अविभाज्य अंग होगी। सभा आशा करती है कि राजा लोग भारत की एकता और स्वतन्त्रता में अपनी आस्था की घोषणा करेंगे और अपनी रियासतों में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए कदम उठायेंगे, तथा इस प्रकार संविधान सभा में, जो भारत का संविधान तैयार करेगी, भाग लेने के लिए अपने आप को तैयार करेंगे और योग्य बनायेंगे।

"साथ ही, रियासती जनता को भी सभा यह बताना चाहेगी कि वास्तविक प्रगति अन्ततः अपनी ही संगठित शक्ति पर निर्भर है। जांच और परीक्षा के इन दिनों में, जो भारत के सामने आ रहे हैं, रियासती जनता को संघर्ष में भाग लेना पड़ेगा और उसका भार उठाना पड़ेगा। इसके लिए उसे तैयार हो जाना चाहिए और संगठित हो जाना चाहिए।"

मैसूर से समर्थन

मैसूर के के० टी० भाष्यम् ने प्रस्ताव का समर्थन किया। उन्होंने कहा कि रियासतों के शासकों को समय के संकेतों को समझना चाहिए और यह याद रखना चाहिए कि

केवल उत्तरदायी शासन प्रदान करके ही रियासतें स्वतन्त्र भारत के भावी संविधान में अपना स्थान पा सकती हैं।

प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हुआ।

तत्पश्चात् जमनालाल बजाज ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया :—

> "यह समझते हुए कि विभिन्न रियासतों के लिए, जो सामाजिक, शैक्षिक और राजनीतिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं में हैं, कार्य और आन्दोलन का एक सामान्य विस्तृत कार्यक्रम निर्धारित करना कठिन ही नहीं दुष्कर भी है, सभा अपना यह स्पष्ट मत व्यक्त करती है कि विभिन्न रियासतों में संघर्ष ने यह बता दिया है कि तात्कालिक आवश्यकता जनता के संगठनों को दृढ़ बनाने की तथा सावधानीपूर्वक तैयार किये गये एक ऐसे रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा अपनी-अपनी रियासतों की जनता के साथ निकट सम्पर्क स्थापित करने की है, जो सम्बन्धित विषयों के शान्तिपूर्ण प्रचार द्वारा जनसाधारण की साक्षरता एवं राजनीतिक शिक्षा पर बल दे। यह सभा किसी भी रियासत की जनता को, जिसे यह विश्वास है कि वह और भी अधिक लम्बे कदम उठाने की क्षमता रखती है, रोकना नहीं चाहती, परन्तु रियासती जनता को यह अवश्य बता देना चाहती है कि उसकी स्वतन्त्रता के लिए दृढ़ संघर्ष के वास्ते उससे भी अधिक और पूरी तैयारी की अनिवार्य आवश्यकता है, जो अब तक आमतौर से देखने में आई है।"

इस प्रस्ताव का समर्थन त्रावणकोर के जी० रामचन्द्रन् ने किया। उन्होंने श्रोताओं को बताया कि जब त्रावणकोर में पहला आन्दोलन शुरू हुआ तो उन्हें क्या-क्या अनुभव हुए तथा लोगों को उसके कारण कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

यह प्रस्ताव भी सर्वसम्मति से पास हुआ।

हैदराबाद, त्रावणकोर, मैसूर और राजपूताना तथा मध्यभारत की रियासतों और पंजाब, उड़ीसा एवं दक्षिण की रियासतों के अनेक कार्यकर्ताओं ने अपनी-अपनी रियासतों की वर्तमान परिस्थितियों का वर्णन किया। भारत के समस्त भागों के 200 से भी अधिक प्रतिनिधि उपस्थित थे।

डा० पट्टाभि सीतारामय्य तथा आचार्य नरेन्द्र देव ने भी सभा में भाषण दिये। चार घंटे तक विचार-विनिमय के बाद सभा समाप्त हुई।

1942 में सर स्टेफर्ड क्रिप्स के अपने नये प्रस्तावों के साथ भारत आने से सांविधानिक मोर्चे पर एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। अब तक रियासतें केन्द्र में उत्तर-

दायित्व के सम्बन्ध में विशेषाधिकार के प्रयोग के अधिकार का वस्तुतः उपभोग करती आ रही थीं। राजा लोग सदा इसका दावा करते थे और अंग्रेजों ने इसे तत्काल स्वीकार कर लिया था। परन्तु क्रिप्स योजना में रियासतों को जो स्थान दिया गया, उससे पहली बार स्थिति में परिवर्तन हुआ। योजना के मसविदे में मुख्य रूप से ब्रिटिश भारत पर विचार किया गया और रियासतों को वस्तुतः "अपनी सन्धि-व्यवस्थाओं के संशोधन" के द्वारा नयी स्थिति से अपना मेल बैठाने के लिए छोड़ दिया गया। यद्यपि क्रिप्स योजना भारत के राजनीतिक दलों द्वारा ठुकरा दी गयी और ब्रिटिश सरकार द्वारा वापस ले ली गयी, परन्तु उसने एक बहुत उपयोगी काम किया। उसने केन्द्र में उत्तरदायी लोकप्रिय शासन की स्थापना के मार्ग में अपरिहार्य बाधा के रूप में विद्यमान रियासतों की स्थिति को निर्बल बना दिया।

अगस्त, 1942 के देशव्यापी उपद्रवों में रियासती जनता ने संगठित होकर भाग नहीं लिया था, जैसा कि अनेक प्रान्तों में उसके साथी देशभक्तों ने किया था। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद प्रत्यक्ष रूप से संघर्ष में शामिल नहीं हुई। परन्तु दुर्भाग्य से वह रियासती सरकारों को सब प्रकार के जन-आन्दोलनों के विरुद्ध अपने दमनकारी कानूनों के प्रयोग से कभी न रोक सकी। अंग्रेजों के प्रति अपनी भक्ति प्रदर्शित करने के प्रयत्न में कुछ रियासतों ने इतनी अधिक दृढ़ता से उत्पीड़नकारी कानूनों का आश्रय लिया, जितनी दृढ़ता से ब्रिटिश भारत में भी नहीं लिया गया था। पटियाला, झाबुआ और काठियावाड़ एवं राजस्थान की कुछ रियासतों में कृषि-सुधारों के लिए किया जाने वाला किसानों का आन्दोलन इस ढंग से कुचला गया मानो वह शासक के विरुद्ध घृणा फैलाने के लिए कोई राजनीतिक षड्यन्त्र हो।

जब 1945 में युद्ध समाप्त हुआ, तो रियासती जनता उतनी ही बेचैन और उतनी ही निराश थी, जितनी पहले। परन्तु युद्ध ने कुछ ऐसी नयी शक्तियां पैदा कर दी थीं, जो महाद्वीपों का स्वरूप बदलने वाली थीं। संयुक्त राज्य (ब्रिटेन) में मजदूर दल के चुनाव में विजयी होते ही भारत में नयी आशाओं का संचार होने लगा। मि० एटली की बाद की गतिविधियों ने इस धारणा की पुष्टि कर दी कि इस बार ब्रिटिश सरकार कुछ करके रहेगी। नयी स्थिति अपने साथ नयी चुनौतियां भी लायी, जिनका सामना सभी भारतीय नेताओं को मिल कर करना था। रियासती जनता और उसकी अखिल भारतीय परिषद दृढ़ता के साथ कांग्रेस से मिल गयी। बाद के दो कठिन वर्षों में कांग्रेस ने रियासतों के सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्य की भूमिका किस प्रकार निभायी और रियासती जनता ने भारत के एकीकरण के राष्ट्रीय प्रयत्न

में कितना सहयोग दिया—इसका सविस्तार वर्णन बाद के एक अध्याय में दिया गया है।

अन्तिम दो अधिवेशन

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के अन्तिम दो अधिवेशन कुछ बातों में उन परिवर्तनों के प्रतीक थे, जो युद्ध की समाप्ति के साथ तथा ब्रिटेन में मजदूर दल के सत्तारूढ़ होने के बाद, होने आरम्भ हो गये थे। इनमें से पहला अधिवेशन दिसम्बर 1945 में उदयपुर में हुआ और दूसरा 1947 में ग्वालियर में। केवल ये ही दो अधिवेशन ऐसे थे, जो रियासतों के अन्दर हुए।

उदयपुर अधिवेशन की अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की। वे पहले ही, केन्द्र में वाइसराय की प्रबन्ध-परिषद के उपाध्यक्ष के रूप में अन्तरिम सरकार में शामिल हो गये थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि रियासत की सरकार ने सम्मेलन में भाग लिया, परन्तु उसने उसकी कार्रवाई में बाधा जरूर नहीं डाली; तथा महाराजा उदयपुर ने सम्मेलन के अध्यक्ष से मिलने की इच्छा प्रकट की, और कुछ दिनों बाद उनसे बातचीत भी की।

सम्मेलन में जो भाषण हुए और प्रस्ताव पास किये गये उनसे इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता था कि राजनीतिक वातावरण का परिवर्तन, जो सारे देश में परिलक्षित हो रहा था, देसी रियासतों की सीमाओं में भी प्रविष्ट हो गया था। यद्यपि रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिए लड़ाई अभी चल ही रही थी, फिर भी बहुत सी पुरानी कल्पनायें साकार हो चुकी थीं। उदाहरणार्थ, नागरिक अधिकारों तथा प्रशासन में जनता के प्रतिनिधित्व के बारे में, कम से कम सिद्धान्त रूप में, अब कोई विवाद न था। कुछ नगण्य शासकों को छोड़कर, जो या तो राजनीतिक घटनाओं को समझने में असमर्थ थे या आने वाले ज्वार को देख नहीं पा रहे थे, राजाओं ने अपनी प्रजा की कुछ बड़ी मांगें मानने की आवश्यकता को समझना शुरू कर दिया था।

उदयपुर सम्मेलन ने इन प्रवृत्तियों पर ध्यान दिया। उसने औंध, कोचीन, ग्वालियर और भावनगर आदि के शासकों की उस साहसिक कदम के लिए प्रशंसा की, जो उन्होंने स्वेच्छा से सुधार स्वीकार करने के लिए उठाया था और अन्य शासकों द्वारा स्वायत्त शासन की स्वीकृति के लिए अपनी मांग दुहराई। परन्तु दुःख है कि अधिकांश रियासतों में जो कुछ हो रहा था, उसकी रोशनी में ये छुट-पुट मामले फीके पड़ गये और महत्त्वहीन हो गये। बहुत सी रियासतों में दमन अब भी जारी था।

कहीं-कहीं चतुर राजाओं ने प्रजामण्डलों और रियासती प्रजा परिषद का मुकाबिला करने के लिए प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक संगठन खड़े कर लिये थे। अधिकांश रियासतों में किसान-संकट अब भी मौजूद था। कुछ रियासतों में, प्रजामण्डलों के कार्यकर्ताओं के साथ जेलों में कठोर व्यवहार किया जा रहा था। रियासती प्रजा परिषद ने इन सब मामलों पर ध्यान दिया और असंदिग्ध शब्दों में शासकों की निन्दा की। उसने अधिकांश रियासतों की भयावह परिस्थिति तथा सामाजिक एवं आर्थिक पिछड़ेपन पर भी चिन्ता व्यक्त की। जागीरदारी प्रथा, जो अनेक बातों में रियासती प्रशासनों से भी अधिक उत्पीडनकारी थी, विशेष रूप से आलोचना का विषय बनी।

राजनीतिक मंच पर घटनाओं का चक्र चलने लगा, इसका एक और उदाहरण सम्मेलन द्वारा स्वीकृत एक अन्य प्रस्ताव से मिला। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के लुधियाना अधिवेशन ने रियासतों और प्रशासनिक एककों की जीवन-क्षमता की परिभाषा जनसंख्या और राजस्व के आधार पर की थी। उसने यह निश्चय किया था कि केवल वे ही रियासतें पृथक् प्रशासनिक एककों के रूप में रह सकती हैं, जिनकी जनसंख्या कम से कम 20 लाख और राजस्व कम से कम 50 लाख रुपया हो। उसने यह सुझाव दिया था कि शेष रियासतों को या तो समूहबद्ध हो जाना चाहिये या समीपवर्ती प्रान्तों में मिल जाना चाहिए। उदयपुर सम्मेलन ने यह सब बदल दिया। उसने रियासती समस्या के गणित पक्ष पर अधिक प्रकाश डाला। उसने जनसंख्या और राजस्व के पुराने सिद्धान्त तो स्वीकार कर लिए, पर साथ ही यह स्पष्ट कर दिया कि जो रियासतें इन मानकों की न हों, उन्हें प्रशासनिक एककों के रूप में समाप्त कर देना चाहिए। इस बार सम्मेलन के प्रस्ताव में दृढ़ता थी, और यह समझा जाने लगा कि छोटी रियासतों का अन्त आ गया है। परन्तु राजाओं द्वारा प्रजा के साथ किये जाने-वाले दुर्व्यवहार के बावजूद, सम्मेलन ने यह तर्क दिया कि उनकी रियासतों के विलय की अवस्था में "वर्तमान शासकों के लिए समुचित व्यवस्था होनी चाहिए और उनके व्यक्तिगत गौरव एवं प्रतिष्ठा की रक्षा होनी चाहिए।" अपने राजाओं के प्रति प्रजा की ऐसी परम्परागत राजभक्ति और ऐसी उदार भावनायें थीं।

सम्मेलन ने अपनी यह मांग दुहरायी कि भारत की संविधान सभा में रियासतों का प्रतिनिधित्व उनके निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा होना चाहिए, राजाओं के मनोनीत व्यक्तियों द्वारा नहीं। उसने इस विषय में विचार नहीं किया कि भारत के संघ का स्वरूप कैसा होना चाहिए, क्योंकि घटनाचक्र पहले ही ठीक दिशा में चलने लगा था। प्रजा परिषद का रुख अब अधिक निश्चयात्मक और अधिक आशाप्रद था।

ग्वालियर अधिवेशन

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद का अन्तिम अधिवेशन ग्वालियर में अप्रेल 1947 में हुआ। उदयपुर अधिवेशन से बाद के 18 महीनों में इतने अधिक दूरगामी महत्त्व के परिवर्तन हुए कि पहले उदयपुर में जो विचार प्रकट किये गये और जो निर्णय किये गये, वे अब पुराने मालूम पड़ते थे। उदाहरणार्थ, ग्वालियर अधिवेशन ने "जीवन-क्षमता" की कसौटी और बढ़ा दी। उसने कहा कि केवल वे ही रियासतें पृथक् प्रशासनिक एकक के रूप में रह सकती हैं जिनकी जनसंख्या 50 लाख या इससे अधिक हो और वार्षिक राजस्व कम से कम 3 करोड़ रूपया हो। यह जनता की उदीयमान आशाओं का प्रतीक और नयी व्यवस्था का लाक्षणिक स्वरूप था। भारत स्वतन्त्रता के द्वार पर खड़ा था और सर्वोच्च सत्ता विदा हो रही थी। अतः स्वयं ब्रिटिश सरकार ने भी रियासतों के भविष्य को खटाई में डाल दिया था। अब मुख्य प्रश्न यह था कि वह रियासतों के भावी रूप के निर्धारण के लिए किस प्रकार का सांचा काम में लाये।

एक ओर तो आशावाद और सर्वतोव्यापी प्रगति का वातावरण था तथा इस बात के स्पष्ट संकेत थे कि अन्त में रियासती समस्या की गुत्थी सुलझ कर रहेगी; और दूसरी ओर, इसके विपरीत, अनेक रियासतों से दमन की रोमांचकारी घटनाओं की रिपोर्टें आ रही थीं। कुछ राजा लोग दिखाने भर को शान्त और लोगों की मांगों पर सहानुभूति से विचार करने में 'असमर्थ' थे, तो कुछ निराशा और असहायता के कारण उन मांगों के खुले तौर पर विरोधी थे। कुछ शासक—जैसे कि त्रावणकोर, हैदराबाद, कश्मीर और भोपाल के शासक—ब्रिटिश सरकार द्वारा उच्च सत्ता की समाप्ति की घोषणा का अर्थ राजाओं की स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की स्वतन्त्रता समझ रहे थे। त्रावणकोर के शासक ने तो प्रकट रूप से ऐसा करना भी शुरू कर दिया था। हैदराबाद के शासक तथा कुछ अन्य शासकों ने भी ऐसा ही किया। वे अपने-अपने राज्य-क्षेत्रों को सुदृढ़ करने की बात सोचने लगे, मानो भारत का बाल्कनीकरण हो रहा हो।

ये प्रवृत्तियां क्षुब्ध करनेवाली थीं। परन्तु सौभाग्य से इस चुनौती का सामना करने का उत्तरदायित्व अब परिषद पर न रहा। यह भावी भारत सरकार पर चला गया। परन्तु परिषद ने अब कुछ रियासतों के दमनकारी कानूनों तथा उनके द्वारा अपने कार्यकर्त्ताओं के साथ किये जाने वाले नृशंस व्यवहार का विरोध करना तथा निन्दा करना अपना कर्त्तव्य समझ लिया।

ग्वालियर अधिवेशन में परिषद ने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण निर्णय कर के, नवानगर के जाम साहब और दक्षिण की रियासतों के कुछ शासकों द्वारा समर्थित रियासतों के प्रस्तावित समूहीकरण को एक स्वर से ठुकरा दिया। गांधी जी, सरदार पटेल और जवाहरलाल की सलाह पर परिषद के नेताओं ने इस चाल को भांप लिया था। महात्मा गांधी ने राजाओं को स्पष्ट बता दिया कि जो काम वे करना चाहते हैं, वह उनके अधिकार क्षेत्र से बाहर है। इसका अर्थ यह था कि, केवल जनता ही अपने भाग्य का फैसला कर सकती थी, राजा लोग नहीं। राजाओं का सबसे अच्छा काम यह था कि वे उत्तरदायी शासन स्वीकार कर लें और अपनी-अपनी रियासतों में प्रतिनिधिक संस्थायें स्थापित करें। ये ही सरकारें और प्रतिनिधि मिल कर सौराष्ट्र या दक्षिण की रियासतों या किसी अन्य रियासत-समूह के भावी ढांचे का निर्णय करें। गांधी जी के स्पष्ट अभिमत और सम्मेलन के प्रस्ताव ने राजाओं के अपनी प्रजा के नेतृत्व को अपने हाथ में लेने के प्रयत्न को एक ही चोट में समाप्त कर दिया।

सम्मेलन ने जनता का ध्यान सर्वोच्च सत्ता के उस षड्यन्त्र की ओर आकर्षित किया जो उसने बस्तर रियासत के कुछ भाग निजाम सरकार को उसके खान-साधनों को अपने प्रयोग में लाने के लिए पट्टे पर देने के वास्ते रचा था। षड्यन्त्र का आरोप विशेष रूप से इस कारण सही था क्यों कि बस्तर का राजा नाबालिग था, और रियासत का प्रशासन राजनीतिक विभाग के हाथ में था। सम्मेलन ने घोषणा की कि बस्तर की जनता किसी ऐसे समझौते को मानने के लिए बाध्य नहीं हो सकती, जो उसकी राय लिये बिना सर्वोच्च सत्ता और निजाम सरकार के मध्य गुप्त रूप से किया गया होगा।

भारत की संविधान सभा ने पहले ही अपना काम करना शुरू कर दिया था। अतः सम्मेलन ने उसमें रियासतों के लोकप्रिय प्रतिनिधियों के भेजे जाने की जोरदार मांग की। परन्तु सिद्धान्ततः उसने यह स्वीकार कर लिया कि आरम्भ में यह काम संविधान सभा द्वारा प्रस्तावित वार्ता-समिति द्वारा चलाया जा सकता है।

यह ध्यान रखने की बात है कि अ० भा० रियासती प्रजापरिषद ने लगभग 20 वर्ष की अपनी जीवन-अवधि में कुल 8 अधिवेशन किये। अब उसका कार्य समाप्त होने वाला था। एक समय ऐसा भी आया था, जब रियासती जनता यह बताने के लिए बेचैन रहती थी कि राजनीतिक सत्ता के रूप में भारत एक और अविभाज्य है। वह यह सोचती थी कि कांग्रेस इस सिद्धान्त को पूर्णतया स्वीकार नहीं करती, क्योंकि वह ब्रिटिश भारत की समस्याओं को प्राथमिकता देने का आग्रह करती थी और

रियासतों को उसने केवल उसकी सहानुभूति और नैतिक समर्थन से सन्तुष्ट रहने तया अपनी रक्षा आप करने के लिए छोड़ दिया था।

परन्तु वह स्थिति अब न थी। आने वाली घटनाओं ने पहले ही इस विवाद को अतीत की वस्तु बना दिया था। जो लोग देश के भाग्य का निर्माण कर रहे थे, उनकी निगाह में जिस प्रकार अ० भा० रियासती प्रजा परिषद में और कांग्रेस में कोई अन्तर न था, उसी प्रकार रियासतों और प्रान्तों में कोई अन्तर न था।

स्वतन्त्रता से पूर्व की घटनाओं की एक और विशेषता यह थी कि वे भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्विभाजन की ओर संकेत कर रही थीं। रियासतों का विलयन इस प्रश्न को सामने ले आया। उत्तरदायी शासन की स्वीकृति की घोषणा करते हुए, महाराजा कोचीन ने स्पष्ट शब्दों में संयुक्त केरल का उल्लेख किया। इसी प्रकार, ग्वालियर अधिवेशन ने राजनीतिक विभाग द्वारा उसकी प्रशासनिक व्यवस्था में किये गये कुछ परिवर्तनों का विरोध किया। राजनीतिक विभाग जंजीरा, जावरा, सुरगना और दांग रियासतों को दक्षिण स्टेट एजेंसी (दक्षिण रियासत अभिकरण) से स्थानान्तरित कर दिया था। रियासती प्रजा परिषद को यह पसन्द न था, क्योंकि उसके विचार से ऐसा परिवर्तन उन रियासतों की जनता की सांस्कृतिक एवं भाषायी एकता के विरुद्ध था। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ यह था कि संस्कृति और भाषा का प्रश्न रियासतों के भावी समूहीकरण या विलयन का निश्चय करने की कसौटी बनने-वाला था।

आन्दोलन और संघर्ष का विस्तृत ब्यौरा

आधुनिक राजनीतिक अर्थ में देसी रियासतों में स्वतन्त्रता-संघर्ष दो दशाब्दियों (1927-46) से अधिक नहीं चला। इससे पहले भी कुछ रियासतों में प्रदर्शन, विद्रोह एवं कृषक-अशान्ति हुई थी; परन्तु ये सब छुटपुट घटनायें थीं और सब एक ही ढंग की थीं—लोग अपनी किसी शिकायत को दूर करने के लिए विरोध और आन्दोलन करते थे। यद्यपि ये हलचलें सम्बन्धित रियासत के प्रशासन के ही विरोध में होती थीं, फिर भी ये स्वतन्त्रता के आदर्श अथवा प्रजा की इस इच्छा से प्रेरित न थीं कि प्रशासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया जाय। अतः इतिहास की दृष्टि से 1927 से पहले की घटनायें छोड़ी जा सकती हैं।

शताब्दी बदलने के बाद आर्थिक, वित्तीय और संचार के क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन हुए, जिन्होंने रियासतों और प्रान्तों को, इच्छा से अथवा अनिच्छा से, एक दूसरे के पास ला दिया। जैसा कि हम देख चुके हैं, अंग्रेजों द्वारा सम्पूर्ण देश के विकास के लिए की गई व्यवस्था राजाओं को अच्छी न लगी और वे इसका विरोध करने में कभी न चूके। परन्तु वे परिवर्तन साम्राज्य के मतलब के थे, अतः सर्वोच्च सत्ता ने विरोधों पर कोई ध्यान न दिया। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि शताब्दी के पहले 25 या 30 वर्षों में व्यापक आर्थिक और संचार-सम्बन्धी विकास के फलस्वरूप रियासतों सहित समस्त देश ने पर्याप्त प्रगति की, फिर भी विकास की वे घटनायें और वे वर्ष जिनमें वे हुईं, हमारे वर्ण्य विषय के दायरे में नहीं आते।

1927-46 की अवधि में रियासती जनता की मनोवृत्ति में परिवर्तन स्पष्ट दिखाई देता है। वह अब अपनी व्याधि के लक्षणों को ही नहीं मूल कारणों को भी हटाने की बात सोचने लगी थी। इस परिणाम पर पहुँचने के बाद कि रियासतों में निरंकुश शासन के स्थान पर किसी न किसी प्रकार का लोकप्रिय शासन स्थापित होने से ही उसका भाग्य सुधर सकता है, जनता पहली बार अपनी-अपनी रियासतके शासन में हिस्सा लेने की मांग करने लगी। अपने हृदय में इस आकांक्षा को स्थान देने में तथा वस्तुतः अपना आन्दोलन छेड़ने में कांग्रेस का उदाहरण रियासती जनता के सामने मौजूद था। संघर्ष में रियासती जनता की सहायता करना कांग्रेस के लिए उतना ही लाभदायक था, जितना रियासती जनता के लिए उससे पथ-प्रदर्शन प्राप्त करना। परन्तु समस्त रियासतों में जो जन-आन्दोलन हुए, उनका परस्पर सम्बद्ध अथवा तारीख-वार विवरण देना न तो सरल है और न लाभदायक ही। एक तो रियासतें संख्या में

वहुत अधिक थीं, और दूसरे आकार एवं स्वरूप में बहुत भिन्न थीं। ऐसा विवरण, यदि उकता देनेवाला नहीं, तो कम से कम पुनरुक्तिदोषवाला अवश्य होगा। अतः विशेषतया जहां तक छोटी रियासतों का सम्बन्ध है, हमने विभिन्न रियासतों के विशेप प्रकार के आन्दोलनों और संघर्षों को छांटकर अनिश्चित नमूना प्रणाली का अवलम्बन किया है। यह आशा की जाती है कि यह वर्णन, बड़ी रियासतों के विरोध-आन्दोलन के पूर्ण वर्णन से मिल कर, रियासती जनता द्वारा छेड़े गये स्वतन्त्रता-युद्ध के स्वरूप का और अ० भा० रियासती प्रजा परिषद द्वारा उस युद्ध में लिये गये भाग का स्पष्ट चित्र उपस्थित करेगा।

पश्चिमी भारत की रियासतें

पहले हम काठियावाड़ और गुजरात की रियासतों को लेते हैं, जिनकी कुल संख्या 300 से ऊपर थी। काठियावाड़ में कुल रियासतों की सही संख्या 277 थी, जिनमें से केवल 7 "बड़ी" या सलामी श्रेणी की थीं। वड़ौदा एक बड़ी रियासत थी, परन्तु उसमें 79 छोटी रियासतें और थीं, जो बड़ौदा के रेजीडेंट के क्षेत्राधिकार में थीं।

पश्चिमी भारत की रियासतों में जन-असन्तोष और प्रशासन में जनता के हिस्से की मांग की पहली घनध्वनि उन रियासतों के कृषि और वन सम्बन्धी कानूनों की सख्ती के कारण सुनाई पड़ी। वे कानून तथा और भी वहुत-सी चीजें सामन्ती ढंग की थीं, और इतनी पुरानी थीं, जितनी काठियावाड़ की झीलें। अपने साधनों को बढ़ाने के लिए, इन रियासतों के शासकों ने, विशेषरूप से जामनगर, राजकोट, भावनगर, राजपीपला आदि वड़ी रियासतों के शासकों ने, व्यापारिक एकाधिकार की नयी प्रणाली निकाली, जिसका फल यह हुआ कि इन रियासतों में दैनिक उपयोग की वस्तुएं ब्रिटिश भारत की अपेक्षा ऊंची कीमतों पर बिकने लगीं।

1920 में काठियावाड़ रियासती प्रजा परिषद के गठन के फलस्वरूप, इन रियासतों की जनता में राजनीतिक चेतना जल्दी आ गयी थी। यह संगठन वचन और कर्म दोनों के लिए अच्छा मंच था। 1925 में महात्मा गांधी ने इसके एक वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता की थी। देशी रियासतों की समस्या के साथ गांधी जी का यह प्रथम प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। उन्होंने जनता को एक होने और अपने अधिकार मांगने की सलाह दी। पर साथ ही उन्होंने अपने को राजाओं का हितैषी घोषित किया और उनको सलाह दी कि वे अपनी रियासतों को पवित्र न्यास की तरह समझें। उन्होंने उनसे यह भी कहा कि वे प्रशासन में स्वयं ही सुधार करें। गांधी जी के प्रयत्नों ने

काठियावाड़ की जनता को एक दूसरे के निकट ला दिया और उसे राजाओं के निरंकुश शासन के विरुद्ध खड़े होने की शक्ति प्रदान की। परन्तु राजाओं ने उनकी सलाह पर कोई ध्यान न दिया।

जामनगर में, 1927-28 में, जाम साहब की नमन नीति के विरुद्ध बड़े पैमाने पर जन-आन्दोलन हुए। तभी रियासती जनता के आन्दोलन के नेताओं ने रियासती जनता की स्वतन्त्रता के लिए लड़ने के वास्ते एक अखिल भारतीय संगठन स्थापित करने के बारे में सोचना शुरु कर दिया। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं इन्हीं लघु आरम्भों से अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की नींव पड़ी।

पश्चिमी भारत की रियासतों में विरोध आन्दोलन का स्पष्ट चित्र अंकित करने तथा संघर्ष का स्वरूप बताने के लिए जो सबसे अच्छी बात की जा सकती है वह है राजकोट-प्रसंग का संक्षिप्त वर्णन। यद्यपि 1930 से आरम्भ होने वाले दशक के अन्त में राजकोट में जो घटनायें हुई, वे केवल एक ही रियासत से सम्बन्धित थीं, फिर भी वे पश्चिमी भारत की अन्य रियासतों की तात्कालिक एवं बाद के वर्षों की राजनीतिक स्थिति और विरोध के स्वरूप को भली भांति प्रतिविम्वित करती थीं।

राजकोट-प्रसंग

आकार, जनसंख्या और सामान्य महत्व की दृष्टि से राजकोट रियासत काठिया-वाड़ में भी एक छोटी रियासत मानी जाती थी। परन्तु अन्य अनेक कारणों से उसने पश्चिमी भारत में कुछ प्रमुखता प्राप्त कर ली थी। सबसे पहली बात तो यह थी कि वह काठियावाड़ के मध्य में स्थित थी और राजकोट शहर काठियावाड़ प्रायद्वीप का सबसे बड़ा और समृद्ध शहर था। दूसरे, राजकोट में रेजीडेंसी थी, जहां काठियावाड़-रियासतों का रेजीडेंट रहता था। इससे यह शहर वस्तुतः काठियावाड़ की राजधानी बन गया था। तीसरे, राजकोट में रेलमार्ग के पार रेजीडेंसी क्षेत्र रियासती क्षेत्र से घिरा ब्रिटिश क्षेत्र था। अतः इस शहर के दो भाग हो गये थे—एक रियासती और दूसरा ब्रिटिश भारतीय। दोनों भाग एक रेल-मार्ग द्वारा कृत्रिम रूप से एक दूसरे से पृथक स्थित थे। यह समीपता कष्टकारक न बन कर महत्त्वशाली बन गयी थी क्योंकि रियासतों और ब्रिटिश भारत के रहन-सहन, नागरिक स्वतन्त्रता एवं आर्थिक स्थिति में जो विषमता थी, वह इसके कारण और बढ़ गयी थी।

1938-39 में राजकोट में निराशा और असन्तोष छाया हुआ था। निराशा से लोगों में स्वशासन के लिए लड़ने के निश्चय की भावना पैदा हुई। राजकाज में

शासक की उदासीनता तथा हर काम को अपने दीवान, दरबार वीरवाला, पर जो एक षड्यन्त्रकारी और अविवेकी पुरुष था, छोड़ने की उसकी आदत ने असन्तोष की आग फैलाने में सहायता की। लोगों के लिए मिलकर कार्रवाई करना बहुत आसान था क्योंकि राजकोट रियासत के तीन-चौथाई लोग राजकोट शहर में रहते थे। निकट-वर्ती बम्बई प्रान्त में बदलती हुई हालतों ने और रियासती जनता में पैदा हुई सामान्य जागृति ने राजकोट की जनता को यू० एन० ढेबर के नेतृत्व में उत्तरदायी शासन के वास्ते आन्दोलन शुरू करने के लिए प्रोत्साहित किया।

दीवान वीरवाला ने अपनी मूर्खता से असन्तोष की चक्की में पीसे जाने के लिए काफी पीसना तैयार कर दिया था। वह रियासती विधान सभा के साथ घृणा का व्यवहार करता था, उसकी बैठकें यदा-कदा ही बुलाता था और अक्सर उसकी उपेक्षा कर देता था। महत्त्वपूर्ण निर्णय विधान सभा को बिना बताये ही कर लिये जाते थे। वह शासक को अपनी खर्चीली आदतों से चिपके रहने के लिए प्रोत्साहित करता रहता था, जिससे ठाकुर अपने व्यक्तिगत खर्च के लिए रियासत के राजस्व का आधा भाग मांगने लगा था वीरवाला के मन में व्यापार में एकाधिकार की स्थापना का विचार आया, जिसे वहां इजारा कहते थे। इसका फल यह हुआ कि रेलमार्ग के एक ओर रहने वाले लोग बर्फ, दियासलाई, बिजली का सामान, रेडियो-सेट आदि दैनिक उपयोग की वस्तुएं खरीदने के लिए अधिक दाम देने लगे, जबकि रेलमार्ग के दूसरी ओर ब्रिटिश भारत के क्षेत्र में रहने वाले लोग उनसे भी अच्छी चीजों के लिए कम दाम देते थे।

हालत तेजी से बिगड़ती चली गयी और असह्य होने लगी। विरोध का स्वर उठते ही वीरवाला की बर्खास्तगी की मांग की जाने लगी। जनता की शिकायतें सही थीं। बम्बई में कांग्रेस के सत्तारूढ़ हो जाने से सर्वोच्च सत्ता भी यह नहीं चाहती थी कि मामला आगे बढ़े। अतः रेजीडेंट ने ठाकुर को सलाह दी कि वह दूसरा दीवान रख ले। वीरवाला की जगह एक सेवानिवृत्त ब्रिटिश नागरिक, सर पेट्रिक केडैल, नियुक्त किया गया। परन्तु ठाकुर ने अपने पहले दीवान को भी परामर्शदाता के रूप में रहने दिया। इस प्रकार देखनेभर को तो परिवर्तन हो गया, परन्तु पुरानी व्यवस्था ज्यों की त्यों रही, क्योंकि वीरवाला पर्दे के पीछे से सूत्र खींचता रहता था।

इस व्यवस्था ने जनता की भावनाओं को शान्त करने के बजाय और उत्तेजित कर दिया। उत्तरदायी शासन की स्थापना द्वारा प्रशासन पर पूर्ण नियन्त्रण करने का जनता का निर्णय अब और भी उग्रतर हो गया। उसने अहिंसात्मक बहिष्कार

आन्दोलन छेड़ दिया। रियासती मिलों में बनी सब चीजों का बहिष्कार कर दिया गया। जिन लोगों का रुपया रियासती बैंक में जमा था, उन्होंने अपना रुपया निकाल लिया। जब एकाधिकारों का नीलाम होता था, तो लोग बोली नहीं लगाते थे। रियासती कानूनों का उल्लंघन कर, दियासलाई आदि प्रतिषिद्ध वस्तुओं का चोरी-छिपे व्यापार जोर पकड़ने लगा। शहर के लोग और रियासत के 60 गांवों के किसान मिल कर अच्छी तरह एक हो गये। निषेधादेश उन्हें सार्वजनिक सभायें करने से नहीं रोक पाते थे। यह मानना पड़ेगा कि सर पेट्रिक विरोधकारियों से सुलटने में पर्याप्त उदारता दिखाता था। उस हद तक वह जनता का कोपभाजन बनने से बच गया और वीरवाला उसका लक्ष्य बन गया। सर पेट्रिक ने आन्दोलन के नेताओं से बातचीत करने की भी कोशिश की परन्तु कुछ बैठकों के बाद बातचीत को निरर्थक समझ कर छोड़ दिया। जन-आन्दोलन दिन-ब-दिन जोर पकड़ता चला गया।

इसी समय, राजकोट में जो स्थिति बनती जा रही थी, उसका काठियावाड़ की समीपवर्ती रियासतों पर भी प्रभाव पड़ा। राजकोट का आन्दोलन सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के लिए प्रचार का एक अच्छा साधन बन गया। उन्होंने अपने-अपने दीवानों के विरुद्ध शिकायतों की सूचियां बनानी शुरू कर दीं। शासकों की प्रतिक्रिया सर्वथा प्रतिकूल नहीं थी। उनमें से कुछ ने तो, विशेष रूप से बीकानेर के शासक ने, अपनी प्रजा की कुछ शिकायतों को दूर करके अच्छी अनुक्रिया दिखायी।

जब स्थिति बिगड़ने लगी, तो सरदार वल्लभ भाई पटेल आदि कांग्रेस नेताओं की सहायता से तथा राजनीतिक विभाग के परामर्श से, जो कि उलझनों से बचने के लिए उत्सुक था, एक नयी प्रशासन-परिषद बनायी गयी। ठाकुर उसका अध्यक्ष बना और सर पेट्रिक उपाध्यक्ष। दो सदस्य भी रखे गये, जो वीरवाला द्वारा मनोनीत किये गये। कई दिनों तक नयी परिषद ने जनता के प्रतिनिधियों से बातचीत की, परन्तु कोई फल न निकला। कुछ ही दिनों बाद सरदार पटेल राजकोट आये। उनकी उपस्थिति से आन्दोलन को नयी प्रेरणा प्राप्त हुई। उन्होंने जनता के सामने कार्य का एक सुविचारित कार्यक्रम प्रस्तुत किया। बहिष्कार आन्दोलन को और भी तेज किया गया। लोगों ने दशहरा दरबार में भी शामिल होने से इन्कार कर दिया। ठाकुर की सवारी राजकोट की सुनसान सड़कोंपर हो कर निकल गयी, परन्तु किसी ने उसका अभिवादन तक नहीं किया। अपनी मांगों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए, जनता ने घटा कर केवल दो ही रखीं---अपनी शिकायतों का निवारण तथा उत्तरदायी शासन की प्राप्ति।

यह प्रत्यक्ष था कि राजकोट की घटनायें संकटावस्था की ओर अग्रसर हो रही थीं। एक संगीन स्थिति पैदा हो गयी थी। ठाकुर के सिर पर एक दीवान लाद दिया गया था, जिसका न वह विश्वास करता था, न आदर। वह अपने पहले दीवान, वीरवाला, की ही सलाह पर चलता रहा। नयी परिषद में सर पेट्रिक एक के अल्पमत में था। राजनीतिक विभाग ठाकुर के विरुद्ध कोई सख्त कार्रवाई करने के लिए तैयार न था; और न वह एक भारतीय शासक को अपने एक अंग्रेज दीवान के पदच्युत करने की अनुमति ही दे सकता था। इस विकट स्थिति को समाप्त करने के लिए उसने दोनों पर दवाव डालना शुरू किया और दोनों में समझौता कराने की कोशिश की, परन्तु समझौता न हो सका। इस प्रकार न तो ठाकुर जैसा चाहता वैसा करने के लिए स्वतन्त्र था, और न दीवान ही। तटस्थ रहने का बहाना करके, अपने वेमन हस्तक्षेप के द्वारा, उच्च सत्ता ने रियासत और रियासती जनता दोनों के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति पैदा कर दी।

ठाकुर और उसके प्रशासन की जनता की मांग के प्रति उदासीनता का एक मात्र विकल्प राजकोट प्रजामण्डल द्वारा आन्दोलन शुरू करना था। इस आन्दोलन ने, जिसे प्रशासन ने दृढ़ता से कुचलने का प्रयत्न किया, वम्बई प्रेसीडेंसी के राजनीतिक क्षेत्रों में हलचल मचा दी। वम्बई में उस समय कांग्रेस का शासन था। वम्बई सरकार ने अप्रत्यक्ष रूप से आन्दोलन के लिए खेद प्रकट किया और राजकोट की जनता के साथ अपनी सहानुभूति के बारे में किसी को भ्रम में न रहने दिया। कुछ मन्त्री और भी आगे बढ़ गये और उन्होंने राजकोट में प्रजा मंण्डल के आन्दोलन का समर्थन किया।

अगस्त 1938 में, राजकोट प्रजा आन्दोलन के नेता यू० एन० ढेवर को, निषेधादेश तोड़ कर सार्वजनिक सभा करने के आरोप में गिरफ़्तार कर लिया गया। परन्तु कुछ दिनों बाद उन्हें छोड़ दिया गया। इससे जनता का विश्वास बढ़ा और सत्याग्रह आन्दोलन अप्रतिहत गति से जारी रहा। सरदार पटेल, जो गुजरात प्रान्तीय कांग्रेस समिति के अध्यक्ष थे, यह सब कुछ चुपचाप खड़े देखते नहीं रह सकते थे। उन्होंने अपनी पुत्री, मणिबेन, को स्थिति का निरीक्षण करके रिपोर्ट देने के लिए राजकोट भेजा। राजकोट में उसे गिरफ़्तार कर लिया गया। इसके बाद सरला देवी की पुत्री, मृदुला बेन ने, जो राजकोट की ही रहने वाली थी, राजकोट में प्रवेश किया। उसे भी रियासती सरकार ने गिरफ़्तार कर लिया।

उसी समय सितम्बर 1938 में, राजकोट रियासती प्रजा परिषद की एक बैठक हुई। सरकार के विरोध और कुछ राजभक्त नागरिकों के षड्यन्त्र के बावजूद वह

बैठक हुई, और उसमें सरदार पटेल शामिल हुए। सरदार ने जोरदार भाषण दिया और राजकोट की जनता के लिए उत्तरदायी शासन की मांग की। बाद में यह मांग बैठक में स्वीकृत एक अधिकृत प्रस्ताव में शामिल कर ली गयी। यद्यपि ढेबर कांग्रेस-आन्दोलन के मार्ग पर ही संघर्ष चला रहे थे, परन्तु उन्होंने कांग्रेस का नाम उसमें नहीं घसीटा। उन्होंने पिछले कुशासन के आधार पर और भावी सुशासन के लिए राजकोट के वास्ते उत्तरदायी शासन के पक्ष में अपना मामला तैयार किया। इस जन-आन्दोलन को जनता का अभूतपूर्व समर्थन प्राप्त हुआ। समर्थन करने वालों में आर० बी० पटवारी और हरिशंकर पंड्या जैसे रियासत के भूतपूर्व दीवान और सेवानिवृत्त वरिष्ठ अधिकारी भी थे। इस से यह प्रकट होता था कि काठियावाड़ के उदार वर्ग के लोग भी शासकों की मनमानी और उनके प्रशासन के ढुलमुलपन से तंग आ गये थे।

अनेक सार्वजनिक सभाओं में एकाधिकारों और इजारों के विरोध में आवाज उठायी गयी और उन राजनीतिक अधिकारों की वापसी की मांग की गयी, जो स्वर्गीय ठाकुर साहब ने जनता को प्रदान किये थे। अच्छे प्रशासन की गारंटी के लिए, विशेष रूप से इसलिए कि शासक कोई रुचि न लेता था, जनता यह चाहती थी कि दीवान को उसके प्रति जिम्मेदार बनाया जाय। जनता के प्रवक्ताओं ने कहा "रियासत की आमदनी जनता से होती है, न कि दरबार से; अतः हम को व्यय पर नियन्त्रण रखने का अधिकार होना चाहिए।"

इसी समय दीवान भी बदल गया। ब्रिटिश भारत का सेवानिवृत्त नागरिक अधिकारी सत्तरवर्षीय सर पेट्रिक केडैल मैदान में आया और उसने आन्दोलन को दबाने के लिए निषेधादेश जारी किये। उनके फलस्वरूप लोगों को और भी अधिक कष्टों और बलिदानों के लिए तैयार होना पड़ा, और उन्हें खुशी-खुशी उन्होंने सहन किया।

दिसम्बर 1938 में सरदार पटेल प्रजा मण्डल के नेताओं को परामर्श देने के लिए तथा उस बातचीत में उनका मार्गप्रदर्शन करने के लिए राजकोट आये, जो उनके, राजकोट के शासक के और दीवान सर पेट्रिक केडैल के मध्य आरम्भ हो चुकी थीं। 26 दिसम्बर को एक समझौता हुआ जो राजकोट रियासत के गजट में विधिवत् घोषित किया गया। सरदार पटेल ने राजकोट की जनता को सलाह दी कि वह इसे स्वीकार कर ले। समझौते की एक शर्त यह थी कि रियासती सरकार को सब मामलों में सलाह देने के लिए एक परिषद बनायी जायगी तथा इस परिषद के सात सदस्य सरदार पटेल की सिफारिश पर शासक द्वारा नियुक्त किये जायेंगे।

कुछ ही सप्ताह बाद जब यह परिषद बनी तो सरदार पटेल की सिफारिशें उठा

कर ताक पर रख दी गयीं और शासक ने उन सदस्यों को छोड़ कर जिनकी सिफारिश पटेल ने की थी दूसरे सदस्य मनोनीत कर लिये। इससे स्वभावतः सरदार पटेल नाराज हो गये और उन्होंने रियासती सरकार के विरुद्ध पुनः संघर्ष छेड़ने की घोषणा कर दी।

इस घटना के कारण महात्मा गांधी को राजकोट के संघर्ष में अधिक सक्रिय भाग लेना पड़ा। उन्होंने शासक द्वारा समझौते की शर्तों का तोड़ा जाना 'एक पवित्र प्रतिज्ञा को निर्दयता से भंग करना' बताया।[1]

राजकोट का संघर्ष अब एक अखिल भारतीय मामला बन गया और देश भर का ध्यान आकर्षित करने लगा। शासक द्वारा किये गये विश्वासघात और सारे मामले में भूतपूर्व दीवान वीरवाला द्वारा अदा की गयी निकृष्ट भूमिका के विरोध में महात्मा गांधी को मार्च 1939 के प्रथम सप्ताह में उपवास करना पड़ा। इससे मामला और भी पेचीदा हो गया। वाइसराय गन्दगी को दूर करने तथा सामान्य स्थिति पैदा करने के लिए बहुत उत्सुक था; अतः उसने भारत के मुख्य न्यायाधिपति सर मारिस ग्वायर को मामले की जांच करने तथा इस बात की रिपोर्ट देने के लिए नियुक्त किया कि क्या राजकोट का शासक वास्तव में विश्वासघात का दोषी है। सर मारिस ग्वायर ने जो पंचाट दिया उसमें अप्रत्यक्ष रूप से यह स्वीकार किया गया कि ठाकुर द्वारा विश्वासघात किया गया है।

कुछ समय के लिए यह मालूम पड़ने लगा कि राजकोट का मामला सुलझने लगा है; क्योंकि ठाकुर, वीरवाला और राजनीतिक विभाग एक ऐसे नये समझौते के लिए उत्सुक प्रतीत होते थे, जो सब पक्षों को स्वीकार्य हो। जब ये प्रयत्न चल रहे थे, तभी अचानक महात्मा गांधी ने फिर आत्म-शुद्धि के लिए 21 दिन का उपवास, इस तर्क के आधार पर, शुरू करने का निश्चय किया कि उनको यह महसूस हुआ कि इससे पहले उपवास करके वे बलप्रयोग के दोषी हो गये हैं। सौभाग्य से गांधी जी इस 21 दिन के उपवास की कठिन अग्नि-परीक्षा में सफल हुए। इस अवधि में सारे देश ने गांधी जी को इस गंभीर कदम को उठाने से रोकने का प्रयत्न किया, क्योंकि इसने सारे राष्ट्र को चिन्तामग्न कर दिया था और असमंजस में डाल दिया था।

यह घटना बताती है कि रियासतों के शासक प्रशासन पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए कितनी दूर जा सकते थे, रियासती जनता उनका प्रतिरोध करने

---

[1] "हरिजन"—ता० 4-2-1939

के लिए कितनी तैयार थी और छोटी-बड़ी रियासतों की ये घटनायें देश के राजनीतिक जीवन में किस कदर तूफान पैदा कर सकती थीं।

उड़ीसा की रियासतें

उड़ीसा की रियासतों को जितने घोर दमन और कुशासन का सामना करना पड़ा, उतना भारत में शायद ही रियासतों के किसी अन्य समूह को करना पड़ा हो। यद्यपि इन रियासतों के लोगों की संस्कृति, सामाजिक प्रथायें, धार्मिक विचार और रहन-सहन का ढंग आदि सभी चीजें उड़ीसा प्रान्त के अपने पड़ौसी भाइयों के ही समान थीं; फिर भी वे अनेक राजनीतिक क्षेत्रों में बंटे हुये थे और विभिन्न प्रशासनों के आधीन रहते थे। ये रियासतें निकृष्टतम सामन्तशाही का नग्न चित्र उपस्थित करती थीं। नये परवमर्वालम्बियों[1] की भांति उड़ीसा की रियासतों के शासक शानशौकत और भोगविलास का जीवन बिताने में एक दूसरे की होड़ करते थे, क्योंकि वे इसी को राजसी जीवन की एकमात्र विशेषता समझते थे। इसका अर्थ था व्यय का बढ़ना; अतः इसकी पूर्ति के लिए वे सब प्रकार के शोषण, दोहन एवं मनमाने करनिर्धारण का सहारा लेते थे, जिससे जनता में उनके विरुद्ध उत्तेजना बढ़ती थी।

1931 में उड़ीसा रियासती प्रजा परिषद की स्थापना हुई। उसका पहला अधिवेशन उसी साल हुआ। परन्तु उसके बाद दमन और पाशविक बल के शासन ने अगले कुछ वर्षों तक जनता को दूसरा अधिवेशन न करने दिया। दूसरा अधिवेशन कहीं 1937 में जाकर हो सका। उड़ीसा रियासत जांच समिति ने 1920 और 1930 से आरम्भ होने वाले दशकों में इन रियासतों की घटनाओं का वर्णन इस प्रकार किया है :—

> "यदि इन रियासतों की जनता के नीरस और जड़ जीवन में विगत लगभग 25 वर्षों की प्रमुख घटनाओं पर विचार किया जाये, तो यह जान कर आश्चर्य होता है कि इन वर्षों में ब्रिटिश राजनीतिक अधिकारियों के प्रत्यक्ष परामर्श से देशी शासकों द्वारा शासित इन राज्य-क्षेत्रों में ऐसे बहुत से जन-विद्रोह हुए

---

[1]उड़ीसा के ये राज्यक्षेत्र कहीं 1882 में रियासतें घोषित किये गये थे, और "गैर-ब्रिटिश क्षेत्र" बनाये गये थे। तब तक ये करद महाल समझे जाते थे और ब्रिटिश भारत के अंग थे।

हैं, जिनका उद्देश्य किन्हीं अत्यावश्यक आर्थिक और राजनीतिक शिकायतों का निवारण कराना था। बौड, बामरा, रेड़ाखोल, रनपुर, नयागढ़, नीलगिरि, तालचेर तथा और भी कई रियासतों की जनता भूमिकर में मनमानी वृद्धि, बेठी तथा अन्य ध्यानाकर्षक आर्थिक एवं राजनीतिक शिकायतों के विरुद्ध अनेक बार तत्काल विद्रोह कर चुकी है। इन विद्रोहों के कुछ मुख्य कारण ये हैं-- बेठी की कठोरता, बलिदान के लिए बकरों और भैंसों की मांग, खेतों में फसलों को हानि पहुंचाने वाले जंगली जानवरों को मारने की फीस, चराई-शुल्क तथा भूमिकर में वृद्धि।"[1]

1937 में कांग्रेस के शासन-सूत्र संभालते ही, उड़ीसा की रियासतों के आन्दोलन ने एक नयी अवस्था में प्रवेश किया। तालचेर और धेनकनाल की रियासतें दमनचक्र चलाने में सबसे आगे थीं। 75000 की जनसंख्या में से कम से कम 26000 व्यक्ति तालचेर छोड़ कर ब्रिटिश उड़ीसा में शरण लेने को बाध्य हुए। प्रो० रंगा ने, जिनसे उड़ीसा की रियासतों का भ्रमण करने के लिए कहा गया था, इन शरणार्थियों के कष्टों का रोमांचकारी वर्णन किया है। उनके कथन की पुष्टि ठक्कर बापा ने की है, जिन्होंने दुखियों की पुकार पर अशान्त क्षेत्रों का भ्रमण किया था। लोगों को इतना अधिक कष्ट था कि उसके निवारण के लिए देश के अनेक भागों में सहायता-कार्य शुरू किये गये। कांग्रेस ने सहायता-दल भेजने का प्रयत्न किया और मारवाडी सहायता समिति ने भी शरणार्थियों की सहायता के लिए वह सब कुछ किया, जो वह कर सकती थी।

उड़ीसा की एक और रियासत रनपुर में सबसे बुरी घटनायें हुई। रनपुर की जनता सरकार के अत्याचार और शोषण से अति क्षुब्ध थी। दमनकारी कानूनों के होते हुए भी वह सरकारी नीतियों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई और प्रदर्शन करने लगी। एक प्रदर्शन तो इतना रोषपूर्ण था कि लोगों ने राजनीतिक अभिकर्त्ता (पोलीटिकल एजेंट) मेजर बीजलगेट के निवास-स्थान पर आक्रमण कर दिया और उसे मार डाला। फिर क्या था, उड़ीसा की रियासतों की जनता पर आतंक का सच्चा राज्य स्थापित हो गया। उसको डराया-धमकाया जाता था सब प्रकार के दण्ड दिये जाते थे और उसके विरुद्ध अत्याचारपूर्ण बदले की कार्रवाई की जाती थी।

गांधी जी ने अपने विशिष्ट ढंग से उड़ीसा की रियासतों में हिंसा के विस्फोट की भर्त्सना की और जनता से कहा कि यदि वह अहिंसा के मार्ग पर नहीं चल सकती

---

[1] पृष्ठ 5 और 6

तो सत्याग्रह बन्द कर दे। गांधी जी ने 'हरिजन' में जो विचार व्यक्त किये और उड़ीसा के राज्यों की जनता की जो आलोचना की, उसकी प्रत्यालोचना करते हुए, उड़ीसा के एक सार्वजनिक कार्यकर्त्ता ने गांधी जी को एक लम्बा स्पष्टीकरण-पत्र लिखा, जिसे गांधी जी ने 'हरिजन' में प्रकाशित किया। इस पत्र में अन्य बातों के अतिरिक्त लिखा था :—

> "मैंने उड़ीसा की रियासतों के राजनीतिक अभिकर्त्ता की हत्या के विषय में आपके विचार ध्यान से पढ़े हैं और कई बार पढ़े हैं। मुझे यह देख कर बड़ा दुःख हुआ कि उड़ीसा की गरीब रियासती प्रजा पर जो हृदयविदारक अत्याचार किये गये हैं उनका आपने कोई उल्लेख नहीं किया। क्या राजनीतिक अभिकर्त्ता की हत्या रियासती अधिकारियों के लिए जनता के संघर्ष से सुलटते समय अधिक दयालु बनने की ईश्वरीय चेतावनी नहीं है? आखिर, रियासती प्रजा और राजनीतिक विभाग में से कौन हमारी सहानुभूति का पात्र अधिक है? यदि राजनीतिक अभिकर्त्ता के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करके भीड़ ने गलती की है, तो क्या राजनीतिक अभिकर्त्ता ने भीड़ पर गोली चला कर और इस प्रकार उसे हिंसा के लिए उत्तेजित कर उचित किया है? और उस भीषण दमन के लिए क्या कहा जाय, जिसके लिए राजनीतिक अभिकर्त्ता जिम्मेदार था? इसमें मैं आपसे सहमत हूं कि राजनीतिक अभिकर्त्ता की हत्या दुर्भाग्यपूर्ण थी, परन्तु उसके लिए जिम्मेदार कौन है? यदि राजनीतिक अभिकर्त्ता उड़ीसा की रियासतों के शासकों को ठीक सलाह देता और उनका समुचित पथप्रदर्शन करता तथा भीषण दमन में भाग न लेता, तो निश्चय ही जनता नियंत्रण से बाहर न होती।"[1]

शायद रनपुर में राजनीतिक अभिकर्त्ता की हत्या और उड़ीसा की रियासतों में पहले के तथा बाद के उपद्रवों के कारण ही राजनीतिक विभाग को प्रशासन के प्रयोजन के लिए छोटी रियासतों को मिलाने की बात सोचनी पड़ी। वाइसराय लार्ड लिनलिथगो समूहीकरण की एक चलाऊ योजना बनाने के लिए कृतनिश्चय था। इसके फलस्वरूप सहकारी समूहीकरण प्रणाली का जन्म हुआ, जिसके अनुसार उड़ीसा, पश्चिमी भारत और शिमला पहाड़ी की छोटी रियासतों में, विशेष रूप से पुलिस, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य, न्यायपालिका आदि विभागों में, संयुक्त प्रशासन की व्यवस्था की गई।

---

[1]एम० के० गांधी—"दी इंडियन स्टेट्स प्राब्लम"—पृ० 124-125

जब 1945 में विश्वयुद्ध समाप्त होने पर राजनीतिक गतिविधियां पुनः आरम्भ हुईं, तो नीलगिरि, धेनकनाल, तालचेर आदि रियासतों ने पुराना संघर्ष फिर शुरू कर दिया और रियासतों के लिए किसी न किसी प्रकार के उत्तरदायी शासन की मांग दुहराई। अलग-अलग रियासतों में प्रजा मण्डलों और उड़ीसा रियासती प्रजा परिषद ने अब तक जनता का इतना अधिक समर्थन प्राप्त कर लिया था कि शासक उनको चुनौती देना या जनता की मांगों को ठुकराना उचित न समझते थे। यही कारण है कि उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतों के शासक जून-जुलाई 1947 में एक संघ बनाने के बारे में सोचने लगे थे। 1 अगस्त को पूर्वी रियासत संघ बना और उसी दिन से उसने काम करना शुरू कर दिया। परन्तु यह संघ विभिन्न रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिए होने वाले आन्दोलनों को न रोक सका। विशेष रूप से धेनकनाल और नीलगिरि में व्यापक उपद्रव हुए। धेनकनाल में तो स्थानीय प्रजा मण्डल ने यहां तक किया कि सब सरकारी इमारतों पर कब्जा कर लिया और राजभवन को घेर लिया। इसी प्रकार, नीलगिरि में प्रजा मण्डल ने समानान्तर सरकार स्थापित करने, ग्रामों पर कब्जा करने तथा सरकारी कार्यालयों एवं सम्पत्ति को अपने अधिकार में लेने का निर्णय किया।

इस प्रकार की घटनायें शासकों को इस बात का पर्याप्त संकेत दे रही थीं कि वे जनता की मनोवृत्ति को समझें और अपनी स्थिति का पुनः मूल्यांकन करें। इसीलिए, जब रियासती मन्त्रालय ने इन रियासतों के निकटवर्ती प्रान्तों में विलयन का प्रस्ताव रखा, तो किसी ने नाममात्र को भी उसका विरोध न किया। जब शासकों को समुचित प्रिवी पर्स देने का वचन मिल गया तो निःसन्देह उनमें से अधिकांश ने संघ सरकार की इस योजना का स्वागत किया, और इसे संकट से बाहर निकलने का सबसे अच्छा मार्ग समझा। इसके तुरन्त बाद उड़ीसा की रियासतों को उड़ीसा प्रान्त में और छत्तीसगढ़ की रियासतों को मध्यप्रदेश में मिला दिया गया।

राजपूताना की रियासतें

दिसम्बर 1927 में अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के प्रथम अधिवेशन के बाद राजपूताना की सोती हुई रियासतों में भी जागृति की एक लहर फैल गयी। कुछ ही साल बाद जोधपुर, उदयपुर, अलवर आदि विभिन्न रियासतों में प्रजापरिषदों और प्रजा मण्डलों की स्थापना होने लगी। 1934 में राजपूताना की समस्त रियासतों

का एक क्षेत्रीय राजनीतिक संगठन बना। ये राजनीतिक संगठन कभी प्रकट रूप से काम करने में समर्थ न हो सके। रियासती प्रशासन इन्हें सन्देह की दृष्टि से देखता था; अतः वे अपनी बैठकें सामान्यतया अपनी रियासतों से बाहर ही किया करते थे। रियासती प्रशासन इतने निरंकुश और अत्याचारी थे कि अधिकांश प्रमुख प्रजा मण्डल कार्यकर्त्ताओं को बाध्य होकर अपना संघर्ष ब्रिटिश भारतीय क्षेत्र से चलाना पड़ता था। राजपूताना के रियासती प्रजा मण्डलों के कार्यकर्त्ता अपना संघर्ष आमतौर से अजमेर-मेरवाड़ा के छोटे ब्रिटिश-शासित प्रान्त से चलाते थे, क्योंकि राजाओं की वहां कोई पेश न जाती थी। कार्यकर्त्ता अक्सर रियासतों की आलोचना करते हुए वक्तव्य निकाला करते थे। परन्तु ऐसे सब वक्तव्य केवल ब्रिटिश भारतीय समाचार-पत्रों में ही छपते थे ; रियासतों में समाचारपत्र थे ही नहीं। वहां केवल ऐसे साम-यिक पत्र निकालने की इजाजत दी जाती थी जो रियासती प्रशासन की हां में हां मिलाते हों।

भारत की राष्ट्रीयता के प्राक्-गांधी युग में राजपूताना में राजनीतिक जागृति अधिक न थी। हां, जयपुर में अर्जुनलाल सेठी द्वारा क्रान्तिकारी दल की एक शाखा अवश्य संगठित की जा चुकी थी। सेठी अब भी इस क्षेत्र के युवक समाज में राष्ट्रीय चेतना और राजनीतिक जागृति पैदा करने में अग्रणी माना जाता था। उसके बाद शाहपुरा का केसरी सिंह बर्हत मैदान में आया। केवल उसी ने नहीं, उसके समस्त परिवार ने भी, उन दिनों की क्रान्तिकारी गतिविधियों में प्रमुख भाग लिया। केसरी-सिंह और उसके पुत्र, प्रताप सिंह, को लम्बी-लम्बी सजायें काटनी पड़ीं, और, वास्तव में, प्रतापसिंह तो नजरबन्दी में ही मरा भी। सर्वस्व त्याग करने वाले अन्य लोगों में खंड़वा के राव गोपालसिंह और ब्यावर के दामोदरदास राठी थे।

भारत के राजनीतिक क्षेत्र में महात्मा गांधी के अवतरित होते ही तथा कांग्रेस के लोकप्रिय संगठन बनते ही, राजपूताना का राजनीतिक आन्दोलन चहुंमुखी प्रगति करने लगा। क्षेत्र तो पहले से ही कुछ हद तक तैयार था; अतः जब 1921 में प्रथम असहयोग आन्दोलन शुरू हुआ तो उसमें यहां के बहुत से लोगों ने भाग लिया। बाद के 1930-32 और 1942 के शान्तिपूर्ण विरोध आन्दोलनों में तो उन्होंने और भी अधिक संख्या में भाग लिया।

प्रशासनिक सुधारों की और करों में कमी की मांग के लिए जन-आन्दोलन 1930 से आरम्भ हुए माने जा सकते हैं। जागीरदारी प्रथा भारत की लगभग सभी रियासतों में मौजूद थी; परन्तु राजपूताना की रियासतों की यह सबसे बड़ी विशेषता थी।

इसके परिणामस्वरूप जागीर-क्षेत्रों में, जिन्हें 'ठिकाना' कहते थे, रहने वाले लोगों को डवल दासता में रहना पड़ता था। इसी जागीरदारी प्रथा के विरुद्ध लोग मिल कर एक हुए और उन्होंने विद्रोह कर दिया ।

राजपूताना में सबसे पहला कृषक राजनीतिक आन्दोलन उदयपुर रियासत में बिजोलियां ठिकाने में शुरू हुआ। इसका नेता विजयसिंह पाठिक था। हरिभाऊ उपाध्याय, माणिकलाल वर्मा, जयनारायण व्यास और गोकुलभाई भट्ट ने, जो तभी से राजपूताना स्वतन्त्रता संग्राम के सेनानी बने रहे, उसकी योजना में सहायता दी। इस क्षेत्र के किसानों ने मनमानी चुंगी और कर देने से इन्कार कर दिया और वाध्य होकर इनके विरुद्ध सत्याग्रह भी शुरू कर दिया। इस सत्याग्रह में, अन्त में, सफलता मिली, जिससे समस्त राजपूताना को प्रेरणा प्राप्त हुई। सामन्ती शोषण एवं नागरिक स्वतन्त्रता पर रोक के विरुद्ध जनता की शिकायतें अब संगठित ढंग से की जाने लगीं। बिजोलियां के केवल तीन साल बाद, अर्थात् 1921 में, बेगुन ठिकाना (उदयपुर) के किसानों ने भी सत्याग्रह किया, जो सफल रहा । इसके बाद, बूंदी, सिरोही, जयपुर, जोधपुर तथा अन्य रियासतों में प्रजा मण्डल अधिक सक्रिय हो गये। ये मण्डल, जो अब तक राजपूताना प्रजा मण्डल की देख-रेख में काम कर रहे थे, 1927-28 में अ० भा० रियासती प्रजा परिषद का गठन हो जाने के बाद, उससे सम्बद्ध हो गये।

जैसी कि आशा की जा सकती थी, इस आन्दोलन के साथ ही राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं पर दमन-चक्र चलने लगा तथा जेलों में और बाहर पुलिस के अत्याचार शुरू हो गये । अलवर रियासत में राजनीतिक आन्दोलन का बदला लेने के लिए, एक पूरे गांव में, जिसमें 350 घर थे, आग लगा दी गयी और लगभग 100 आदमी गोली से मार दिये गये। यह घटना 1925 में नीमूचना गांव में हुई । हताहतों की इतनी अधिक संख्या का कारण यह था कि अधिक कारगर होने के लिए रियासती सेना ने आन्दोलनकारियों पर मशीनगन से गोली वर्षा की थी।

इस समय तक जयनारायण व्यास प्रमुख व्यक्तियों की श्रेणी में आ गये थे। उन्होंने विभिन्न रियासतों के नेताओं का एक ऐसा केन्द्रीय संगठन बनाने में सफलता प्राप्त की, जो राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं का पथ प्रदर्शन और आन्दोलन का दिशा-निर्देशन करता था। जोधपुर के बालमुकुन्द बीसा, जैसलमेर के सागरमल गोपा, और भरतपुर के रमेश स्वामी की आत्माहुति ने असन्तोष एवं बाद के आन्दोलनों की आग में घी का काम किया।

1925 में नीमूचना गांव के जला देने तथा उसके 100 आदमियों को मार डालने

के कारण, अलवर प्रजा मण्डल रियासती प्रशासन को उदार बनाने के हेतु आन्दोलन करने के लिए बाध्य हुआ। जब 1945 में युद्ध समाप्त होने के बाद अलवर प्रजा मण्डल ने पूर्ण उत्तरदायी शासन के लिए आन्दोलन शुरू किया, तब भी रियासत की सरकार ने आन्दोलनकारियों को सख्ती से कुचल दिया। बहुत से कार्यकर्त्ता गिरफ्तार कर लिये गये और पुलिस के अत्याचार मामूली बात हो गये। प्रजा मण्डल के कार्यकर्त्ताओं को रियायत देने के लिए महाराजा ने रियासत-परिषद में तीन लोकप्रिय मन्त्री शामिल करने की घोषणा की। परन्तु प्रजा मण्डल ने इसे स्वीकार न किया। वह एक ऐसी सर्वांगपूर्ण परिषद और लोकप्रिय उत्तरदायी सरकार चाहता था, जिसमें महाराजा केवल संविधानीय (प्रतीक) अध्यक्ष मात्र रहे, इससे अधिक कुछ नहीं। आन्दोलन तब समाप्त हुआ, जब 1948 में रियासत का मत्स्य-संघ में विलय हो गया।

क्रूरता की इस शृंखला में ऐसी ही दुःखजनक एक और घटना जयपुर रियासत के सीकर ठिकाने में हुई। यहां भी आन्दोलन का आधार कृषक-असन्तोष ही था। विगत युद्ध से पूर्व के वर्षों में व्यापक मन्दी आ गयी थी जिससे कृषि-पदार्थों की कीमतें बहुत नीचे गिर गयी थीं। इससे किसानों को बहुत कठिनाई हुई, विशेष रूप से इसलिए कि ठिकानेदार अपनी आमदनी में हुई कमी को किसानों से पूरा करना चाहता था। संकट के इसी अवसर पर ठिकानेदार को जमीन का लगान बढ़ाने की विचित्र युक्ति सूझी, जबकि सीमा के उस पार ब्रिटिश भारत में किसानों को लगान में रुपये में सात या आठ आने की छूट दी जा रही थी। जब सभी प्रार्थनायें और याचनायें बेकार हो गयीं, तो किसानों ने शान्तिपूर्ण आन्दोलन शुरू कर दिया। पर ठिकानेदार और उसके कर्मचारियों ने उसे सख्ती से कुचल दिया। अतिरिक्त लगान वसूल करने और जुर्माने के नाम पर धन इकट्ठा करने के समय हत्या, गोली-वार, लाठी-चार्ज, लूटपाट, तथा सम्पत्ति में आग लगाने की अनेक घटनायें हुईं। जो लोग किसानों की सहायता करते थे, उन्हें निर्वासित कर दिया जाता था; स्त्रियों से छेड़खानी की जाती थी, और पशु खोल लिये जाते थे। सीकर की घटनाओं ने केवल राजपूताना के एक कोने से दूसरे कोने तक ही नहीं, सारे देश में क्रोध की लहर फैला दी। सामान्य रूप से युक्तियुक्त समझौता केवल तभी हो सका, जब समाचारपत्रों की आलोचना और अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के दबाव के फलस्वरूप महाराजा जयपुर ने इस मामले को अपने हाथ में लिया।

राजपूताने की अन्य रियासतों में भी लगभग इसी ढंग के आन्दोलन हुए। लम्बे-चौड़े करों और राजाओं तथा जागीरदारों के निरंकुश शासन के कारण, प्रजा मण्डल

जो 1930 के बाद बने थे, 1936 के पश्चात् अधिक शक्तिशाली होने लगे। इन मण्डलों के बन जाने से आन्दोलन को एक बड़ा आधार मिल गया। इस से राजनीतिक कार्यकर्त्ता परस्पर मिल गये और नागरिक स्वतन्त्रता एवं प्रशासनिक सुधारों के लिए आन्दोलन निर्दिष्ट मार्ग पर चलने लगा। परन्तु बड़ी रियासतों की हम उन्हीं खास-खास घटनाओं का उल्लेख करेंगे, जो रियासती जनता के स्वातन्त्र्य संघर्ष का अभिन्न अंग थीं।

सबसे पहले हम जयपुर को लेते हैं। इस रियासत में राजनीतिक जागृति तब पैदा हुई, जब तत्कालीन महाराजा नाबालिग था। प्रजा मण्डल की स्थापना 1931 में हो चुकी थी; परन्तु उसका पहला नियमित अधिवेशन कहीं 1938 में जाकर जमनालाल बजाज की अध्यक्षता में हुआ। उसी वर्ष प्रजा मण्डल ने व्यक्तियों की नागरिक स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध के विरुद्ध तथा महाराजा के संरक्षण में उत्तरदायी शासन की मांग के लिए सार्वजनिक आन्दोलन छेड़ दिया। जमनालाल बजाज, जो सरकारी निषेधादेश का उल्लंघन करके रियासत में प्रविष्ट हुए थे, और हीरालाल शास्त्री तथा और भी कई नेता गिरफ़्तार कर लिये गये और नजरबन्द कर दिये गये। कुछ महीने बाद, प्रजा मण्डल के अन्य नेता भी जिनमें कपूरचन्द पाटनी, चिरंजीलाल मिश्र, हरिश्चन्द्र शर्मा, और गुलाबचन्द कासलीवाल थे, गिरफ़्तार कर लिये गये। इस समय तक आन्दोलन सम्पूर्ण रियासत में फैल चुका था।

महात्मा गांधी के सक्रिय हस्तक्षेप तथा रियासती सरकार द्वारा अपनायी गयी दमन-नीति की देशव्यापी आलोचना के फलस्वरूप जयपुर दरबार ने प्रजा मण्डल के साथ समझौता कर लिया और सत्याग्रह वापस ले लिया गया। परन्तु जागीरों में, विशेषरूप से शेखावाटी में, किसान आन्दोलन जारी रहा। अन्त में, जयपुर विधान-परिषद बनी। इसमें 81 सदस्य थे, जिनमें से अधिकांश निर्वाचित होते थे। प्रजा मण्डल ने निर्वाचन में भाग लिया और अधिकांश सीटों पर अधिकार कर लिया। 1946 में जयपुर विधान परिषद ने एक प्रस्ताव पास करके पूर्ण उत्तरदायी शासन की मांग की। सबसे पहले गैर-सरकारी मन्त्री ने 1946 में जयपुर-मन्त्रि-मण्डल के सदस्य के रूप में शपथ ग्रहण की। वह राजपूताना की किसी रियासत में इस प्रकार नियुक्त किया जाने वाला पहला व्यक्ति था। मार्च 1948 में जयपुर में अन्तरिम सरकार की स्थापना हुई, जो रियासती विधान मण्डल के प्रति पूर्ण उत्तर-दायी थी।

जोधपुर में राजनीतिक जागृति का इतिहास अधिकतर जयनारायण व्यास के

जीवनचरित्र से जुड़ा हुआ है, जो इसी रियासत के रहनेवाले थे। 1920 में उन्होंने मारवाड़ सेवा संघ की स्थापना की, जो सबसे पहला अर्ध-राजनीतिक संगठन था। उसके कुछ ही दिनों बाद, उन्होंने मारवाड़ी हितकारिणी सभा बनायी। 1928 में उन्होंने मारवाड़ लोक परिषद की स्यपना की। यही संगठन 1940 से 1945 तक जनता के हित के लिए लगातार जूझता रहा।

जयनारायण व्यास, जो महाराजा की स्वेच्छाचारिता और जागीरदारों के अत्याचार के विरुद्ध आन्दोलन के मुख्य संचालक थे, जोधपुर रियासत से निर्वासित कर दिये गये, और उन्हें अजमेर प्रान्त में जाकर ब्यावर में रहना पड़ा। वहीं से वे आन्दोलन का संचालन करते रहे। रियासती जनता के हितों की रक्षा के लिए उन्होंने कई सामयिक पत्र और समाचारपत्र स्थापित किये। 1940 में रियासती सरकार ने व्यास पर राजद्रोहपूर्ण लेख लिखने और भाषण देने का आरोप लगा कर उन्हें गिरफ्तार कर लिया। शासक के विरुद्ध षड्यन्त्र करने के अपराध में उन्हें सात वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया और एक दूरवर्ती एवं सुनसान किले में नजरबन्द कर दिया गया।

पुलिस की क्रूरता, विशेष रूप से जेलों में, जोधपुर सरकार की दमन नीति की सबसे बड़ी निकृष्टता थी। इसी क्रूरता के फलस्वरूप बालमुकुन्द बीसा की रियासती जेल में मृत्यु हुई। राजनीतिक विभाग पर दबाव के कारण तथा भारतीय समाचार-पत्रों में रियासती सरकार के कार्य की देशव्यापी आलोचना के कारण, जोधपुर सरकार कुछ ठंडी पड़ी और उसने जयनारायण व्यास तथा अन्य राजनीतिक कार्यकर्त्ताओं को छोड़ दिया। जनता की मांग को पूरा करने के लिए रियासती सरकार ने कुछ कार्रवाई करने का निश्चय किया, परन्तु केवल नगर (म्युनिसिपल) स्तर पर। लोक-निर्वाचन और लोकप्रिय प्रशासकों की नियुक्ति की व्यवस्था करके, जोधपुर म्युनिसिपल कमेटी का पुनर्गठन किया गया। व्यास की भी एक प्रशासक के रूप में नियुक्ति हुई। परन्तु सरकारी नीतियां अब भी वैसी ही अनियन्त्रित थीं, जैसी पहले। अतः कुछ ही महीनों में वे उनसे इतने खिन्न हो गये कि उन्होंने शीघ्र ही यह पद छोड़ दिया और पुनः राजनीतिक आन्दोलनकारियों में शामिल हो गये।

लोक-परिषद कार्यकर्त्ताओं की गतिविधियां केवल रियासत की राजधानी और शहरों तक ही सीमित न थीं, कुछ जागीरें भी, जहां सीरदार हठी थे और किसानों की न्यायोचित मांगों पर भी ध्यान नहीं देते थे, राजनीतिक गतिविधियों की धुरी बन गयीं। वह दमन, जिसके कारण चन्दवल और दावरा के किसानों को क्रमशः 1942 और

1947 में घोर यन्त्रणायें सहनी पड़ीं, जोधपुर रियासत के कृषक-विद्रोह के इतिहास में सदा याद रहेगा।

उदयपुर कृषक-अशान्ति से पहले ही हिल उठा था। अब उसे प्रशासन के लोक-तन्त्रीकरण और क्रमशः उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए जनता की मांग का सामना करना पड़ा। यह मांग मेवाड़ प्रजा मण्डल द्वारा की गयी, जिसकी स्थापना 1938 में हुई थी। मण्डल को तुरन्त गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। एक वर्ष बाद, जब प्रतिबन्धों में ढील हुई, तो मेवाड़ प्रजा मण्डल में एक होनहार नवयुवक, मोहनलाल सुखाड़िया, के शामिल हो जाने से, नयी स्फूर्ति पैदा हो गयी। माणिकलाल वर्मा मंडल के अध्यक्ष थे। युद्धकाल में सुषुप्ति-अवस्था में रहने के बाद, 1945 में मण्डल पुनः सक्रिय हो उठा और मेवाड़ के एकमात्र राजनीतिक संगठन के रूप में सामने आया। सांविधानिक सुधार के प्रश्न पर, मेवाड़ सरकार की ओर से काफी थकावट थी और हिचकिचाहट भी थी; परन्तु कुल मिला कर उसका रुख राजपूताना की अन्य रियासती सरकारों की अपेक्षा अधिक अनुकूल था। यदि एक ओर इसका श्रेय वर्मा और सुखाडिया के नेतृत्व में प्रजामण्डल द्वारा जन-संगठन के निरन्तर निरीक्षण को दिया जाय, तो दूसरी ओर उतनी ही सचाई से यह भी कहा जा सकता है कि जनता की मांग के प्रति महाराणा का रुख आदि से अन्त तक, यदि सहानुभूति का नहीं तो, कम से कम विनम्रता का अवश्य रहा। दहलाने वाले अत्याचार और अन्याय अब पुराने जमाने की चीजें बन गये थे—1945 से पूर्व के युग की।

बीकानेर में प्रजामण्डल कुछ विलम्ब से–1942 में–स्थापित हुआ। परन्तु रियासत में राजनीतिक आन्दोलन 10 वर्ष पहले ही सिर उठाने लगा था। 1932 में ही रियासती सरकार ने रियासती दण्डविधान की आपात व्यवस्थाओं के अधीन राजनीतिक कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया था, जिनमें खूबराम सराफ, सत्य नारायण सराफ, स्वामी गोपालदास, चन्दनमल, बदरीप्रसाद, प्यारेलाल और सोहनलाल भी थे। ये लोग राजाओं के उस रुख की आलोचना कर रहे थे, जो उन्होंने गोलमेज सम्मेलन में अपनाया था। लन्दन से लौटने पर महाराजा ने देखा कि वह अपनी प्रजा को ऐसी आलोचना की छूट कभी नहीं दे सकता। इन नेताओं ने रियासती जनता के उस मामले का भी सार्वजनिक रूप से समर्थन किया था, जिसे अ० भा० रियासती प्रजा परिषद द्वारा लन्दन भेजे गये शिष्ट मण्डल ने ब्रिटिश जनता के सामने रखा था। परन्तु बीकानेर रियासत की दमन नीति ने आन्दोलन को रोकने के बजाय, उसे सम्पूर्ण राजपूताना का चिन्तन विषय बना दिया।

यह देख कर कि स्थिति बिगड़ती जा रही है और रियासती सरकार जनमत का गला घोंटनेवाली नीति पर तुली हुई है, जयनारायण व्यास 1933 के आरम्भ में बीकानेर गये। उस समय वे अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के प्रधान मन्त्री थे और अपने कारावास की अवधि पूरी होने पर हाल ही में अजमेर जेल से छूट कर आये थे। बीकानेर में उन्होंने कई सार्वजनिक सभाओं में भाषण दिये और रियासती जनता की ओर से एक ज्ञापन कांग्रेस और रियासती प्रजा परिषद के पास भेजा।

राजनीतिक आन्दोलन से समर्थित सांविधानिक प्रगति की मांग ने झालावाड़ कोटा और बूंदी की हाड़ौती रियासतों को भी अछूता न छोड़ा। 1940 से आरम्भ होनेवाले दशक के शुरू में उदयपुर के आन्दोलन ने इन रियासतों के राजनीतिक वातावरण को प्रभावित कर दिया था। सार्वजनिक कार्यकर्ताओं ने भील गांवों में उनके प्रवेश पर लगाये गये प्रतिबन्ध का विरोध किया। यहां के भोलेभाले किसानों से उनका सम्पर्क अभीष्ट नहीं समझा जाता था। परन्तु इस प्रकार का निषेधादेश स्वयं सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं के विरोध के लिए पर्याप्त कारण था। इन तीनों रियासतों के प्रजा मण्डलों ने रियासती अधिकारियों की चेतावनी का मुकाबिला करने का निश्चय किया। सरकारी प्रतिबन्ध और पुलिस अत्याचारों की परवाह न करते हुए उन्होंने भील-क्षेत्रों में प्रवेश किया। राजपूताने के इस पिछड़े और जंगलों से घिरे हुए इलाके में जागृति का यह आरम्भ था। जन-आन्दोलन के नेताओं में ब्रजसुन्दर शर्मा, गोपाल लाल कोटिया, नित्यानन्द नागर, ऋषिदत्त मेहता, इन्द्रदत्त "स्वाधीन", रमेश सोनी, कुन्दनलाल चोपड़ा, प्रभुलाल विजय और श्रीमती मेहता थे। उन्होंने अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के सन्देश को और उत्तरदायी शासन की मांग को हाड़ौती रियासतों के कोने-कोने में पहुंचा दिया।

हैदराबाद

निजाम सरकार की नीति ने उसकी हिन्दू और मुसलिम प्रजा में भेद पैदा कर दिया था। हिन्दुओं की संख्या अधिक थी और मुसलमानों की कम। प्रत्यक्ष रूप से हिन्दुओं के प्रति वैरभाव दिखाये बिना अथवा हिन्दू-विरोधी उपाय अपनाये बिना, हैदराबाद सरकार अपनी इच्छा पूरी कर रही थी। ऐसा करने के लिए उसने दो स्पष्ट नीतियों का आश्रय लिया था। एक नीति के अनुसार, उर्दू रियासत की भाषा घोषित की गयी थी, और सब स्तरों पर सारा सरकारी काम उसी में

होता था। दूसरी के अनुसार, अधिकांश[1] छोटे-बड़े सरकारी पदों पर मुसलमानों को नियुक्त किया जाता था। इस प्रकार निजाम एक ऐसा मुसलिम शासन स्थापित करने में सफल हो गया जिसकी उसके प्रति तथा उसकी रियासत के प्रति राज-भक्ति केवल सामान्य मजहब पर ही आधारित न थी, बल्कि स्वार्थ की सुदृढ़ आधार-शिला पर टिकी हुई थी। रियासत की ऐसी स्वेच्छाचारी शासन-व्यवस्था से मुसलमानों को लाभ पहुंचता था; अतः वे स्वभावतः उसमें किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप का विरोध करते थे।

यदि बात इतनी ही होती, तो शायद जनता का बहुमत हैदराबाद सरकार के विरुद्ध लोहा न लेता। निजाम बहुत आगे बढ़ गया था। उसकी सरकार सब प्रकार की राजनीतिक गतिविधियों को राजद्रोहात्मक समझती थी। शिक्षा में निजी व्यवसाय लगभग निषिद्ध था। सब प्रकार का सार्वजनिक क्रिया-कलाप सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। साहित्यिक गतिविधि भी राजनीतिक समझ ली जाती थी। सामाजिक, सांस्कृतिक या धार्मिक आदि किसी भी प्रकार के उत्सव के लिए अनुमति लेनी पड़ती थी, राजनीतिक समारोहों का तो कहना ही क्या ? "जनता के जीवन के समस्त सूत्रों पर मुसलिम अल्पतन्त्र का नियन्त्रण था। परतु मुसलमान शस्त्र धारण कर सकते थे और बेरोकटोक प्रयोग कर सकते थे। कानूनों का प्रयोग हिंदुओं के विरुद्ध होता था; मुसलमान कृपापात्र समझे जाते थे।"[2]

भेदभाव की इसी नीति के कारण तथा रियासत में नागरिक स्वतन्त्रता के पूर्ण अभाव के कारण, जनता भारत की इस सबसे बड़ी रियासत की सरकार के खिलाफ उठ खड़ी हुई। निजाम ने जिसे अपनी तोप समझ रखा था, वही उसकी सबसे बड़ी कमजोरी सिद्ध हुई। उसका विश्वास था कि रियासत की हिन्दू-जनसंख्या को विभाजित कर देने से लोग अपनी भावना को व्यक्त करने के लिए सम्मिलित प्रयत्न न कर सकेंगे। अतः हैदराबाद की जनता को तीन स्पष्ट भाषायी समूहों में विभाजित कर दिया गया था—मराठवाड़ा में रहने वाली मराठीभाषी जनता; तेलंगाना में रहने-वाली तेलुगुभाषी जनता; तथा कर्णाटक में रहने वाली कन्नडभाषी जनता। सरकार की भेदभावपूर्ण नीति के कारण हिन्दुओं में जो उदासी की भावना छायी हुई थी, उसने

---

[1]के० एम० मुंशी के अनुसार, 75 प्रतिशत सामान्य प्रशासनिक पदों पर और 95 प्रतिशत पुलिस एवं सैनिक पदों पर मुसलमान नियुक्त थे।—"दी ऐंड आफ एन ईरा"—पृ 17

[2]"मेमोयर्स आफ हैदराबाद फ्रीडम स्ट्रगल"—स्वामी रामानंद तीर्थ—पृ० 65

भाषायी भेदों को समाप्त कर दिया। उन्होंने तीनों भाषायी क्षेत्रों में अलग-अलग अपने आपको गैर-राजनीतिक संगठनों में संगठित करना शुरू कर दिया। सबसे पहले तेलंगाना के समस्त लोगों ने, सामाजिक एवं साहित्यिक स्वरूप के मामूली से कार्यक्रम को लेकर, आन्ध्र महासभा स्थापित की, जिसे रियासत ने किसी प्रकार सहन कर लिया। इसके बाद कर्णाटक की जनता ने कर्णाटक सम्मेलन का गठन किया, जो स्वरूपतः गैर-राजनीतिक था। अन्त में मराठवाडा की जनता ने प्रत्यक्षतः मराठीभाषी जनता में साक्षरता के प्रोत्साहन एवं शिक्षा-कार्य के उद्देश्य से महाराष्ट्र परिषद की स्थापना की।

ये तीनों संगठन 1936-37 में स्थापित हुए और अधिकतर शिक्षा के क्षेत्र में काम करते रहे। परन्तु कभी-कभी लोगों में परस्पर विचार-विनिमय से तथा अधिकारियों के आम भय से इनकी बैठकों में कार्रवाई का रूप बदल जाता था। अतः इसमें आश्चर्य नहीं कि सरकार शीघ्र ही इन संस्थाओं की गतिविधियों से शंकित हो गयी। परन्तु उन पर हाथ उठाना इसलिए कठिन था क्योंकि वे वास्तव में गैर-राजनीतिक थीं। धीरे-धीरे इन संगठनों के अधिवेशनों ने, जिनके उद्देश्य लगभग समान थे, एकीकरण के लिए रास्ता साफ कर दिया और राजनीतिक आन्दोलन के बीज बो दिये।

1937 और 1938 में महाराष्ट्र परिषद के वार्षिक अधिवेशनों में नागरिक स्वतन्त्रता के विचार पर अधिक बल दिया गया। कुछ ही महीने पहले हैदराबाद शहर में साम्प्रदायिक दंगे हो चुके थे। सम्मेलन ने इन दंगों की खुली जांच की मांग की। 1938 के सम्मेलन ने, जो उस्मानाबाद जिले में लातूर में हुआ, जनता की मनोवृत्ति का स्पष्ट परिचय दिया। मराठवाडा के प्रमुख नेताओं, डी० जी० बिन्दु, रामानन्द तीर्थ, गोविन्दराव नानल आदि ने सम्मेलन में सक्रिय भाग लिया। इन लोगों ने सम्मेलन में देशभक्ति का जोश ही नहीं भरा, अपितु उसे हैदराबाद में रियासती जनता के संघर्ष के भावी नेतृत्व के लिए एक शक्तिशाली साधन के रूप में बदल दिया।

उसी वर्ष हैदराबाद रियासत के सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं ने एक अस्थायी समिति बनायी, जिसे हैदराबाद रियासती कांग्रेस के लिए, जिसकी स्थापना शीघ्र ही होनेवाली थी, सदस्य बनाने का काम सौंपा गया। ज्यों ही रियासती सरकार को इसका पता लगा, उसने तुरन्त उसे गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया। इस उद्धृत अधिसूचना

का एक मात्र समुचित उत्तर, जो जनता द्वारा दिया जा सकता था, वस्तुतः हैदराबाद रियासती कांग्रेस बनाना और सत्याग्रह के लिए तैयार होना था। कुछ ही दिनों में वे लोग, जो कांग्रेस में शामिल हुए या जो उसके उद्देश्यों से सहानुभूति रखते थे, सत्याग्रह की तैयारी करने लगे। कांग्रेसियों के पहले दल ने 24 अक्टूबर 1938 को सत्याग्रह किया।

ये हलचलें मराठवाडा तक ही सीमित न रह सकीं। वे कर्णाटक और तेलंगाना में भी फैल गयीं। अब अस्थायी समिति भंग कर दी गयी और उसके स्थान पर रियासती कांग्रेस संगठन बन गया। पहली कार्यसमिति में सभी क्षेत्रों के कार्यकर्त्ता लिये गये। गोविन्दराव नानल इसके अध्यक्ष थे, रामकृष्ण धूत मन्त्री, और जनार्दनराव देसाई, रविनारायण रेड्डी, श्रीनिवासराव वोरीकर सदस्य। इस प्रकार रियासत में नागरिक स्वतन्त्रता और उत्तरदायी शासन के लिए संघर्ष के आदर्श ने विभिन्न भाषायी समूहों को एक मंच पर लाकर इकट्ठा कर दिया।

हैदराबाद सरकार को समझाने तथा सांविधानिक शासन की एक छोटी सी मांग मनवाने के सब प्रयत्न विफल हो जाने के बाद, कांग्रेस के सामने अब इसके सिवा कोई चारा न था कि वह सत्याग्रह आरम्भ करने की बात सोचे। "अब तक स्वामी रामानन्द ख्याति प्राप्त कर चुके थे। वे विशिष्ट योग्यता, निर्मल सत्यनिष्ठा और पवित्र विचारधारा के नेता थे।" सत्याग्रह आरम्भ करने से पहले, उन्होंने हैदराबाद रियासती कांग्रेस के प्रथम निदेशक की हैसियत से नगर पुलिस आयुक्त, नवाब रहमत यार जंग बहादुर, को यह पत्र लिखा :—

"प्रिय प्रियात्मा,

मैं हैदराबाद रियासती कांग्रेस की कार्यसमिति द्वारा उसका प्रथम निदेशक मनोनीत किया गया हूं, और मुझे कार्यसमिति के सब अधिकार दिये गये हैं।

मैं आज सायं ३ बजे के बाद, पुतली बावड़ी स्टेशन के समीप, अपने चार संगठन-मन्त्रियों के साथ, रियासती कांग्रेस का कार्य आरम्भ करना चाहता हूं। मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप कृपया इस पर ध्यान दें और आवश्यक कदम उठायें।

ससम्मान,

(शब्दों में)

(ह०) स्वामी रामानन्द तीर्थ"[1]

---

[1]"हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेंट इन कर्णाटक"—जी० एस० हलप्पा—पृ० 493

संगठन मन्त्री :—

(1) वेंकटेश जोशी

(2) एस० राघवेन्द्र

(3) राजा रेड्डी

(4) अप्पा राव

अगले महीने एक और सत्याग्रह का प्रादुर्भाव हुआ। यह औरंगाबाद में हिन्दू नागरिक स्वतन्त्रता संघ द्वारा आरम्भ किया गया। देशभर के समस्त आर्य समाजी संगठनों ने संघ का समर्थन किया। इस द्विविध सत्याग्रह से कुछ भ्रान्ति पैदा हो गयी। हिन्दू नागरिक स्वतन्त्रता संघ तो पूर्णतया हिन्दुओं की संस्था थी और इसलिए साम्प्रदायिक कहा जा सकता था; परन्तु कांग्रेस, जिसके अधिकांश कार्यकर्त्ता असन्दिग्ध रूप से हिन्दू थे, उस अर्थ में साम्प्रदायिक संस्था न थी। उसमें कुछ प्रमुख मुसलिम भी थे। उदाहरणार्थ, कांग्रेस का एक प्रमुख सत्याग्रही सिराजुल हसन तिरमिजी था।

जब दोनों संस्थाओं के बीसियों सत्याग्रही गिरफ्तार हो चुके तो महात्मा गांधी के संकेत पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने हैदराबाद रियासती कांग्रेस को अपना सत्याग्रह रोक देने की सलाह दी। कांग्रेस ने हैदराबाद सत्याग्रह को पूर्ण समर्थन प्रदान किया और सितम्बर 1938 में दिल्ली में हुई अ० भा० कांग्रेस समिति की बैठक में इस आशय का एक प्रस्ताव भी पास किया। परन्तु उसने सत्याग्रह रोकने का आग्रह इस डर से किया कि कहीं वह आर्यसमाजियों द्वारा आरम्भ किये गये सत्याग्रह में न मिल जाय। अपनी इच्छा के विरुद्ध और युवकवर्ग के विरोध के बावजूद हैदराबाद रियासती कांग्रेस के नेता गांधी जी की सलाह के सामने झुक गये और उन्होंने सत्याग्रह रोक दिया।

बावजूद इस बात के कि सत्याग्रह रोक दिया गया, हैदराबाद सरकार ने रियासती कांग्रेस पर से प्रतिबन्ध हटाने से इन्कार कर दिया। उसकी मुख्य आपत्ति यह थी कि कांग्रेस एक गैर-मुल्की संगठन है, और स्थानीय कांग्रेस एक बाहरी संस्था से प्रेरणा प्राप्त किया करेगी। यद्यपि यह तर्क जितना बेहूदा था उतना ही हास्यास्पद भी था, फिर भी, रियासती कांग्रेस, गांधी जी की राय से, अपने संगठन का दूसरा नाम रखने

के लिए राजी हो गयी। फलतः उसका नाम बदल कर हैदराबाद राष्ट्रीय परिषद रखा गया।[1]

रियासती कांग्रेस के इस अनुरंजनकारी कदम का भी निजाम सरकार पर कोई प्रभाव न पड़ा। कांग्रेस पर से प्रतिबन्ध हटाने के बजाय रियासती सरकार का रुख और सख़्त हो गया तथा जेल में सत्याग्रहियों के साथ और भी बुरा व्यवहार होने लगा। ऐसे कई उदाहरण थे, जिनमें नवयुवक सत्याग्रहियों को कोड़े मारे गये और घोर यातनायें दी गयीं। जब तक रियासती कांग्रेस ने अपना सत्याग्रह बन्द किया तब तक 400 व्यक्ति गिरफ़्तार किये जा चुके थे।

परन्तु गांधी जी टस से मस नहीं होना चाहते थे। वे बातचीत के पक्ष में थे। वे हैदराबाद के प्रधान मन्त्री, सर अकबर हैदरी पर बहुत विश्वास करते थे। इसी बातचीत के दौरान संगठन का नाम बदला गया। बातचीत काफी लम्बी चली, परन्तु कोई फल न निकला। इसी बीच रियासती कांग्रेस के नेता रोके नहीं रोके जा रहे थे। उन्होंने बार बार गांधी जी से पुनः सत्याग्रह आरम्भ करने के लिए अनुमति देने की प्रार्थना की; परन्तु गांधी जी शिला की भांति अविचल थे। अन्त में, जैसे

---

[1]इस पर गाँधी जी के विचार, जो 13-1-1940 के 'हरिजन' में प्रकाशित हुए, पढ़ने लायक हैं। एक सम्पादकीय टिप्पणी में, जिसका शीर्षक था "एक बुद्धिमत्तापूर्ण कदम", उन्होंने लिखा :—

"हैदराबाद रियासती कांग्रेस को काम करने में काफी कठिनाई हुई है। यद्यपि उसका भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस से कोई सम्बन्ध नहीं है, फिर भी रियासत सांविधानिक संस्था के रूप में उसे तब तक मान्यता नहीं देगी, जब तक वह अपने को कांग्रेस कहती रहेगी। शब्द किसी का एकाधिकार नहीं है। यह एक सामान्य शब्द है, जिसका प्रयोग संसार में अनेक संस्थाओं द्वारा किया जाता है। परन्तु किसी प्रकार राष्ट्रीय कांग्रेस अनेक रियासतों में अभिशाप बन गयी है। इसीलिए हैदराबाद में स्वयं शब्द ही सन्देह का विषय बन गया है। नेताओं ने यह मामला मेरे विचारार्थ भेजा था। मैंने बिना किसी हिचकिचाहट के उन्हें सलाह दी कि यदि ऐसा करने से उनकी वैध गतिविधियों में कोई हस्तक्षेप नहीं किया जाता, तो केवल नाम के लिए लड़ने से कोई लाभ नहीं। नेताओं ने, अधिकारियों के साथ पत्रव्यवहार करने के बाद, मेरी सलाह के अनुसार काम किया है और हैदराबाद राष्ट्रीय परिषद नाम रख लिया है। अन्त भला सो भला।"

ही स्थिति बदली और पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए रियासती कांग्रेस की मांग अधिक बलवती हुई, वैसे ही रियासत के अधिकारियों ने अधिकाधिक दमन का सहारा लेना शुरू कर दिया। हैदराबाद में तथा सामान्य रूप से समस्त भारत में स्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ गांधी जी का रुख भी बदला और उन्होंने 1942 में रियासती कांग्रेस को पुनः सत्याग्रह आरम्भ करने की अनुमति दे दी। दूसरा सत्याग्रह आरम्भ करने से पहले स्वामी रामानन्द तीर्थ ने निजाम को एक लम्बा पत्र लिखा। इस पत्र में तीन मांगें पेश की गयीं, जो इस प्रकार थीं :—

(1) हैदराबाद में निजाम के संरक्षण में पूर्ण उत्तरदायी शासन की तत्काल स्थापना तथा यह घोषणा कि वह स्वतन्त्र भारत के संघ में एक एकक के रूप में शामिल होने के लिए तैयार है।

(2) पूर्ण नागरिक स्वतन्त्रता की तत्काल स्वीकृति तथा रियासती कांग्रेस से प्रतिबन्ध हटाना।

(3) समस्त राजनीतिक बन्दियों की रिहाई।[1]

जहां इतने अनुयोग विफल हो गये, वहां इस पत्र से भी यह आशा कैसे की जा सकती थी कि यह कोई अन्तर पैदा कर देगा। इसका निजाम और उसकी सरकार पर कोई प्रभाव न पड़ा। निदान पुनः सत्याग्रह शुरू किया गया। सबसे पहले गिरफ़्तार होने वालों में डा० जी० एस० मेलकोटे, एच० सी० हेडा, रामकृष्ण धूत, रामानन्द तीर्थ तथा अन्य कई प्रमुख कांग्रेसी नेता थे। जिस समय हैदराबाद में आन्दोलन पूरी तेजी पर था, उसी समय गांधी जी का "भारत छोड़ो" आन्दोलन शुरू हो गया।

राजनीतिक घटनाओं से देश में जो तीव्र उत्तेजना पैदा हुई, उसने देसी रियासतों और कांग्रेस को और भी पास ला दिया। बम्बई में, अगस्त 1942 में, महात्मा गांधी तथा अन्य नेताओं की गिरफ़्तारी से ठीक पहले, अ० भा० कांग्रेस समिति और अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की बैठकें साथ-साथ हुईं—यह तथ्य उपर्युक्त निष्कर्ष की भली-भांति पुष्टि करता है।

हैदराबाद में सत्याग्रह चलता रहा। निजाम ने कुछ सांविधानिक सुधार आरम्भ करने का निश्चय किया। परन्तु ये सुधार स्वरूप से और लोकतन्त्रीय तत्व की मात्रा की दृष्टि से 1919 के मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधारों की अपेक्षा भी कहीं अधिक गये-बीते थे। हैदराबाद कांग्रेस से उन्हें स्वीकार करने के लिए कहा गया, परन्तु वह तो उन्हें

---

[1]वही—पृ० 131

छूने के लिए भी तैयार न थी। वह आशाओं और उमंगों से भरी हुई थी और प्रस्ताव को ठुकराने के उसके पास पर्याप्त कारण थे। स्वामी रामानन्द तीर्थ ने जनता की उस समय की मनोवृत्ति का सुन्दर चित्रण किया है। वे लिखते हैं :—

"हैदराबाद में स्वतन्त्रता आन्दोलन की मुख्य विशेषता यह रही है कि युवक कार्यकर्त्ताओं का विशाल समूह, जो इस आन्दोलन में कूदा और उसे सफलता की ओर ले गया, केवल निरंकुश शासन से मुक्ति के ही स्वप्न नहीं देखा करता था, अपितु निहित स्वार्थों द्वारा जनसमूह के शोषण से, विशेष रूप से जमींदारों द्वारा तेलंगाना के किसानों के शोषण से, मुक्ति के भी स्वप्न देखता था।"[1]

1945 के अन्त में, जब बादल हटे और आसमान साफ हुआ, तो हैदराबाद कांग्रेस से प्रतिबन्ध हटाये जाने की बात सुनायी पड़ने लगी। भारत में घटनायें इतनी तेजी से आगे बढ़ने लगीं कि उन्होंने रियासती भारत के सम्पूर्ण भविष्य को खटाई में डाल दिया। रियासती जनता की मनोवृत्ति बदल चुकी थी; और अ० भा० कांग्रेस समिति तथा अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के प्रस्तावों का भाव और स्वर भी बदल गया था। जून 1946 में अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की जनरल कौंसिल[2] ने अपनी बैठक में जो प्रस्ताव पास किया, वह इस प्रकार था :—

"जनरल कौंसिल को यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ है कि हैदराबाद रियासत में रियासती कांग्रेस पर अब भी प्रतिबन्ध लगा हुआ है। जब कि सारा भारत स्वतन्त्रता के कगार पर खड़ा है और लगभग सभी ने यह मान लिया है कि रियासतों में उत्तरदायी शासन होना चाहिए, तब शान्तिपूर्ण और वैध राजनीतिक गतिविधियों के मार्ग में इस प्रकार का प्रतिबन्ध लगाना हैदराबाद के रियासती प्रशासन के निम्नतम पिछड़ेपन को जाहिर करता है। कौंसिल ने इस बात पर ध्यान दिया है कि इस पिछड़े और सामन्ती प्रशासन की ओर से स्वतन्त्रता का दावा किया गया है। भारत की किसी भी रियासत की ओर से ऐसा दावा काल्पनिक है और देश की मौजूदा स्थिति से पूर्णतया असंगत है। यह दावा उस हैदराबाद नेपेश किया है, जहां लोगों की कोई आवाजनहीं है—निश्चय ही, यह सामन्ती प्रशासन को बरकरार रखने के लिए एक बेहूदा प्रयास है। कौंसिल ऐसे दावों को सहन नहीं कर सकती; और न यह किसी रियासत में

[1]वही—पृ० 150

[2]जनरल कौंसिल की इस बैठक की अध्यक्षता जवाहरलाल नेहरू ने की थी।

मामूली नागरिक स्वतन्त्रता के निषेध को ही सहन करने के लिए तैयार है। कौंसिल की राय में यह सोचना मूर्खता है कि हैदराबाद रियासत लोकतन्त्रीय स्वतन्त्र भारत के अन्दर एक पिछड़े, स्वेच्छाचारी और सामन्ती द्वीप के रूप में रह सकती है। जो रियासत आरंभिक नागरिक स्वतन्त्रता भी स्वीकार नहीं करती, वह भविष्य के बारे में किसी भी विचार-विमर्श में भाग लेने के योग्य नहीं है। भारत का भविष्य निर्धारित करने वाली सभाओं में विचार-विमर्श की अधिकारिणी बनने से पहले हैदराबाद रियासत को अपने रवैये में आमूलचूड परिवर्तन करना होगा।

यदि रियासती कांग्रेस पर प्रतिबन्ध जारी रहता है और अन्य नागरिक अधिकार निषिद्ध रहते हैं, तो उस स्थिति में रियासती कांग्रेस को अधिकार होगा कि वह प्रतिबन्ध के बावजूद अपना काम करती रहे और पूर्ण नागरिक स्वतन्त्रता प्राप्त करने का प्रयत्न करे।"

नयी सुधार योजना, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है, ठीक उसी समय प्रकाशित की गयी, जिस समय रियासती कांग्रेस से प्रतिबन्ध हटाया गया। यह योजना हैदराबाद सरकार ने एक संविधान परामर्शदात्री समिति द्वारा तैयार करायी थी, जिसके अध्यक्ष अय्यंगार थे। यह योजना इतनी गयी-बीती और प्रतिगामिनी थी कि स्वागत की अपेक्षा इसका उपहास अधिक हुआ। इसमें एक ऐसे विधान मण्डल की व्यवस्था थी, जिसका निर्वाचन कार्यसम्बन्धी मताधिकार के आधार पर होता। कार्यरूप में इसका अर्थ था मुसलिम अल्पमत को इतना अधिक मतभार देना, जिससे वह बहुमत में परिवर्तित हो जाय। इस सुधार-योजना तक का रियासत के कुछ घोर विरोधी तत्त्वों ने, विशेष रूप से इत्तिहादुल-मुसलमीन ने, विरोध किया। कांग्रेस द्वारा दूर से ही इस योजना के ठुकरा दिये जाने से हैदराबाद के सरकारी क्षेत्र में उसके इतने शत्रु हो गये, जितने पहले कभी नहीं थे। इस सुधार योजना के अनुसार जो निर्वाचन हुआ, कांग्रेस ने स्वभावतः उसका बहिष्कार किया।

अगस्त 1947 में, जब भारतवासियों के हाथ में सत्ता आयी और देश का विभाजन हुआ, तो हैदराबाद एक गर्म कड़ाह की भांति उबाल खा रहा था। अधिकांश लोग हैदराबाद के भविष्य के बारे में उत्तेजित हो उठे थे। तेलंगाना क्षेत्र में असन्तोष की लहर दौड़ गयी थी, और वहां साम्यवादी लोग जमींदारों का प्रतिरोध करने के लिए संगठित हो रहे थे। रियासती कांग्रेस हैदराबाद के भारतीय संघ में शामिल होने के पक्ष में लोकमत तैयार करने में व्यस्त थी। इस सम्बन्ध में, उसने एक संगठन बनाया

था, जिसका मुख्यालय बम्बई में था। यह महत्त्वपूर्ण है कि जयप्रकाश नारायण ने हैदराबाद-संघर्ष से केवल सम्पर्क ही स्थापित नहीं किया, अपितु उसके संगठन के लिए धन एकत्र करके उसकी सक्रिय सहायता भी की। 7 अगस्त 1947 को हैदराबाद रियासती कांग्रेस ने रियासत भर में "भारतीय संघमें मिलो दिवस" मनाया। इस अवसर पर हैदराबाद रियासत के विभिन्न जिलों में 1000 से अधिक कांग्रेसी पकड़े गये।

जिन लोगों ने स्वतन्त्रता के लिए विशेष बलिदान किये, उनमें काशीनाथ वैद्य, वी० एस० देसाई, शेख मोहीउद्दीन और तारानाथ मुख्य थे।

भारत में अधिमिलन के प्रति निजाम के विरोध एवं रियासत में आन्तरिक घटनाओं की शेष कहानी एक दूसरे अध्याय "तीन भटकी रियासतें" का भाग है।

कश्मीर

जम्मू और कश्मीर रियासत में स्वतन्त्रता और प्रशासन के लोकतन्त्रीकरण के लिए संघर्ष 1930-31 में आरम्भ हुआ। इसका मुख्य कारण रियासत के मुसलिम-जनसमूह में व्यापक असन्तोष था। हैदराबाद के हिन्दुओं की भांति उनका भी प्रतिनिधित्व रियासत की नौकरियों में तथा आमतौर से रियासत के आर्थिक एवं औद्योगिक जीवन में बहुत अपर्याप्त था। मुसलिमों की संख्या जम्मू एवं कश्मीर की कुल जनसंख्या का 78 प्रतिशत थी और कश्मीर घाटी में लगभग 49 प्रतिशत थी। फिर भी, एक वर्ग के रूप में वे सच्चे अर्थों में अकिंचन थे।

अधिकांश मुसलिम किसान, मजदूर और कारीगर थे—ये ऐसे वर्ग थे, जो समाज के धनी वर्गों के, जिनमें अधिकतर गैर-मुसलिम थे, शोषण के उत्तम लक्ष्य बन जाते थे।

अनेक वर्षों तक मुसलिम आधुनिक शिक्षा प्रणाली से कटे-कटे रहे। ऐसा मालूम पड़ता था मानो रियासत के स्कूल और कालेज अधिकतर हिन्दुओं तथा अन्य गैर-मुसलिम सम्प्रदायों के लाभ के लिए चलाये जा रहे हों। जो मुसलिम किसी प्रकार इन संस्थाओं से पास होकर निकलते थे वे उपयुक्त नौकरी पाने में असमर्थ रहते थे।

इस प्रकार कृषक-असन्तोष और रोजगार के अवसरों की कमी मुसलिम जनसमूह के लिए जम्मू और कश्मीर में डोगरा राज्य के विरुद्ध आन्दोलन के मुख्य प्रेरणा-स्रोत थे। धीरे-धीरे जैसे ही मुसलिमों में असन्तोष फैला, उन्होंने अपनी भावनाओं को व्यक्त करना और नौकरियों में अधिक हिस्से की मांग करना शुरू कर दिया। पहली गोली तब दगी जब मुसलिमों के एक शिष्टमण्डल ने वाइसराय लार्ड रीडिंग

को, 1924 में, उनके श्रीनगर आने पर, एक ज्ञापन दिया। ज्ञापन में जो मांगें पेश की गयी थीं, वे इस प्रकार थीं—किसानों को भूमि पर स्वामित्व का अधिकार दिया जाय; मुसलमानों को अधिक संख्या में रियासत की सेवाओं में नियुक्त किया जाय; रियासत में मुसलमानों की शिक्षा की दशा सुधारने के उपाय किये जायें; बेगार की प्रथा समाप्त की जाय; सहकारी विभाग का काम बढ़ाया जाय; और मुसलमानों की तमाम मसजिदें, जो सरकारी कब्जे में हैं, छोड़ दी जायें तथा मुसलमानों को दे दी जायें।[1] रियासती सरकार ने अधिकारियों की एक समिति से ज्ञापन की जांच करायी, जिसने बताया कि उसमें कोई तत्त्व नहीं है। अतः उस ज्ञापन से मुसलमानों को कोई लाभ न हुआ। परन्तु अपनी मांगों को संगठित ढंग से पेश करने के लिए उनके आन्दोलन को उसने जरूर तेज कर दिया।

मांगें पेश करने और सरकार द्वारा उन पर बेमन विचार करने का क्रम कुछ सालों तक चला। परन्तु फल कुछ न निकला। 1930 में कुछ मुसलिम स्नातकों ने मुसलिम जनसमूह की समस्याओं पर विचार करने के लिए वाचनालय दल (रीडिंग रूम पार्टी) नामक एक नया संगठन बनाया। उन स्नातकों में शेख मोहम्मद अब्दुल्ला भी था। वाचनालय दल ने बैठकें करनी शुरू कर दीं, जिनमें रियासती जनता की कठिनाइयों और कष्टपूर्ण हालतों पर प्रकाश डालने वाले भाषण दिये जाने लगे। रियासती सरकार ने प्रत्यक्ष रूप से इस युवक-समूह के प्रति गंभीर रुख नहीं अपनाया और उन्हें सरकारी नौकरियां देकर सन्तुष्ट करने की बात सोची। परन्तु इसमें उसे अधिक सफलता न मिली। अब्दुल्ला को अध्यापक नियुक्त किया गया। उसने कुछ ही महीने बाद नौकरी छोड़ दी और अपने कुछ मित्रों के सहयोग से मुसलिम कान्फ्रेंस की स्थापना की, जिसका वह स्वयं ही अध्यक्ष बना।

अब इस आन्दोलन की प्रतिध्वनि ब्रिटिश भारत में भी, विशेष रूप से मुसलिम बहुमतवाले निकटवर्ती पंजाब प्रान्त में, सुनायी पड़ने लगी। लाहौर में सर मोहम्मद इकबाल ने, जो एक कश्मीरी था, कश्मीरियों का पक्ष लिया और कश्मीर के मुसलिम जनसमूह की, उसके संघर्ष में सहायता करने के लिए, कश्मीर समिति गठित की।

इस प्रकार शेख मोहम्मद अब्दुल्ला ने अपना राजनीतिक जीवन मुसलिम-हित-रक्षक के रूप में शुरू किया। परन्तु केवल इसी कारण से, कोई भी बुद्धिमान् व्यक्ति

---

[1]प्रेमनाथ बजाज—"हिस्ट्री आफ स्ट्रग्ल फार फ्रीडम इन कश्मीर"—पृ० 134

उसे 'सम्प्रदायवादी' की संज्ञा न देगा। यदि कश्मीर की अधिकांश जनता मुसलिम थी और यदि वही डोगरा राज्य का मुख्य शिकार बनी हुई थी, तो उसे कैसे दोष दिया जा सकता है। शेख अब्दुल्ला के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि केवल मुसलिम कान्फ्रेंस की स्थापना के बाद उसे पता लगा कि असली लड़ाई दो धार्मिक सम्प्रदायों की नहीं, अपितु धनी और निर्धन, उत्पीडक और उत्पीडित की है। आरम्भ से ही वह मुसलिम कान्फ्रेंस का दायरा बढ़ाने के पक्ष में अपने विचार प्रकट करने लगा। 1935 में उसने कश्मीर के सभी सम्प्रदायों के लोगों से अपील की कि वे "तुच्छ साम्प्रदायिक संघर्षों से ऊपर उठें और जनसाधारण के कल्याण के लिए मिल कर काम करें।" उसने यह भी घोषणा की कि "मेरी लड़ाई देश की स्वतन्त्रता के लिए है।"

शेख अब्दुल्ला के राष्ट्रीय दृष्टिकोण और समस्त रियासत की स्वतन्त्रता के लिए उसकी लड़ाई ने उसे लोकप्रिय बना दिया। ज्यों-ज्यों उसकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता बढ़ी, त्यों-त्यों मुसलिम कान्फ्रेंस की भी बढ़ी। मुसलिम कान्फ्रेंस यद्यपि नाम से एक साम्प्रदायिक संस्था थी, परन्तु उसे देश की मुक्ति और जनता के मौलिक अधिकारों के लिए लड़ने वाली किसी भी राष्ट्रीय संस्था की श्रेणी में रखा जा सकता था। मुसलिम कान्फ्रेंस ने आन्दोलन का रुख अपनाया था। उसकी गतिविधियों के फलस्वरूप काफी उत्तेजना और तनाव की सृष्टि हुई, जिससे जून 1931 में साम्प्रदायिक उपद्रव हुए। आक्रमण का मुख्य लक्ष्य हिन्दू सम्प्रदाय था, अतः उसी को भारी कष्ट सहना पड़ा। रियासती सरकार ने 300 आदमी गिरफ्तार किये, जिनमें अब्दुल्ला भी था। कश्मीर में राजनीतिक जागृति का यह पहला उफान कहा जा सकता है, यद्यपि यह साम्प्रदायिक था। परन्तु दमन से कोई लाभ न हुआ। एक ओर दोनों सम्प्रदायों के मध्य और दूसरी ओर जनता एवं रियासती सरकार के मध्य सम्बन्ध बिगड़ते ही चले गये।

जुलाई 1931 में रियासती सरकार और महाराजा के विरुद्ध एक विशाल प्रदर्शन हुआ। मुसलिम प्रदर्शनकारी एक जेलखाने के बाहर इकट्ठे हो गये, जहां एक मुसलिम कट्टरपंथी पर मुकदमा चल रहा था। भीड़ जबरदस्ती जेल में घुस गयी, जिससे पुलिस को गोली चलानी पड़ी। इस घटना के फलस्वरूप 21 व्यक्ति पुलिस की गोली से मर गये।[1]

---

[1] 13 जुलाई का यह दिन, अब भी सारे कश्मीर में प्रतिवर्ष "शहीद दिवस" के रूप मे मनाया जाता है।

कश्मीर के स्वातन्त्र्य-संघर्ष के इतिहासकार इस दिन को आधुनिक अर्थ में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष की शुरुआत समझते हैं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "कश्मीर में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष" (स्ट्रगल फार फ्रीडम इन कश्मीर) में, पी० एन० बजाज लिखते हैं :—"निःसन्देह 1931 का संघर्ष प्रत्यक्षतः साम्प्रदायिक उत्तेजना से पूर्ण था; परन्तु जिनकी आंखें बन्द नहीं हैं, वे देख सकते हैं कि यह तत्त्वतः स्वेच्छाचारी शासन के विरुद्ध अत्याचार से पीड़ित और दबे हुए लोगों का संघर्ष था। देर-सबेर इसका सीधे रास्ते पर आना सुनिश्चित था।"

कश्मीर के उफान की दूसरी विशेषता यह थी कि इसने पंजाब के मुसलिम संगठनों को भी आकर्षित किया। पंजाब के अहरारों तथा अन्य मुसलिम संगठनों ने उसी वर्ष अगस्त में कश्मीर दिवस मनाया और कश्मीरी लोगों की मांगों का स्वयं कश्मीरियों की अपेक्षा अधिक मुखरता से समर्थन किया। अहरारों तथा अन्यों ने मुसलिम जन-समूह के साथ अपनी सहानुभूति का प्रदर्शन करने के लिए जम्मू और कश्मीर में स्वयं-सेवकों के जत्थे भेजने शुरू कर दिये।

इस प्रकार यद्यपि हर चीज कश्मीर के स्वतन्त्रता-संघर्ष को साम्प्रदायिक रंग देती नजर आती है; फिर भी यह कहना पड़ेगा कि इस आन्दोलन के मुसलिम नेताओं तथा कश्मीरी हिन्दुओं ने भी, विशेष रूप से पंडितों ने, तसवीर के असली रूप को देख लिया, और मुसलिम कान्फ्रेंस के आन्दोलन का समर्थन करने का निश्चय किया। सबसे पहला हिन्दू, जिसने कान्फ्रेंस के आदर्शों का समर्थन किया, प्रेमनाथ बजाज था। प्रेमनाथ बजाज को यह विश्वास था कि कश्मीर में सबसे पहला काम यह होना चाहिए कि रियासत की राजनीति को धर्मनिरपेक्ष बनाया जाय। इसी उद्देश्य से उन्होंने अक्टूबर 1932 में "वितस्ता" नामक एक दैनिक पत्र निकालना शुरू किया। इस पत्र का उद्देश्य था 'रियासत में धर्मनिरपेक्ष राजनीति का प्रचार तथा उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए संघर्ष"। अब्दुल्ला ने तथा मुसलिम कान्फ्रेंस के अन्य नेताओं ने बजाज का और उनकी विचारधारा के अन्य हिन्दुओं का स्वागत किया। अन्य गैर-मुसलिमों में, जो आन्दोलन में शामिल हुए, जियालाल किलम और बुधसिंह मुख्य थे। इनके मिल जाने से सामान्य उद्देश्य की सिद्धि के लिए सम्मिलित परामर्श होने लगा। सिद्धान्त का प्रचार करने तथा "रियासत में राष्ट्रवाद की आधार-शिला रखने" के लिए, अब्दुल्ला और बजाज ने मिल कर एक और साप्ताहिक पत्र "हमदर्द" निकाला। "हमदर्द" ने रियासत के मामलों में एक नयी ज्योति प्रज्वलित करने का

प्रयत्न किया। यह जाति और धर्म का विचार किये विना समस्त कश्मीरियों को लोकतन्त्रीयता एवं एकता का ध्वजवाहक था।"[1]

इन सब गतिविधियों ने जम्मू-कश्मीर रियासत में धर्मनिरपेक्ष राजनीति की नींव डाल दी। मई 1936 में मुसलिम कान्फ्रेंस दल ने रियासत भर में उत्तरदायी शासन दिवस मनाया। अब्दुल्ला ने गैर-मुसलिमों से समारोह में शामिल होने की अपील की। रियासत के गैर-मुसलिमों पर उसकी अपील की अच्छी अनुक्रिया हुई। तुरन्त बाद ही, पी० एन० बजाज की देखरेख में कश्मीर युवक संघ नाम का एक और दल बना। यह दल "रियासत में सब लोगों की समानता में विश्वास रखता था और यह मानता था कि धार्मिक विश्वासों और मतों के आधार पर युवकों और युवतियों में कोई भेद नहीं है।"

यह विश्वास हो जाने के बाद कि रियासती सरकार से लड़नेवाला और उत्तरदायी, शासन की स्थापना के लिए काम करनेवाला दल गैर-साम्प्रदायिक होना चाहिए जिससे रियासत की सब प्रगतिशील शक्तियां उससे मिल सकें, शेख अब्दुल्ला ने जून 1938 में मुसलिम कान्फ्रेंस की कार्यसमिति में निम्नांकित प्रस्ताव उपस्थित किया : "क्योंकि कार्य-समिति की राय में वह समय अब आ गया है, जब उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए संघर्ष करने के वास्ते देश की समस्त प्रगतिशील शक्तियों को एक झंडे के नीचे आ जाना चाहिए, अतः कार्य-समिति जनरल कौंसिल से यह सिफारिश करती है कि कान्फ्रेंस के आगामी अधिवेशन में संगठन का नाम और संविधान इस प्रकार परिवर्तित और संशोधित कर दिये जायें कि जो व्यक्ति इस राजनीतिक संघर्ष में भाग लेना चाहें, वे जाति, मत और धर्म के भेदभाव के विना कान्फ्रेंस के मेम्बर बन सकें।"

मुसलिम कान्फ्रेंस के कुछ सदस्यों ने, विशेष रूप से बख्शी गुलाम मोहम्मद और अफजल बेग ने, इस प्रस्ताव का विरोध किया। परन्तु शेख की तर्कशीलता की विजय हुई, और मुसलिम कान्फ्रेंस का नाम नेशनल कान्फ्रेंस में परिवर्तित करने का प्रस्ताव पास हो गया।

परन्तु दुर्भाग्य से मुसलिम कान्फ्रेंस का नाम-परिवर्तन अमिश्रित वरदान सिद्ध न हुआ। इसके लिए कश्मीरियों को दोष देना ठीक नहीं। वास्तव में दोष भारतीय राजनीति का है, जहां हर चीज विकृत और पेचीदा बन जाती है। कांग्रेस 6 प्रान्तों में

[1]वही—पृ० 167

सत्तारूढ़ हो गयी थी और दो अन्य प्रान्तों, सिन्ध और असम, में भी शक्तिशाली बनी हुई थी। विभिन्न कारणों से भारत के अधिकांश शिक्षित मुसलिम कांग्रेस-विरोधी हो गये थे। इससे मुसलिम लीग की शक्ति बहुत बढ़ गयी थी। इस घटना का प्रभाव जम्मू-कश्मीर की राजनीति पर भी पड़ा। जब रियासत के संगठन का नाम मुसलिम कान्फ्रेंस था, तो बहुत से शिक्षित मुसलिम यह सोचा करते थे कि वह रियासत की सेवाओं में मुसलिमों के लिए अधिक नौकरियों की मांग कर सकता है तथा उनके लिए लड़ सकता है। अब क्योंकि इसका नाम नेशनल कान्फ्रेंस हो गया था, अतः अधिकांश मुसलिम इससे तटस्थ हो गये। जिन्ना तथा भारत में मुसलिम लीग के अन्य नेताओं के भाषणों से कश्मीरी मुसलिमों की हृत्तन्त्री झंकृत हो उठी। अतः कश्मीरी मुसलिमों के लिए पृथक् संगठन की मांग जोर पकड़ने लगी।

इस घटना से शेख अब्दुल्ला निराश जरूर हुआ, परन्तु निरुत्साहित न हुआ। उसे यह आशा थी कि सदस्य-संख्या और सहायता की कमी गैर-मुसलिमों के अधिक संख्या में नेशनल कान्फ्रेंस में आ जाने से पूरी हो जायगी। परन्तु दुख है कि यह भी न हुआ। कश्मीर के हिन्दू और सिख अब भी शंकित थे और यह नहीं जानते थे कि शेख अब्दुल्ला की कल्पना की उत्तरदायी सरकार में अल्पमत की क्या स्थिति होगी। अतः शेख अब्दुल्ला के महान् नीति-कौशल के प्रति उनकी अनुक्रिया अवरोध पैदा करनेवाली थी।

देश भर में कांग्रेस और मुसलिम लीग दो प्रमुख राजनीतिक दलों के रूप में उभर कर आ रहे थे। अधिकांश कश्मीरी नेता अपने आप से यही प्रश्न पूछते थे कि नेशनल कान्फ्रेंस को कांग्रेस के साथ रहना चाहिए अथवा मुसलिम लीग के साथ। एक विचार-धारा के लोगों का खयाल था कि नेशनल कान्फ्रेंस को तटस्थ रहना चाहिए। परन्तु, जब अब्दुल्ला और उसके साथी अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के समीप आये तथा भारतीय नेताओं, विशेष रूप से जवाहरलाल नेहरू और महात्मा गांधी तथा खान अब्दुल गफ्फार खां, के सम्पर्क में आये, तो वे उनसे बहुत प्रभावित हुए। ऐसा मालूम पड़ने लगा कि अब नेशनल कान्फ्रेंस केवल अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के साथ ही नहीं, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ भी मिल कर काम करेगी।

रियासत की भाषा के सम्बन्ध में जो विवाद 1939 में उठ खड़ा हुआ था, उसने कश्मीर में राजनीतिक समस्या को और भी पेचीदा बना दिया। नेशनल कान्फ्रेंस ने एक प्रस्ताव में सिफारिश की, कि फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में लिखी जाने वाली हिन्दुस्तानी रियासत की सरकारी भाषा के रूप में इस्तेमाल की जाय।

परन्तु क्योंकि लगभग एक शताब्दी से फारसी लिपि में लिखी जाने वाली उर्दू जम्मू-कश्मीर की भाषा रह चुकी थी, लिएइस मुसलिमों ने इसका विरोध किया। इससे कश्मीर के पृथक्तावादी मुसलिम नेताओं को बहाना मिल गया। कश्मीर के लगभग सभी मुसलिम समाचारपत्र नेशनल कान्फ्रेंस के विरोधी हो गये।

1940 के आरम्भ में जवाहरलाल खान अब्दुल गफ्फार खां के साथ कश्मीर गये। नेहरू की रियासत-यात्रा के अवसर पर जनता में, विशेष रूप से हिंदुओं में, अपार उत्साह दिखायी दिया। उसने नेशनल कान्फ्रेंस की खोई हुई प्रतिष्ठा, कम से कम हिन्दुओं में, कुछ हद तक, वापस ला दी। प्रेमनाथ बजाज के अनुसार, जवाहरलाल की कश्मीर-यात्रा अब्दुल्ला के राजनीतिक जीवन में तथा स्वतन्त्रता आन्दोलन के इतिहास में नया मोड़ सिद्ध हुई।[1] बजाज का यह भी खयाल है कि कश्मीर के नये दीवान गोपालस्वामी अय्यंगार ने अब्दुल्ला को कांग्रेस की विचारधारा में छलांग लगाने के लिए उत्साहित कर बड़ी चतुराई का काम किया। उनका कहना है कि नेहरू की इस घाटी की यात्रा के प्रसंग ने स्वतन्त्रता के लिये लड़नेवाले अब तक के क्रान्तिकारी अब्दुल्ला की हत्या कर दी।[2]

आगे की घटनाओं ने अब्दुल्ला और नेशनल कान्फ्रेंस को अधिकाधिक कांग्रेस के आश्रय में आने के लिए बाध्य कर दिया। जो उससे सहमत न थे, वे भारत के सन्दर्भ में मुसलिम लीग का और कश्मीर के आन्तरिक मामलों में मुसलिम कान्फ्रेंस का खुला समर्थन करने लगे। विभेद स्पष्ट और तीव्र था।

जिस समय अब्दुल्ला को यह निश्चय करना था कि वह कांग्रेस का साथ दे या मुसलिम लीग का, तथा जिस समय ये दोनों प्रमुख भारतीय राजनीतिक दल नेशनल कान्फ्रेंस को अपनी ओर खींचने की प्रतिस्पर्धा कर रहे थे, ठीक उसी समय घटनाओं का ऐसा क्रम चला कि कांग्रेस के पक्ष में पासा पड़ा। यह कहा जा सकता है कि अन्तिम निश्चय जवाहरलाल नेहरू और खान अब्दुल गफ्फार खां की यात्रा के समय किया गया। परन्तु इससे पहले ही अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के सम्मेलनों में कांग्रेस नेताओं के साथ अब्दुल्ला के निकट सम्पर्क से यह निष्कर्ष निकाल लिया गया था कि उसका निश्चय प्रायः यही होगा।

जब अगस्त *1942* में कांग्रेस ने "भारत छोड़ो" आन्दोलन आरम्भ किया, तब

---

1 "हिस्ट्री आफ स्ट्रगल फार फ्रीडम इन कश्मीर"—पृ० 131

2 वही—पृ० 184

कश्मीर के नेताओं ने उसका समर्थन ही नहीं किया, अपितु नेशनल कान्फ्रेंस की कार्य समिति ने "भारत छोड़ो" आन्दोलन के समर्थन में एक आधिकारिक प्रस्ताव भी पास किया। इस निर्णय को लागू करने के लिए, 23 अगस्त 1942 का दिन कश्मीर भर में राष्ट्रीय दिवस के रूप में मनाया गया। इस दिन उक्त आन्दोलन के समर्थन के लिए सभायें की गयीं और प्रस्ताव पास किये गये। अगले महीने, नेशनल कान्फ्रेंस के अध्यक्ष, सरदार बुधसिंह, ने वाइसराय को एक पत्र लिखा, जिसमें कांग्रेस के सिद्धान्त पक्ष का पूर्ण समर्थन किया गया तथा कांग्रेस नेताओं की रिहाई और भारत की स्वतन्त्रता की घोषणा की मांग की गयी। अप्रैल 1943 में, मीरपुर में, नेशनल कान्फ्रेंस के वार्षिक अधिवेशन में कांग्रेस नेताओं की रिहाई की मांग फिर दुहराई गयी।

जून 1944 में जिन्ना कश्मीर घाटी गया। अपनी इस घोषणा के विपरीत कि मैं स्वास्थ्य-सुधार के लिए कश्मीर जा रहा हूं, रियासत की राजनीति को प्रभावित करने नहीं, जिन्ना ने नेशनल कान्फ्रेंस के नेताओं को कांग्रेस से अलग करने और उन्हें मुसलिम लीग के बाड़ें में लाने के लिए प्रयत्न करने की अपनी योजना लेकर सामने आने में देर न लगायी। लोक नेताओं ने, जिनमें नेशनल कान्फ्रेंस के शेख अब्दुल्ला तथा अन्य नेता भी थे, जिन्ना का स्वागत किया तथा अनेक बार उसके साथ विचार विनिमय किया। परन्तु उसका परिणाम मुसलिम लीग के नेता के लिए निराशा-जनक ही रहा। जिन्ना की वापसी के समय शेख अब्दुल्ला ने जो वक्तव्य दिया, उससे यह और भी स्पष्ट हो गया कि कश्मीर में जिन्ना की यात्रा पूर्णतया असफल रही।

अगस्त 1945, में नेशनल कान्फ्रेंस के सोपोर अधिवेशन में, जवाहरलाल नेहरू, खान अब्दुल गफ्फार खां और मौलाना आजाद विशेष निमन्त्रण पर उपस्थित थे। अब्दुल्ला ने अपने अध्यक्षीय भाषण में "नये कश्मीर" के निर्माण की योजना पेश की। उसने घोषणा की कि "जम्मू-कश्मीर रियासत का भविष्य और स्वतन्त्रता भारत के भविष्य और स्वतन्त्रता के साथ दृढ़ता से जुड़े हुए हैं।"

कश्मीर में रियासती सरकार के विरुद्ध जन-प्रतिरोध का अन्तिम दृश्य मई 1946 में नेशनल कान्फ्रेंस द्वारा शुरू किया गया आन्दोलन था। आन्दोलनकारियों का "कश्मीर छोड़ो" नारा प्रत्यक्षतः डोगरा शासक और उसकी सरकार के लिए था। आन्दोलन शुरू होने के कुछ ही दिनों बाद आन्दोलन का नेता अब्दुल्ला और उसके साथी गिरफ्तार कर लिये गये। कांग्रेस ने नेशनल कान्फ्रेंस के इस आन्दोलन का पूरा समर्थन किया। आन्दोलन के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करने के लिए जवाहरलाल नेहरू कश्मीर गये, परन्तु रियासती सरकार ने जम्मू और कश्मीर में उनके प्रवेश पर

प्रतिबन्ध लगा दिया। उस समय जवाहरलाल वाइसराय की प्रवन्ध-परिषद के उपाध्यक्ष थे। उन्होंने प्रतिबन्ध की उपेक्षा करते हुए रियासत में घुसने की कोशिश की, परन्तु कोहाला में वे गिरफ्तार कर लिये गये। वाइसराय के हस्तक्षेप के बाद प्रतिवन्ध हटा लिया गया और तब नेहरू कश्मीर में घुस सके। उनके बाद अन्य भारतीय नेता भी कश्मीर गये, जिनमें अरुणा आसफ अली, आचार्य कृपलानी और जयप्रकाश नारायण मुख्य थे। सबसे अन्त में महात्मा गांधी गये। जैसे-जैसे आन्दोलन जोर पकड़ता गया, वैसे-वैसे रियासती सरकार की दमन नीति भी सख्त होती गयी। उस समय कश्मीर का प्रधान मन्त्री रामचन्द्र काक था। उसकी नीतियां इतनी अलोक प्रिय थीं कि दमन के लिए उत्तरदायी समस्त सरकारी तन्त्र का नाम 'काकशाही" पड़ गया।

जब सीमापार के आक्रमणकारियों से कश्मीर की सुरक्षा को खतरा पैदा होने लगा और महाराजा तथा उसकी सरकार आक्रमणकारियों के विरुद्ध सहायता के लिए भारत का मुंह ताकने को बाध्य हुए, तब कहीं अक्टूबर 1947 के अन्तिम सप्ताह में शेख अब्दुल्ला और उसके साथियों को छोड़ा गया।

दक्षिण की रियासतें

कोल्हापुर को छोड़, दक्षिण की सभी रियासतें छोटी रियासतों की श्रेणी में आती थीं। प्रशासन और नागरिक स्वतन्त्रता के मामलों में इन रियासतों का भी वही हाल था, जो अन्य रियासत-समूहों का। 1937 में जब कांग्रेस बम्बई और मद्रास में सत्तारूढ़ हुई तो उसके बाद इन रियासतों की जनता ने, विशेषतया रामदुर्ग, सांगली, मिरज और जामखण्डी की जनता ने, भारी करों में कमी एवं प्रशासन के लोकतन्त्रीकरण की मांग के पक्ष में जनमत जाग्रत करना शुरू किया।

पहले के कुछ सार्वजनिक कार्यकर्ता, जिन्होंने पूना में उस विचार विमर्श और बातचीत में भाग लिया, जिसके फलस्वरूप अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की स्थापना हुई, इन्हीं रियासतों के रहने वाले थे। रियासती जनता के मामलों में भारत सेवक समाज (सर्वेन्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी) की विशेष रुचि होने के कारण, पूना रियासती जनता का अनधिकृत मुख्यालय बन गया था; और इसलिए जनता और दक्षिण की रियासतों के शासक दोनों ही रियासत की समस्याओं के स्वरूप से परिचित थे। इन रियासतों में प्रजा मण्डलों की स्थापना अन्य किसी भी रियासत-समूह से पहले हुई थी। ये सब प्रजा मण्डल 1930 से आरम्भ होने वाले दशक के शुरू में स्थापित दक्षिण

रियासती प्रजा परिषद की देखरेख में काम करते थे। इस परिषद ने 1937 में सब रियासतों के प्रतिनिधियों की एक सभा की थी।

यह कुछ आश्चर्यजनक लगता है कि इस क्षेत्र में प्रजा मण्डलों के कार्यकर्त्ताओं और दरबारों के मध्य उतने अविचारित टकराव नहीं हुए जितने अन्य रियासतों में। केवल रामदुर्ग, जामखण्डी और मिरज ही इसके विकल्प थे।

मिरज में रियासत की कृषि-नीति और वहां नागरिक स्वतन्त्रता के अभाव के विरोध में एक सत्याग्रह आन्दोलन उठ खड़ा हुआ था। इस सत्याग्रह में एन० सी० केलकर तथा भारत सेवक समाज के कुछ सदस्यों ने प्रजा मण्डल का समर्थन किया। उन्होंने जनता के अधिकारों की रक्षा के लिए आन्दोलन में भाग लिया। वह अहिंसात्मक सत्याग्रह इस अर्थ में सफल रहा कि रियासती सरकार को अपनी दमननीति पर पुनर्विचार करने तथा जनता की आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों सम्बन्धी मुख्य मांगें मानने के लिए बाध्य होना पड़ा।

रामदुर्ग और जामखण्डी में भी प्रतिरोध आन्दोलनों में काफी सफलता मिली। रामदुर्ग से कुछ सत्याग्रहियों के हिंसात्मक कार्यों के समाचार अवश्य आये। आर० आर० दिवाकर, याल्गी और हर्डीकर इस घटना की विस्तृत रिपोर्ट गांधी जी को देने के लिए रामदुर्ग गये।[1] घटनाओं के हिंसात्मक मोड़ ले लेने से गांधी जी को दुःख हुआ और उन्होंने प्रजासंघ के कार्यकर्त्ताओं तथा आमतौर से समस्त कांग्रेसियों को अहिंसा नीति के मार्ग से विचलित होने के विरुद्ध चेतावनी दी। उन्होंने कर्णाटक प्रान्तीय कांग्रेस समिति से इन घटनाओं की निष्पक्ष जांच कराने को कहा।

यद्यपि जामखण्डी में जनता की कुछ ही मांगें शासक और उसकी सरकार द्वारा स्वीकार की गयीं, फिर भी वहां सत्याग्रह आन्दोलन का परिणाम प्रतिकूल न रहा।

1945 के प्रभात के समय इन रियासतों के इतिहास में एक नये अध्याय का सूत्रपात हुआ। यहां कुछ ऐसे अच्छे उदाहरण थे, जिनका प्रभाव चारों ओर पड़ा।

---

[1]याल्गी, जिनकी सलाह पर रामदुर्ग संस्थान प्रजा संघ की स्थापना हुई थी, अप्रैल 1938 में रामदुर्ग गये। संघ की ओर से जनता की माँगें तैयार की गयीं और शासक के सामने पेश की गयीं। अगले महीने, मई 1938 में, दक्षिण रियासती प्रजा का एक सम्मेलन साँगली में सरदार पटेल की अध्यक्षता में हुआ। सम्मेलन में विस्तार से विचार होने के बाद शंकरराव देव से कहा गया कि वे रामदुर्ग की जनता और शासक के मध्य मतभेदों को दूर करें।

औंध के राजा ने 1939 में उत्तरदायी शासन स्वीकार कर लिया था और तब से रियासत का काम सुचारु रूप से तथा संतोषजनक ढंग से चलने लगा था। फाल्टन के राजा ने भी कुछ समय से राष्ट्रवाद का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया था और तबसे वह किसी अवसर पर अपने लोकतन्त्र-प्रेम और देशभक्ति के प्रदर्शन में नहीं चूका था।[1]

इन घटनाओं तथा सामान्य जागृति ने दक्षिण की रियासतों में एक समझौतावादी वातावरण पैदा कर दिया। 1946 के आरम्भ में ही इन रियासतों के शासकों ने अपनी रियासतों का एक संघ बनाने के प्रश्न पर सोचना शुरू कर दिया था। उन्होंने पूना में अपनी सभा की और गांधी जी से आशीर्वाद मांगा। परन्तु गांधी जी ने इस विचार के लिए प्रोत्साहन न दिया और उनसे अन्य कांग्रेस नेताओं से सम्पर्क स्थापित करने को कहा। अन्त में, संघ तो बना, पर 17 रियासतों में से केवल 8 ही उसमें शामिल हुईं।

ठीक इसी समय जामखंडी के राजा ने घोषणा की कि यदि प्रजा चाहेगी तो मैं बम्बई प्रान्त में अपनी रियासत के विलय के लिए तैयार हो जाऊंगा। प्रजा ने बड़े उत्साह से विलय के पक्ष में अपनी राय जाहिर की। इससे दक्षिण की रियासतों में घटना के प्रवाह का रुख ही बदल गया। सभी प्रजामण्डल और उनके कार्यकर्त्ता बम्बई के साथ विलय के लिए अपनी पसन्द जाहिर करने लगे। इस से नवनिर्मित संघ पर करारी चोट पड़ी और उसे भंग करना पड़ा। उसके बाद, दक्षिण की सभी रियासतें बम्बई में मिल गयीं।

मैसूर

मैसूर रियासत सचमुच भारत की सबसे अधिक सुशासित और सबसे अधिक प्रगतिशील रियासत होने के लिए प्रसिद्ध थी। बात यह थी कि प्रतिनिधिक संस्थाओं और सांविधानिक प्रगति की दृष्टि से वह प्रान्तों से भी आगे थी, परन्तु वह केवल 1920 तक, जब तक कि मांटेग्यू-चैम्सफोर्ड सुधार लागू नहीं हुए थे। 1881 में, उस समय से पहले या लगभग उसी समय जब ब्रिटिश भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन अधिनियम (लोकल सेल्फ गवर्नमेंट एक्ट) बना, मैसूर राज्य में प्रतिनिधिक विधान सभा मौजूद थी। विधान सभा का दो बार विस्तार हुआ और महाराजा ने

---

[1]अन्त में जब फाल्टन का बम्बई में विलय हुआ, तो यह शासक बम्बई सरकार में मन्त्री बनाया गया।

घोषणा की कि मेरी नीति "प्रजा को अधिक से अधिक रियासत के प्रशासन में साथ रखने की है।"

लगभग आधी शताब्दी तक सर्वत्र आनन्द और शान्ति दिखायी देती थी। परन्तु जब गोलमेज सम्मेलनों में तथा उनके बाद समस्त भारत में सांविधानिक विकास की गति तेज हुई, तो मैसूर के जन-नेताओं ने रियासत में उत्तरदायी शासन के विषय में सोचना शुरू कर दिया। अतः जब जून 1934 में दीवान ने प्रतिनिधिक विधान सभा में दिये गये अपने एक भाषण में उनसे यह कहा कि सांविधानिक प्रगति को उसकी स्वाभाविक परिणति तक पहुंचाने का उसका कोई इरादा नहीं है तो उन्हें बहुत धक्का लगा। उसके असली शब्द ये थे—"मैं सदन को यह बता देना चाहता हूं कि संविधान में और परिवर्तन करने अथवा मैसूर सरकार के ढांचे को बदलने का कोई विचार नहीं है। मैं इस विषय में आश्चर्य प्रकट किये बिना नहीं रह सकता कि इस नीति का समर्थन तब किया जा रहा है जबकि संसदीय लोकतन्त्र सर्वत्र विनाशोन्मुख है।"

इस वक्तव्य ने जनता के विचारों को उत्तेजना प्रदान की और उससे भी अधिक आलोचना को। जब 1937 में, कांग्रेस बम्बई और मद्रास में सत्तारूढ़ हुई, तो मैसूर की जनता का सोच-विचार कार्य रूप में प्रस्फुटित होने लगा। निकटवर्ती प्रान्तों में उत्तरदायी शासन की स्थापना से मैसूर रियासत की जनता के हृदयों में भी ऐसी ही उमंगें हिलोरें मारने लगीं। धारा का रुख बदल गया था, अतः मैसूर की रियासती कांग्रेस ने दीवान के तीन वर्ष पुराने वक्तव्य को चुनौती देने का निश्चय किया।

मैसूर में कई राजनीतिक दल थे। उदाहरणार्थ, प्रजामित्र मण्डली की स्थापना 1917 में रियासत के सुप्रसिद्ध नेता भाष्यम् द्वारा की गयी थी। इस दल की नीति का सार इसके दो नारों में सिमटा हुआ है—"सब के लिए समान अवसर" और "न्याय सबको, अन्याय किसी को नहीं"। 1930 में "जनता दल" नाम का एक नया दल अस्तित्व में आया, जिसका उद्देश्य महाराजा की छत्रछाया में उत्तरदायी शासन की प्राप्ति था। इसके बाद मैसूर कांग्रेस थी, जो रियासत में अधिकतर रचनात्मक और संगठनात्मक कार्य में व्यस्त रहती थी।

स्पष्ट शब्दों में उत्तरदायी शासन की मांग स्वीकार करने में मैसूर सरकार ने काफी आना-कानी की और वक्रोक्ति से भी काम लिया। दीवान तथा अन्य अधिकारियों ने जनता को बहकाने के लिए "उत्तरदायी शासन" (रेस्पोंसिब्ल गवर्नमेंट) के स्थान पर एक नया शब्द गढ़ा "श्रुतिदायी शासन" (रेस्पोंसिव गवर्नमेंट), और असली आवश्यकता उसी को बता कर प्रचार करना शुरू कर दिया। परन्तु इससे कोई भ्रम

न फैल सका। मैसूर की जनता राजनीतिक दृष्टि से पूर्णतया जागृत थी, वह कांग्रेस के आह्वान पर सदा कान देती थी। न केवल मैसूर रियासत से बाहर कर्णाटक में उसने स्वतन्त्रता-संघर्ष में भाग लिया, "अपितु अन्य रियासतों की जनता के समक्ष भी सरकार को ब्रिटिश भारत की सरकार के स्तर पर लाने के लिए लोकतन्त्रीय संस्थाओं के वास्ते युद्ध करने का एक उदाहरण उपस्थित किया।"[1]

1930 में, रियासती प्रजा परिषद और मैसूर युवक परिषद ने (जिनके अधिवेशन बंगलौर में हुए थे) लोकतन्त्रीय संस्थाओं की आवश्यकता पर बल दिया था, क्योंकि अन्त में उन्हीं से रियासत में उत्तरदायी शासन की स्थापना हो सकती थी। तभी से जनता का तद्विषयक विश्वास दृढ़ होगया था।

एक और भी महत्त्वपूर्ण बात थी, जिसने मैसूर रियासत की जनता तथा बम्बई और मद्रास प्रान्तों की कन्नडभाषी जनता को एक-दूसरे के पास ला दिया। यह कर्णाटक के एकीकरण का आन्दोलन था। कर्णाटक एकीकरण संघ की स्थापना 1924 में हुई थी। उसने उन प्रशासनिक एककों को, जहां कन्नडभाषी लोग रहते थे, सुदृढ़ कड़ियों से जोड़ दिया था। आरम्भिक वर्षों में, संघ मैसूर के राजवंश के प्रति कितनी सद्भावना रखता था, इसका परिचय उस उत्साह से मिलता है, जो 1927 में उस समय दिखायी दिया, जब महाराजा मैसूर की रजत-जयन्ती समस्त कन्नडभाषी क्षेत्रों में एकीकरण आन्दोलन के एक भाग के रूप में मनायी गयी।

1936 में हैम्पी में आयोजित विजयनगर साम्राज्य के 600 वें वार्षिक उत्सव से इस आन्दोलन को और भी अधिक उत्तेजना प्राप्त हुई।

ये गतिविधियां स्वयं तो सतह पर सांस्कृतिक और ऐतिहासिक थीं; परन्तु इन्होंने कन्नडभाषी जनता को परस्पर मिला दिया और अन्त में उसके लिए एक सामान्य राजनीतिक मंच तैयार कर दिया। यह सर्वसम्मत मंच कांग्रेस ने प्रदान किया। मैसूर रियासत की आगे की घटनायें इस बात को प्रमाणित करेंगी।

1937-38 में जैसी स्थिति थी, उसका वर्णन हलप्पा ने इन शब्दों में किया है :—

"प्रान्तों में कांग्रेस सरकारों के बनते ही रियासतों के राजनीतिक वातावरण में परिवर्तन होना अवश्यम्भावी था। रियासतों में लड़ाई लड़नेवाली जनता अब यह अनुभव करने लगी कि वह ब्रिटिश भारत की कांग्रेस की सक्रिय सहायता की दृढ़ता से आशा कर सकती है। परिस्थितियों ने लोकप्रिय संघर्ष के प्रति कांग्रेस के रुख में

---

[1] "हिस्ट्री आफ फ्रीडम मूवमेंट इन कर्णाटक"—हलप्पा—पृ० 195

भी परिवर्तन कर दिया। प्रान्तीय चुनावों में कांग्रेस ने जो अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की, उसका रियासती जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। ब्रिटिश भारत के कुछ वामपन्थी कांग्रेस-नेता सोचने लगे कि कांग्रेस को रियासती जनता की राजनीतिक आकांक्षाओं की पूर्ति में सक्रिय सहायता देनी चाहिए। रियासतों के प्रति सक्रिय नीति अपनाने के लिए कांग्रेस पर दवाव डाला गया। अव रियासतों की घटनाओं को कांग्रेस चुपचाप खड़ी देखती नहीं रह सकती थी। मैसूर सरकार ने रियासती कांग्रेस के प्रति जो दमन नीति अपनायी थी, उसकी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने निन्दा की।"[1]

वर्तमान प्रवृत्तियों के साथ-साथ चलने के लिए, प्रजामित्र मण्डली और जनता दल दोनों ने परस्पर मिल कर "जन-संघ" (पीपुल्स फेडरेशन) नाम का एक नया संगठन बनाया। नये दल का उद्देश्य पिछड़ी जातियों के लिये राजनीतिक अधिकार और न्याय प्राप्त कराना था। यह संगठन 1934 में बना। जन-संघ के नेता शीघ्र ही यह अनुभव करने लगे कि रियासत से जनता के लिए प्रभावी अधिकार प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि दोनों प्रमुख दलों--कांग्रेस और जन-संघ--को भी परस्पर मिला दिया जाय। यह एकीकरण 1937 में हुआ।[2] इस घटना ने मैसूर में राजनीतिक दलों के विकास को पूरा कर दिया। इसे राष्ट्रवाद की विजय कहा गया और लोग इसे समस्त दलों का कांग्रेस में विलय समझने लगे।

इस प्रकार रियासत में प्रमुख राजनीतिक दल का रूप धारण करने के बाद कांग्रेस उत्तरदायी शासन के लिए ठोस कार्यक्रम के अलावा और कुछ सोच ही नहीं सकती

---

[1] वही—पृ० 466

[2]संघ ने 16 अक्टूवर 1937 को वंगलौर में अपने अधिवेशन में जो प्रस्ताव स्वीकार किया वह यह है :

"चूंकि यह आवश्यक है कि ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों दोनों को एक अखिल भारतीय संगठन के माध्यम से काम करना चाहिए—क्योंकि भारत एक और अविभाज्य है और संघ का सिद्धान्त सर्वसम्मत है—और चूंकि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस एक ऐसा संगठन है जिसका कार्यक्रम मैसूर जनसंघ के कार्यक्रम से वहुत-कुछ मिलता-जुलता है, और चूंकि इसी कारण मैसूर जनसंघ को पृथक् संगठन के रूप में जीवित रखना अनुचित और अवांछनीय पाया गया है; अतः यह अधिवेशन प्रवन्ध-समिति की कार्रवाई की पुष्टि करता है और निश्चय करता है कि मैसूर जनसंघ कांग्रेस में अपना विलय कर दे।"

थी। विशेष रूप से प्रान्तीय स्वराज्य मिलते ही निकटवर्ती मद्रास और बम्बई प्रान्तों में कांग्रेस सरकारें बनने के बाद, ऐसा करना आवश्यक हो गया।

यद्यपि यह बिलकुल स्वाभाविक था कि मैसूर की जनता रियासत में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए व्याकुल होती, परन्तु यह परिवर्तन कदाचित् अकस्मात् नहीं हुआ। इसकी कुछ पृष्ठभूमि थी। 1933 में, जब मैसूर में उत्तरदायी शासन की प्राप्ति के उद्देश्य से एक सर्वदल-सम्मेलन हुआ, तभी सांविधानिक सुधारों के विषय में सोद्देश्य विचार-विमर्श आरम्भ हो गया था। कदाचित् इसी सम्मेलन की कार्रवाई ने और उत्तरदायी शासन के लिए जनता के उत्साह-प्रदर्शन ने दीवान को 1934 में सरकारी रुख में दृढ़ता लाने तथा वह वक्तव्य देने के लिए उत्तेजित किया था, जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। प्रत्यक्षतः दीवान का रुख सरकार के उन इरादों का सूचक था, जो बाद की घटनाओं से पूर्णतया प्रमाणित हो गये।

1935 में मैसूर के देहाती क्षेत्र के कुछ भाग आर्थिक कठिनाइयों की चपेट में आ गये, जिसका फल यह हुआ कि किसान रियासत की राजस्व-नीति में परिवर्तन के लिए आन्दोलन करने लगे। जन-संघ द्वारा आयोजित किसान सम्मेलनों पर सरकार द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिये गये। इसका परिणाम यह हुआ कि कोई भी प्रस्तावित सम्मेलन न हो सका। किसानों को अपने कष्ट में सहायता की प्रार्थना के लिए अधिकारियों के पास जाने का भी निषेध कर दिया गया।

1937 में मैसूर रियासती कांग्रेस अपना चुनाव आन्दोलन नये जोश और गाजे-बाजे के साथ आरम्भ करना चाहती थी। इस सम्बन्ध में कमला देवी चट्टोपाध्याय को रियासत का दौरा करने के लिए आमन्त्रित किया गया; परन्तु उसके प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। स्थानीय नेताओं में भाष्यम् और कर्मारकर को भी इसी प्रकार उद्घाटन समारोह में भाग लेने से रोक दिया गया। मैसूर रियासत कांग्रेस पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया और उसे गैर-कानूनी संगठन घोषित कर दिया गया। अब इसमें कोई सन्देह न रहा कि सरकार लोकप्रिय आन्दोलन को कुचलने के लिए दमन का सहारा लेने पर तुली हुई थी। इसके बाद रियासत के कुछ भागों में सार्वजनिक सभाओं पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

26 जनवरी को स्वतन्त्रता दिवस पर सार्वजनिक स्थानों पर राष्ट्रध्वज न फहराने के लिए आदेश जारी कर दिये गये। सिद्धलिंगैया, हर्डीकर, मसानी आदि लोकनेताओं को धारा 144 के अधीन नोटिस दिये गये कि वे किसी सार्वजनिक सभा में भाषण न दें। बंगलौर शहर में, मैसूर पुलिस विनियमावली के अधीन बिना लाइसेंस लिए सब

प्रकार की सार्वजनिक सभायें करना और जुलूस निकालना, 6 महीने के लिए निषिद्ध कर दिया गया। सांविधानिक उपाय निकालने के लिए विधान-परिषद और विधान सभा सबसे अधिक उपयुक्त मंच मालूम पड़ते थे; परन्तु नागरिक स्वतन्त्रता से लोगों को वंचित रखने के सम्बन्ध में जो स्थगन-प्रस्ताव उपस्थित किये गये उनके सर्वथा ठुकरा दिये जाने से, वह भी सम्भव न हो सका।

समस्त समाचारपत्रों का मुखमुद्रण करने का भी प्रयत्न किया गया, मानो निषेधादेश और सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का चालान काफी न थे। एक लोकप्रिय कन्नड पत्र "जनवाणी" को प्रकाशन बन्द करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

मैसूर रियासत का समस्त शिक्षित वर्ग रियासती कांग्रेस आन्दोलन के प्रभाव से प्रभावित हो गया। बहुत से लोग स्वेच्छा से बलिदान के लिए तैयार हो गये। अनेक वकीलों ने अपना व्यवसाय छोड़ दिया और वे आन्दोलन में शामिल हो गये। वे गिरफ्तार हुए, जेल गए और उन पर मुकदमे चले। काफी वकीलों की सनदें छीन ली गयीं, जिससे वे वकालत भी न कर सके। ऐसे देशभक्तों में प्रधान एस० निजलिंगप्पा, एच० सिद्धैया, एच० सी० दासप्पा, के० टी० भाष्यम् अय्यंगार, टी० एन० मूनावल्ली, टी० सिद्धलिंगय्या, टी० सुब्रह्मण्य और पट्टाभिरामन् थे। इनमें से अधिकांश देशभक्त अपनी जीविका के साधनों से वंचित होने के कारण निर्धनता का कष्ट भोगते रहे।

कुछ समय तक मैसूर रियासती कांग्रेस अपनी रक्षा में ही लगी रही। 1937 के अन्त में उसके रुख में स्पष्ट परिवर्तन दिखायी दिया। जनता के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक उपाय करने के लिए उसने एक संघर्ष-परिषद नियुक्त की। सरकार की दमन नीति के विरोध में विधान-परिषद के लगभग सभी कांग्रेस-सदस्यों ने त्यागपत्र दे दिये। जिला कांग्रेस समितियों, मैसूर और बंगलौर की म्युनिसिपैलिटियों, मैसूर, शिमोगा और तुमकुर के वकील संघों तथा और भी बहुत सी संस्थाओं एवं संगठनों ने सरकार की दमन नीति का घोर विरोध किया और इस सम्बन्ध में प्रस्ताव पास किये। परन्तु सरकार ने तर्क की बात मानने और समय के संकेत समझने से ही इन्कार कर दिया।

अन्त में, जनवरी 1938 में बबूला फूटा। रियासती कांग्रेस ने 26 जनवरी को रियासत भर में स्वतन्त्रता दिवस के रूप में मनाने का निश्चय किया। कार्यक्रम का मुख्य विषय विभिन्न स्थानों पर राष्ट्रध्वज (भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का झंडा) फहराना था। सरकार ने तुरन्त इन गतिविधियों पर रोक लगा दी। यद्यपि स्वतन्त्रता दिवस बिना किसी घटना के बीत गया, फिर भी प्रतिबन्ध को तोड़ने के लिए जनता का

जोश बढ़ता ही रहा। अप्रेल 1938 में विदुराश्वत्थम् नामक ग्राम में हजारों लोग एकत्र हुये थे। कुछ तो राष्ट्रध्वज फहराने के सम्बन्ध में कांग्रेस के आह्वान पर आये थे और कुछ तीर्थयात्री के रूप में आये थे, क्योंकि विदुराश्वत्थम् एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। परन्तु पुलिस ने यह बहाना लेकर भीड़ पर भयंकर लाठी-वर्षा की कि उसने सार्वजनिक सभाओं पर लगे प्रतिबन्ध को तोड़ा था। लाठी-चार्ज के बाद गोली-वर्षा की गयी, जिससे 32 आदमी मारे गये और 38 गंभीर रूप से घायल हो गये।[1]

यह घटना इतनी गम्भीर थी कि सारे देश का ध्यान इसकी ओर आकर्षित हो गया मैसूर सरकार ने घटना की जांच के लिए एक जांच-समिति नियुक्त की। महात्मा गांधी ने सरदार पटेल और कृपालानी को स्थिति का अध्ययन करने तथा उनके समक्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करने के लिए बंगलौर भेजा। ये दोनों नेता महाराजा और दीवान, सर मिर्जा इस्माइल, से मिले तथा रियासती सरकार और कांग्रेस के मध्य विवाद सुलझाने में समर्थ हुए। जो समझौता हुआ उसकी सभी ने प्रशंसा की। समझौते की शर्तें इस प्रकार थीं :—

1. मैसूर रियासती कांग्रेस को मान्यता दी जाय।
2. सुधार-समिति उत्तरदायी शासन की योजना पर विचार करे और सिफारिशें करे।
3. सभी सार्वजनिक अवसरों पर मैसूर रियासत का झंडा तथा कांग्रेस का झंडा साथ-साथ फहराये जायें। रियासती कांग्रेस की सभाओं में केवल कांग्रेस का झंडा फहराने की अनुमति दी जा सकेगी।
4. कांग्रेस झंडा-सत्याग्रह तथा सविनय अवज्ञा सम्बन्धी समस्त गतिविधियां बन्द कर देगी। सरकार अपनी ओर से समस्त राजनीतिक बन्दियों को रिहा करने तथा मैसूर रियासती कांग्रेस के विरुद्ध जारी किये गये समस्त निषेधादेशों को वापस लेने के लिए सहमत हो गयी।

कुछ समय तक समझौते का पालन ठीक से हुआ, परन्तु केवल कुछ ही समय तक। लोगों की आंखें सुधार-समिति के परिणाम पर लगी हुई थीं। जब उसकी रिपोर्ट आने में देर हुई तो लोगों का धैर्य छूटने लगा। ऐसा मालूम पड़ता है कि रियासती सरकार भी अपने अधिकार की पुनः प्रतिष्ठा के लिए तथा इस भ्रम को दूर करने के लिए

---

[1]घटना के बाद जारी की गयी सरकारी रिपोर्ट के अनुसार मृत और आहत व्यक्तियों की संख्या क्रमशः 10 और 40 थी।

उत्सुक थी कि वह रियासती कांग्रेस के सत्याग्रह से डर गयी थी। अतः विभिन्न स्थानों पर राजनीतिक गतिविधियां जारी रहीं, और उनसे सरकार को वह अवसर मिल गया, जिसकी तलाश में वह थी। 1939 के अन्त में काफी राजनीतिक कार्यकर्त्ता जेलों में थे। इधर उनकी संख्या और भी बढ़ी थी। सत्याग्रही वन्दियों के साथ दुर्व्यवहार के समाचार आ रहे थे। रियासती सरकार को बाध्य होकर आरोपों की जांच करनी पड़ी। जांच करने के लिए न्यायाधिपति नागेश्वर अय्यर को नियुक्त किया गया। न्यायाधिपति अय्यर मैसूर उच्च न्यायालय के न्यायाधीश थे। परन्तु कांग्रेस किसी वाहरी व्यक्ति से आरोपों की जांच कराना चाहती थी। अतः रियासती कांग्रेस ने जांच में भाग नहीं लिया। न्यायाधिपति अय्यर ने सरकार को जो रिपोर्ट दी, उसे कांग्रेस ने स्वीकार न किया, और इससे आन्दोलन के लिए नया आधार मिल गया।

अव 1940 (का वर्ष) समाप्त होनेवाला था। यूरोपीय युद्ध पूरे जोर पर था, जिससे सांविधानिक सुधारों की मांग पृष्ठ भूमि में चली गयी थी।

मैसूर के मामलों की दूसरी अवस्था अगस्त 1942 में कांग्रेस के "भारत छोड़ो" आन्दोलन के साथ आरम्भ हुई। मैसूर की जनता ने इस आन्दोलन में जितना भाग लिया उतना और किसी रियासत की जनता ने नहीं लिया। महात्मा गांधी तथा अन्य वरिष्ठ कांग्रेसी नेताओं की गिरफ़्तारी के तुरन्त वाद रियासत भर में स्वेच्छा-प्रसूत प्रदर्शन हुए, विद्रोह हुए और उपद्रव हुए। अधिकांश शिक्षा-संस्थायें और औद्योगिक प्रतिष्ठान या तो सर्वथा पंगु होगये या उनके कार्य पर गम्भीर प्रभाव पड़ा। अपने नेताओं की गिरफ़्तारी के विरोध में कर्मचारियों द्वारा दो सप्ताह की हड़ताल कर देने से 17 औद्योगिक संस्थानों में काम विलकुल ठप्प हो गया। व्यापक उपद्रवों के कारण डाक-तार आदि संचार साधनों को भी क्षति पहुंची। सरकार ने अपने शस्त्रागार से प्रतिवन्ध और दमन के सभी शस्त्रास्त्र निकाल लिए। बंगलौर के चार दैनिक समाचारपत्रों के सम्पादक गिरफ़्तार कर लिये गये और समाचारपत्रों का प्रकाशन रोक दिया गया। वीसियों कर्मचारी वर्खास्त कर दिये गये। गिरफ़्तारियों की कुल संख्या 2000 से भी ऊपर चली गयी। उपद्रवों के कारण 100 से अधिक व्यक्ति संघर्ष में या पुलिस की गोली से मर गये। सितम्बर के अन्त तक रियासत के कई भागों में स्थिति सामान्य नहीं हो पायी थी।

सवसे अधिक प्रसिद्ध और वास्तव में "खूनी" घटना शिमोगा जिले के ईसूर ग्राम में घटी। इस क्षेत्र की जनता उत्साह और देशभक्ति की उत्कटता से पागल हो गयी थी। 26 सितम्बर को ग्रामवासी एकत्र हुए और उन्होंने समस्त ग्राम-अधिकारियों

को गिरफ़्तार करके अपने ग्राम को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। उन्होंने एक समानान्तर सरकार भी स्थापित कर ली। परन्तु यह सरकार केवल दो दिन काम कर सकी। 28 सितम्बर को एक विशाल पुलिस दल जिले के मुख्यालय से आ धमका। लोगों ने आवेशपूर्ण शब्दों और नारों से उसका स्वागत किया। फिर क्या था लाठी-वर्षा की झड़ी लग गयी। उसके तुरन्त बाद मैसूर के सैनिक दल ने भारी गोली-वर्षा की। "एक पक्ष तक उस ग्राम पर आतंक का राज्य छाया रहा, जिसका एकमात्र अपराध यह था कि वह देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ा था। अपराधी और निरपराध सभी अन्धाधुन्ध गिरफ़्तार कर लिये गये। पुलिस ने जो चाहा सो किया। जो लोग शान्ति और व्यवस्था के रक्षक माने जाते थे, उन्होंने बाक़ायदा लूट की।"[1]

इन अत्याचारों में बहुत से आदमी मारे गये और कम से कम 100 गिरफ़्तार किये गये। इनमें से अनेक पर हत्या और आगजनी के अपराध में मुकदमा चलाया गया। अन्त में 5 ग्राम-नेताओं को प्राणदण्ड का आदेश दिया गया और उन्हें फांसी दे दी गयी।

1946 में, जब संशोधित संविधान के अनुसार, सरकार में उत्तरदायी मन्त्री नियुक्त किये गये, तब कहीं जनता और मैसूर की सरकार में समझौते के लक्षण दिखायी दिये। फिर भी, कुछ विभाग सुरक्षित ही रहने दिये गये। कहीं दूसरे साल जाकर विधान सभा के प्रति पूर्णतया उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो पायी। इस सरकार के कर्णधार मैसूर रियासती कांग्रेस के प्रतिनिधि के० सी० रेड्डी थे, जो मैसूर के प्रथम मुख्य मन्त्री बने।

पंजाब की रियासतें

पिछड़ेपन और नागरिक स्वतन्त्रता-निषेध की दृष्टि से पटियाला, झींद, नाभा, फरीदकोट, कपूरथला और मलेरकोटला आदि पंजाब की रियासतें सबसे आगे कही जा सकती हैं। आमतौर से सभी रियासतें पिछड़ी थीं; परन्तु पंजाब की रियासतें तो सबसे अधिक पिछड़ी हुई थीं। पटियाला में जनता समय-समय पर कतिपय निषेधक कानूनों का विरोध करती रही थी। परन्तु कोई प्रतिरोध-आन्दोलन केवल इसलिए संगठित न किया जा सका क्योंकि रियासती प्रशासन इतना अधिक क्रूर था कि वह

[1]वही—पृ० 31

इस प्रकार की किसी चीज के लिए अनुमति ही न देता था।[1] पटियाला के प्रजा मण्डल कार्यकर्त्ताओं ने निराश होकर महात्मा गांधी से सहायता की प्रार्थना की। उनका पत्र और तत्पश्चात् महाराजा पटियाला के साथ गांधी जी का पत्रव्यवहार बाद में "हरिजन" में प्रकाशित किया गया।

जनता की मुख्य शिकायत एक नये कानून के विरुद्ध थी, जो "हिदायत 1938" कहलाता था। इसने जनता की नागरिक स्वतन्त्रता को काट-छांट कर न्यूनतम बना दिया था। इस कानून के अनुसार प्रजामण्डल के कार्यकर्त्ता किसी प्रकार का कोई प्रचार-कार्य नहीं कर सकते थे। इस हिदायत के विरुद्ध आन्दोलन करने के सिलसिले में बहुत से कार्यकर्त्ता गिरफ्तार कर लिये गये। उनके साथ जेल में जो व्यवहार किया गया वह अत्यन्त कठोर और क्रूरतापूर्ण था। इस आन्दोलन के अलावा, रियासत में, जमींदारों के खिलाफ किसानों का एक और आन्दोलन उसी वर्ष 1939 में शुरू हो गया।

अगस्त 1939 में प्रजामण्डल के कार्यकर्त्ताओं का एक शिष्टमण्डल महाराजा से मिला। बातचीत के सिलसिले में महाराजा ने उनसे कहा :—

> "मेरे पूर्वजों ने तलवार के जोर से रियासत जीती है और तलवार के जोर से ही मैं इसे रखने के लिए कृतनिश्चय हूं। मैं अपनी प्रजा का प्रतिनिधित्व करने के लिए अथवा उसकी ओर से बोलने के लिए किसी संगठन को मान्यता नहीं देता। प्रजामण्डल जैसा कोई संगठन रियासत के अन्दर नहीं रहने दिया जा सकता। यदि आप कांग्रेस का काम करना चाहते हैं, तो रियासत से बाहर चले जाइये। कांग्रेस केवल ब्रिटिश सरकार को भयभीत कर सकती है। परन्तु यदि यह कभी मेरी रियासत में हस्तक्षेप करने की कोशिश करेगी, तो वह मुझे भयानक प्रतिरोध करनेवाला पायेगी। मैं अपनी सीमा में अपने झंडे के अलावा और किसी झंडे का फहराया जाना सहन नहीं कर सकता। आप अपने प्रजा-मण्डल की गतिविधियों को बन्द कर दीजिये, अन्यथा मैं ऐसा दमनचक्र चलाऊंगा

---

[1]पंजाब की रियासती जनता के नेता अक्सर रियासतों की हालत की तुलना पंजाब की हालत से किया करते थे। इस बात से कोई असहमत न था कि जहाँ पंजाब में सत्याग्रह का अर्थ था सार्वजनिक सम्मान और लगभग विशिष्ट अतिथि जैसा व्यवहार, वहाँ पंजाब की रियासतों में सदा इसका अर्थ था अकथनीय यातनायें, कुछ पिटाई और गन्दी गालियाँ।

कि आपकी आनेवाली पीढ़ियां भी उसे न भूल सकेंगी। जब मैं अपने कुछ प्रिय प्रजाजनों को एक दूसरे मार्ग पर जाते देखता हूं तो मेरा हृदय क्षुब्ध हो जाता है। मैं आपको सलाह देता हूं कि आप प्रजामण्डल से अलग हो जायें और सब प्रकार का आन्दोलन बन्द कर दें। अन्यथा, याद रखिये, मैं एक सैनिक आदमी हूं; मेरी बातें रूखी हैं और मेरी गोली सीधी।"[1]

ये चीजें थीं, जिनके विरोध में पटियाला की जनता उठ खड़ी हुई थी। इससे पहले 1934-35 में पटियाला रियासत के किसानों और किरायेदारों ने जमींदारों के कुछ आपत्तिजनक रिवाजों का संगठित रूप से प्रतिरोध किया था। आन्दोलन में भाग लेने के कारण कुछ किसान और प्रजामण्डल के कार्यकर्त्ता पकड़े गये थे। एक कार्यकर्त्ता, सेवासिंह ठीकरीवाला,[2] जिसे इस सम्बन्ध में सजा हो गयी थी, जेल से कभी बाहर ही नहीं आया। उसके विषय में बताया गया कि वह पुलिस द्वारा दी गयी यन्त्रणाओं के कारण मर गया। बृषभान की अध्यक्षता में रियासती प्रजा मण्डल कभी खुल कर अपना काम नहीं कर सका। उसे अक्सर गैर-कानूनी संस्था के रूप में कार्य करना पड़ता था और रियासती सरकार के चंगुल से बचने के प्रयत्न में अनेक आघात सहने पड़ते थे।

नाभा, झींद और फरीदकोट की छोटी रियासतों के विषय में तो जितना कम कहा जाय उतना ही अच्छा। इन सब रियासतों में, 1930 से आरम्भ होनेवाले पूरे दशक में जनता में नागरिक स्वतन्त्रता के निषेध के विरुद्ध और किसानों में उन जमींदारों के लालच के विरुद्ध असन्तोष के लक्षण दिखाई देते रहे, जिन्हें रियासती सरकारों

---

[1]एम० के० गाँधी—"दी इंडियन स्टेट्स प्राब्लम"—पृ० 368

[2]सेवासिंह ठीकरीवाला रियासती प्रजामण्डल का अध्यक्ष था। उसने 1930 में लुधियाना में पंजाब रियासती प्रजा परिषद के सम्मेलन की अध्यक्षता की थी वह तत्काल पटियाला सरकार द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया था, परन्तु पंजाब में आन्दोलन के फलस्वरूप 1931 में छोड़ दिया गया था। 1933 में वह फिर पकड़ लिया गया और उसे 6 वर्ष के कठोर कारावास का दण्ड दिया गया। जेल में उसके साथ जो व्यवहार किया गया वह एकदम अमानुषिक और अत्यन्त क्रूरतापूर्ण था। 1934 में उसने जेल में भूख हड़ताल कर दी और वहीं ऐसी परिस्थितियों में मर गया, जिनसे अनेक प्रकार के अनुमान लगाये जाने लगे। "इन्डिक्टमेंट आफ पटियाला" —पृ० 19-20

का समर्थन प्राप्त था। कभी-कभी मामूली से प्रदर्शन भी हुए, परन्तु उनके दवाने के लिए वास्तव में जितनी शक्ति आवश्यक थी, उससे दस गुनी शक्ति से दवा दिये गये। ऐसी परिस्थितियों में किसी प्रकार का संगठित विरोध सम्भव न था।

नाभा जेल में जवाहरलाल नेहरू के अपनी नजरबन्दी और मुकदमे सम्बन्धी अनुभव से हमें उन परिस्थितियों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है, जो 1920 से आरम्भ होनेवाले दशक में पंजाब की इन रियासतों में मौजूद थीं। रियासती सरकार के आदेश का उल्लंघन करके जवाहरलाल रियासती क्षेत्र में घुस गये थे, जिससे उन्हें गिरफ़्तार कर लिया गया और उनपर षड्यन्त्र का आरोप लगा कर मुकदमा चला दिया गया। उनके हाथों में हथकड़ियां डाल दी गयीं और हवालात में बन्द कर दिया गया। दो सप्ताह तक हवालात और जेल में रहने तथा एक तथाकथित अदालत में मुकदमा चलने से जवाहरलाल को जो अनुभव हुआ, उसके विषय में वे लिखते हैं :—

> "दो या तीन दिन वाद हमें अपने मुकदमे के लिए अदालत ले जाया गया और वहां अत्यन्त असाधारण एवं गिलवर्टी ढंग की (हास्यास्पद एवं ऊटपटांग) कार्रवाई रोज-रोज चलती रही। मजिस्ट्रेट या जज निपट अशिक्षित मालूम पड़ता था। वह अंग्रेजी तो निश्चय ही नहीं जानता था, परन्तु अदालती भाषा, उर्दू लिखना जानता था या नहीं मुझे इसमें भी सन्देह है।"

नेहरू ने अदालत को जो लिखित आवेदनपत्र दिये, वे देखे भी नहीं गये और उन्हें बाहर से वकील लाने की भी अनुमति नहीं दी गयी। परन्तु इन सब बातों को उन्होंने खुशी-खुशी सह लिया। इस घटना का उल्लेख करते हुए वे अपनी आत्मकथा में लिखते हैं :—

> "अधिकांश देशी रियासतें अपने पिछड़ेपन और अपनी अर्धसामन्ती हालत के लिए प्रसिद्ध हैं। वे अपनी व्यक्तिगत स्वेच्छाचारिता के लिए भी प्रसिद्ध हैं, जिसमें योग्यता अथवा उदारता तक का अभाव है। वहां बहुत सी विचित्र बातें होती रहती हैं, जो कभी प्रकाश में नहीं आतीं। फिर भी शासकों की अयोग्यता बुराई को कुछ कम कर देती है और उनकी दुःखी प्रजा के भार को हल्का कर देती है। कारण, वही अयोग्यता उनकी दुर्बल कार्यपालिका में प्रतिविम्बित होती है, जिसके फलस्वरूप अत्याचार और अन्याय में भी अयोग्यता

आ जाती है। इससे अत्याचार अधिक सह्य तो नहीं होता, पर फैलाव और व्यापकता में कम हो जाता है।"[1]

लोहारू की छोटी रियासत राजस्थान की सीमा पर है, परन्तु पंजाब की रियासतों में परिगणित होती है। यहां प्रजामण्डल के कार्यकर्त्ताओं ने रियासती सरकार द्वारा लगाये गये कुछ करों के विरोध का निश्चय किया। इनमें से एक कर का नाम था "ऊंट कर"—जो कोई ऊंट रखता या इस्तैमाल करता उसे कर देना पड़ता था। प्रजा मण्डल के कार्यकर्त्ताओं ने इस कर के विरुद्ध प्रदर्शन किया। रियासती सरकार ने प्रदर्शनकारियों पर गोली चला दी, जिससे तत्काल 20 आदमी मर गये। यह घटना 1935 में हुई। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद द्वारा रियासती सरकार की आलोचना के फलस्वरूप बाद में इनमें से कुछ कर हटा दिये गये।

झींद और कपूरथला रियासतों में भी कृषक-असन्तोष जन-आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। वास्तव में झींद में असन्तोष की भावना अधिक व्यापक थी, क्योंकि रियासत का मुख्य मन्त्री, बिहारीलाल धींगरा, अलोकप्रिय था तथा शासक अत्यन्त अयोग्य एवं उदासीन था। 1936-37 का आन्दोलन, जो आसानी से ग्रामीण क्षेत्रों तक ही सीमित रह सकता था, मुख्य मन्त्री की समानता की विकृत भावना के कारण नागरिक जनता में भी फैल गया। अधिकांश देशी रियासतों के किसान की भांति झींद का किसान भी जमीदारों या जागीरदारों के शोषण-दोहन का शिकार बना हुआ था। राजस्थान की सीमा पर झींद रियासत के जिला दादरी के किसान सबसे अधिक पीड़ित थे। रियासती सरकार उनके कष्टों पर कोई ध्यान नहीं देती थी। राहत के लिए उनकी निरन्तर मांग का उत्तर उसने नगर-निवासियों पर भी, सोद्देश्य अथवा अकस्मात्, करभार बढ़ा कर दिया।

इस व्यापक असन्तोष की भावना ने रियासती प्रजा मण्डल के लिए प्रशासन में सुधार के पक्ष में लोकमत संगठित करने के वास्ते पर्याप्त अच्छा साधन उपस्थित कर दिया। मण्डल की सबसे पहली मांग यह थी कि मुख्य मन्त्री को हटाया जाय। जब शासक को दिये गये आवेदनपत्र निष्फल सिद्ध हो गये तो वे राजनीतिक विभाग के पास गये। परन्तु जब कहीं कोई सुनवाई न हुई, तो उन्होंने आन्दोलन और प्रदर्शन का मार्ग अपना लिया। रियासती सरकार ने इसका उत्तर दमन से दिया, जिसके फलस्वरूप प्रदर्शनकारियों के विरुद्ध बलप्रयोग किया गया और प्रजा मण्डल के नेताओं

---

[1]जवाहरलाल नेहरू—"एन आटोबायोग्राफी"—पृ० 113

की अन्धाधुन्ध गिरफ़्तारियां की गयीं। पंजाब रियासती प्रजा मण्डल ने भी झींद की जनता का पक्ष लिया; परन्तु विशुद्ध परिणाम यह था कि कभी-कभी सुधार के वचन दे दिये जाते थे, जो कभी पूरे नहीं होते थे और प्रजा मण्डल के कुछ कार्यकर्त्ता छोड़ दिये जाते थे।

कपूरथला में भी असन्तोष का कारण रियासत की कृषिनीति थी, जो कृषक वर्ग की अपेक्षा जमींदार वर्ग के पक्ष में अधिक थी। रियासत का सबसे अधिक कुप्रभावित क्षेत्र सुल्तानपुर की तहसील था, जहां किसानों को 1938 में विद्रोह करना पड़ा। महाराजा तभी अपनी वार्षिक विदेश-यात्रा से वापस आया था। उसने आते ही शिकायतों की जांच करने के लिए एक जांच समिति नियुक्त की। सुल्तानपुर के किसानों की मांगें पूरी तो हुईं, पर केवल अंशतः, फिर भी परिणाम अन्य पंजाब रियासतों की अपेक्षा अच्छा ही था। कपूरथला रियासती प्रजा मण्डल पंजाब की किसी भी दूसरी रियासत के प्रजा मण्डल से अधिक सक्रिय था, और अधिकतर उसीके प्रयत्नों के फलस्वरूप महाराजा ने एक विधान सभा स्थापित की, यद्यपि उसके आधे से भी कम सदस्य निर्वाचित होते थे।

नाभा रियासत 1923 से 1937 तक अर्थात् लगभग 15 वर्ष तक राजनीतिक विभाग के सीधे प्रशासन में रही। परन्तु उसकी भी हालत अन्य रियासतों की अपेक्षा अच्छी न थी। 1935 तक रियासत में कोई प्रतिनिधिक संस्था न थी; न कोई म्युनिसिपल कमेटी थी और न कोई जिला बोर्ड था। किसी भी राजनीतिक गतिविधि की असह्यता के लिहाज से यह रियासत पंजाब की अन्य सभी रियासतों में आगे थी। प्रशासक वस्तुतः "राजा" से भी ऊपर राजा था, और प्रजा मण्डल को कुछ भी नहीं करने देता था। आन्दोलन का सूक्ष्म संकेत भी सरकार के विरुद्ध विद्रोह माना जाता था और आन्दोलनकारियों को सींखचों में बन्द कर दिया जाता था। नाभा प्रजा-मण्डल के सन्तराम तथा अन्य नेताओं को अनेक बार जेल जाना पड़ा।

राजस्थान के अन्दर भी नाभा की एक तहसील थी, जिसका नाम अटेली था। यद्यपि अटेली की मंडी बहुत बड़ी और समृद्ध थी, पर किसान अति निर्धन और पिछड़े थे। रियासत के मुख्य भाग से अलग पड़ जाने के कारण, केवल अधिकारी ही नहीं, नाभा के धनी लोग भी किसानों का शोषण करते थे। अटेली की जनता ने रियासती सेवाओं में अपने प्रतिनिधित्व के लिए तथा प्रशासन में सुधार के लिए कुछ संगठित प्रयत्न भी किये। कभी-कभी ये प्रयत्न आन्दोलन और असहयोग का रूप धारण कर

लेते थे। इसके फलस्वरूप एक बार जनता को हड़ताल करनी पड़ी और किसानों ने "लगान न दो" आन्दोलन छेड़ दिया।

पंजाब की पहाड़ी रियासतें

पंजाब की पहाड़ी रियासतें, जो आमतौर से शिमला पहाड़ी रियासतें कहलाती थीं, ऐसे पृथगवस्थित क्षेत्रों का जमघट थीं जिनका क्षेत्रफल केवल 20 वर्गमील से 3000 वर्गमील तक था। संचार के अभाव तथा पहाड़ों की निविड़ता ने शताब्दियों तक उन्हें जीवन की मुख्य धारा से पृथक् रखा। यह भाग्य की विडम्बना है कि वहाँ भारत सरकार की ग्रीष्म ऋतु की राजधानी की उपस्थिति भी उस पार्थक्य को भंग न कर सकी। राणा लोग, जो किसी प्रकार की सन्धि-व्यवस्था के अनुसार 1815 से इन रियासतों पर शासन कर रहे थे, केवल अपने ही लिए जी रहे थे। सच कहा जाय तो उनमें से अधिकांश के पास किसी प्रकार के प्रशासन के कोई साधन ही न थे। उनमें से जो अपेक्षाकृत साधनसम्पन्न थे, वे उतने ही स्वेच्छाचारी और जनकल्याण के प्रति उदासीन थे, जितने अन्य सामन्ती सरदार। लोगों को कड़ी चट्टानों में कठिन परिश्रम और सख़्त काम करना पड़ता था, और वे मुश्किल से जीविकोपार्जन कर पाते थे। इन लघु-रियासतों की राजस्व-प्रणाली और कृषि-नीति ऐसी थी कि दुर्भिक्ष और सुभिक्ष दोनों का लाभ शासक को ही मिलता था। जहां तक अपना खजाना भरने के लिए कर वसूल करने का प्रश्न था, ये शासक "चित भी मेरी, पट भी मेरी, अंटा मेरे बाप का" की नीति का अनुसरण करते थे। इन्हीं कठिनाइयों का मुकाबिला करने के लिए, 1937 में हिमालय रियासती प्रजा संघ की स्थापना हुई। सिरमूर, कलसिया, मंडी, चम्बा आदि कुछ रियासतों में काम करनेवाले प्रजा मण्डल भी उसीसे सम्बद्ध हो गये। इनमें सबसे अधिक सक्रिय सिरमूर का प्रजामण्डल था, जिसके प्रमुख कार्यकर्त्ता वाई० एस० परमार, रतरा, और शेर जंग थे। अधिकतर इन्हीं लोगों के प्रयास के फलस्वरूप सिरमूर प्रजामण्डल कई वर्षों तक लोक सेवा में सक्रिय रहा। 1930 से आरम्भ होनेवाले दशक में तथा 1940 से आरम्भ होने वाले दशक के आरम्भ में उसने रियासत की कृषि-नीति के विरुद्ध सफल अभियान संगठित किये। प्रायः परमार के ही प्रयत्नों के फलस्वरूप अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने सिरमूर रियासत के मामलों पर विशेष ध्यान दिया, 1945-46 में, डा० पट्टाभि सीतारामय्य, जयनारायण व्यास आदि कुछ अखिल भारतीय नेता भी रियासत की राजधानी नाहन गये।

परन्तु, शिमला पहाड़ी रियासतों के ताजा इतिहास में सबसे बुरी घटना धामी की छोटी रियासत में हुई। 1939 में धामी के किसान राणा और उसके अधिकारियों से इतने क्रुद्ध हो उठे कि उनमें से कुछ सौ अपनी शिकायतें खुद पेश करने के लिए महल की ओर चल पड़े। ध्यान से उनकी बात सुनने के बजाय, राणा ने अपनी पिस्तौल उठाई और निशाना लगा कर उन पर गोलियां दागनी शुरू कर दीं। चार आदमी वहीं ढेर हो गये और अनेक घायल हो गये। इस घटना ने हिमालय रियासती संघ का ध्यान आकर्षित किया, जिसके प्रधान और कोई नहीं, उग्र संसद्-वक्ता, सत्यमूर्ति, विधान सभा सदस्य (एम० एल० ए०) थे। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने एक जांच-समिति नियुक्त की, जिसने अपनी रिपोर्ट में धामी के राणा की निन्दा की और सर्वोच्च सत्ता से निवेदन किया कि वह प्रशासन के प्रयोजन के लिए समस्त छोटी-छोटी रियासतों को मिला दे।

इन पहाड़ी रियासतों में कृषक-असन्तोष की दृष्टि से पहला स्थान कलसिया को मिलना चाहिए। यह छोटी रियासत जगाधरी के पास यमुना के किनारे स्थित थी। इसका एक भाग पंजाब में फीरोजपुर जिले के अन्दर था। इसका नाम चिराक था। यद्यपि इस भाग में कुछ ही बीसी गांव थे, पर था यह बहुत उपजाऊ; और खेती-बाड़ी की दृष्टि से यह रियासत के अन्य भागों से बहुत बढ़ा-चढ़ा था। चिराक की जनता वर्षों से राजस्व-प्रणाली में ऐसे परिवर्तनों के लिए जोर दे रही थी, जिनसे वह पंजाब की राजस्व प्रणाली के समान हो जाय; क्योंकि वह चारों ओर पंजाब से घिरी हुई थी। कलसिया की कृषि-नीति से उसे बहुत हानि हो रही थी। जब रियासत ने चिराक की जनता की प्रार्थनाओं और आवेदनों को सुना-अनसुना कर दिया, तो उसने 1938 में "लगान न दो" आन्दोलन छेड़ दिया। महीनों तक वह अधिकारियों के कर-वसूली के प्रयत्नों का प्रतिरोध करती रही। बहुत से लोग गिरफ़्तार कर लिये गये और उन्हें कड़ी यातनायें दी गयीं। परन्तु पंजाब रियासती प्रजा मण्डल और पंजाब के जनमत का समर्थन मिल जाने के कारण आन्दोलनकारियों ने घुटने नहीं टेके। अन्त में वे अपनी शिकायतें दूर कराने में सफल हो गये। रियासत को झुकना पड़ा, और भूराजस्व-नीति में वही संशोधन करना पड़ा, जिसकी जनता मांग कर रही थी।

मध्यभारत की रियासतें

जिन रियासतों का हमने अभी तक उल्लेख नहीं किया, उनमें सबसे बड़ा समूह मध्य भारत की रियासतों का हैं। इन रियासतों में से ग्वालियर, इन्दौर और भोपाल

लेते थे। इसके फलस्वरूप एक बार जनता को हड़ताल करनी पड़ी और किसानों ने "लगान न दो" आन्दोलन छेड़ दिया।

पंजाब की पहाड़ी रियासतें

पंजाब की पहाड़ी रियासतें, जो आमतौर से शिमला पहाड़ी रियासतें कहलाती थीं, ऐसे पृथगवस्थित क्षेत्रों का जमघट थीं जिनका क्षेत्रफल केवल 20 वर्गमील से 3000 वर्गमील तक था। संचार के अभाव तथा पहाड़ों की निविड़ता ने शताब्दियों तक उन्हें जीवन की मुख्य धारा से पृथक् रखा। यह भाग्य की विडम्बना है कि वहाँ भारत सरकार की ग्रीष्म ऋतु की राजधानी की उपस्थिति भी उस पार्थक्य को भंग न कर सकी। राणा लोग, जो किसी प्रकार की सन्धि-व्यवस्था के अनुसार 1815 से इन रियासतों पर शासन कर रहे थे, केवल अपने ही लिए जी रहे थे। सच कहा जाय तो उनमें से अधिकांश के पास किसी प्रकार के प्रशासन के कोई साधन ही न थे। उनमें से जो अपेक्षाकृत साधनसम्पन्न थे, वे उतने ही स्वेच्छाचारी और जनकल्याण के प्रति उदासीन थे, जितने अन्य सामन्ती सरदार। लोगों को कड़ी चट्टानों में कठिन परिश्रम और सख्त काम करना पड़ता था, और वे मुश्किल से जीविकोपार्जन कर पाते थे। इन लघु-रियासतों की राजस्व-प्रणाली और कृषि-नीति ऐसी थी कि दुर्भिक्ष और सुभिक्ष दोनों का लाभ शासक को ही मिलता था। जहां तक अपना खजाना भरने के लिए कर वसूल करने का प्रश्न था, ये शासक "चित भी मेरी, पट भी मेरी, अंटा मेरे बाप का" की नीति का अनुसरण करते थे। इन्हीं कठिनाइयों का मुकाबिला करने के लिए, 1937 में हिमालय रियासती प्रजा संघ की स्थापना हुई। सिरमूर, कलसिया, मंडी, चम्बा आदि कुछ रियासतों में काम करनेवाले प्रजा मण्डल भी उसीसे सम्बद्ध हो गये। इनमें सबसे अधिक सक्रिय सिरमूर का प्रजामण्डल था, जिसके प्रमुख कार्यकर्त्ता वाई० एस० परमार, रतरा, और शेर जंग थे। अधिकतर इन्हीं लोगों के प्रयास के फलस्वरूप सिरमूर प्रजामण्डल कई वर्षों तक लोक सेवा में सक्रिय रहा। 1930 से आरम्भ होनेवाले दशक में तथा 1940 से आरम्भ होने वाले दशक के आरम्भ में उसने रियासत की कृषि-नीति के विरुद्ध सफल अभियान संगठित किये। प्रायः परमार के ही प्रयत्नों के फलस्वरूप अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने सिरमूर रियासत के मामलों पर विशेष ध्यान दिया, 1945-46 में, डा० पट्टाभि सीतारामय्य, जयनारायण व्यास आदि कुछ अखिल भारतीय नेता भी रियासत की राजधानी नाहन गये।

परन्तु, शिमला पहाड़ी रियासतों के ताजा इतिहास में सबसे बुरी घटना धामी की छोटी रियासत में हुई। 1939 में धामी के किसान राणा और उसके अधिकारियों से इतने क्रुद्ध हो उठे कि उनमें से कुछ सौ अपनी शिकायतें खुद पेश करने के लिए महल की ओर चल पड़े। ध्यान से उनकी बात सुनने के बजाय, राणा ने अपनी पिस्तौल उठाई और निशाना लगा कर उन पर गोलियां दागनी शुरू कर दीं। चार आदमी वहीं ढेर हो गये और अनेक घायल हो गये। इस घटना ने हिमालय रियासती संघ का ध्यान आकर्षित किया, जिसके प्रधान और कोई नहीं, उग्र संसद्-वक्ता, सत्यमूर्ति, विधान सभा सदस्य (एम० एल० ए०) थे। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने एक जांच-समिति नियुक्त की, जिसने अपनी रिपोर्ट में धामी के राणा की निन्दा की और सर्वोच्च सत्ता से निवेदन किया कि वह प्रशासन के प्रयोजन के लिए समस्त छोटी-छोटी रियासतों को मिला दे।

इन पहाड़ी रियासतों में कृषक-असन्तोष की दृष्टि से पहला स्थान कलसिया को मिलना चाहिए। यह छोटी रियासत जगाधरी के पास यमुना के किनारे स्थित थी। इसका एक भाग पंजाब में फीरोजपुर जिले के अन्दर था। इसका नाम चिराक था। यद्यपि इस भाग में कुछ ही बीसी गांव थे, पर था यह बहुत उपजाऊ; और खेती-बाड़ी की दृष्टि से यह रियासत के अन्य भागों से बहुत बढ़ा-चढ़ा था। चिराक की जनता वर्षों से राजस्व-प्रणाली में ऐसे परिवर्तनों के लिए जोर दे रही थी, जिनसे वह पंजाब की राजस्व प्रणाली के समान हो जाय; क्योंकि वह चारों ओर पंजाब से घिरी हुई थी। कलसिया की कृषि-नीति से उसे बहुत हानि हो रही थी। जब रियासत ने चिराक की जनता की प्रार्थनाओं और आवेदनों को सुना-अनसुना कर दिया, तो उसने 1938 में "लगान न दो" आन्दोलन छेड़ दिया। महीनों तक वह अधिकारियों के कर-वसूली के प्रयत्नों का प्रतिरोध करती रही। बहुत से लोग गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें कड़ी यातनायें दी गयीं। परन्तु पंजाब रियासती प्रजा मण्डल और पंजाब के जनमत का समर्थन मिल जाने के कारण आन्दोलनकारियों ने घुटने नहीं टेके। अन्त में वे अपनी शिकायतें दूर कराने में सफल हो गये। रियासत को झुकना पड़ा, और भूराजस्व-नीति में वही संशोधन करना पड़ा, जिसकी जनता मांग कर रही थी।

मध्यभारत की रियासतें

जिन रियासतों का हमने अभी तक उल्लेख नहीं किया, उनमें सबसे बड़ा समूह मध्य भारत की रियासतों का है। इन रियासतों में से ग्वालियर, इन्दौर और भोपाल

में संगठित प्रजा मण्डल आन्दोलन विद्यमान था। ग्वालियर और इन्दौर में अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की स्थापना के तुरन्त बाद ही प्रजामण्डल बन गये थे। परन्तु दो कारणों से, इन रियासतों में भी, स्वतन्त्रता आन्दोलन या तो प्रायः सुषुप्तावस्था में पड़ा रहा या दबा रहा। पहला कारण तो यह था कि इन रियासतों के प्रशासन का आधार कुछ बड़ा था और इनके शासक अपेक्षाकृत प्रबुद्ध थे। यद्यपि प्रतिनिधिक संस्थायें बहुत कम और विरल थीं, फिर भी 1930 और 1940 से आरम्भ होने वाले दशकों में किसी भी समय सांविधानिक सुधारों अथवा अच्छे शासन के लिए किया जाने-वाला कोई आन्दोलन जनता का समर्थन जैसी कोई चीज प्राप्त न कर सका। सुधारों तथा उत्तरदायी शासन के लिए मांगें निःसन्देह की जाती रहीं ; परन्तु जनसाधारण का समर्थन न मिलने के कारण उस ढंग के जन-आन्दोलन न हो सके, जैसे जयपुर, मैसूर या त्रावणकोर में हुए।

दूसरा कारण यह था, कि जोधपुर, बीकानेर तथा राजपूताना की कुछ अन्य रियासतों के विपरीत, ग्वालियर और इन्दौर में प्रजा मण्डलों का आन्दोलन अधिकतर समाज के शिक्षित वर्ग तक ही सीमित था। वह समाज के निम्न स्तर तक कभी नहीं पहुंच पाया। देसी रियासतों के मानक से यह कहा जा सकता है कि इन रियासतों के शासक तथा सरकारें भी, यदि उत्तरदायी नहीं तो, कम से कम कर्णदायी अवश्य थे; जिससे यहां प्रजा मण्डलों को वह लोकप्रियता कभी नहीं मिल सकी, जो अधिकांश अन्य रियासतों में ऐसे ही संगठनों को मिली थी। वी० पी० मेनन के साक्ष्य से इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। वे कहते हैं—"मध्यभारत के कांग्रेस-संगठनों के प्रतिनिधि भी समय-समय पर मेरे पास आते रहे। परन्तु यहां यह कहना पड़ेगा कि ये संगठन शक्तिशाली नहीं थे, और ग्वालियर तथा इन्दौर को छोड़ कर अन्यत्र केवल नाममात्र की सत्ता रखते थे।

मेनन ने विकल्प रूप में ग्वालियर और इन्दौर के जिन संगठनों का उल्लेख किया है, वे भी इतने शक्तिशाली न थे कि वे किसी राजनीतिक प्रश्न को लेकर रियासत-व्यापी आन्दोलन छेड़ सकते। ग्वालियर में कुछ प्रमुख लोक नेता थे—मुख्य रूप से विजयवर्गीय और तख्तमल जैन—जो सर्वत्र आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। परन्तु यह कहना अत्युक्ति न होगा कि वे महाराजा के प्रति भी उतने ही निष्ठावान् थे, जितने अपने संगठन के प्रति। इसी प्रकार, इन्दौर में भी, वी० पी० द्राविड़ और मिश्रीलाल गंगवाल सरीखे नेता, विशेष रूप से मिश्रीलाल गंगवाल, इसी कोटि के थे। अतः स्वतन्त्रता से पहले के दश वर्षों में, जब अधिकांश रियासतों में बड़े पैमाने पर आन्दोलन

चल रहे थे, ग्वालियर और इन्दौर रियासतों में शायद ही कोई बड़ा उपद्रव हुआ हो। महाराजा ग्वालियर ने युद्ध की समाप्ति पर 1945 में द्वैध शासन स्वीकार कर जनमत को और भी अधिक मुलायम बना दिया। इस द्वैध शासन में कुछ विभाग लोकप्रिय मन्त्रियों को सौंप दिये गये और कुछ शासक द्वारा अपने मनोनीत व्यक्तियों के माध्यम से प्रशासित किये जाने के लिए सुरक्षित रख लिये गये।

फिर भी, प्रजा मण्डल के आन्दोलन को इन रियासतों में कुछ आधार मिला। 1942 में, जब अ० भा० रियासती प्रजा मण्डल के नेताओं ने युद्ध-प्रयत्न के विरोध में एवं भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में जनमत संगठित करने का प्रयत्न किया तो उसका प्रभाव भी यहां दृष्टिगोचर हुआ। उसके फलस्वरूप बहुत से जन-नेता पकड़ लिये गये और भिन्न-भिन्न अवधियों के लिए जेल भेज दिये गये।

इन्दौर के समीप झाबुआ, रतलाम और सैलाना की तीन रियासतों में 1940 से आरम्भ होने वाले दशक के शुरू में, दरबारों द्वारा प्रजा पर, विशेष रूप से गरीब किसानों पर, किये गये अत्याचारों और कुशासन के विरुद्ध काफी आन्दोलन हुए। 1941 में झाबुआ में जो एक भयंकर दुःखान्त घटना हुई, वह आन्दोलन और लोक-प्रतिरोध का तात्कालिक कारण बन गयी। 17 जून 1941 को जब भील किसानों का एक दल झाबुआ रियासत के क्षेत्र में होकर इन्दौर रियासत में स्थित बामनिया की मुक्त (फ्री) मंडी को जा रहा था तो बिदवाई (झाबुआ) के उत्पाद-शुल्क एवं सीमा-शुल्क अधीक्षक तथा रियासती पुलिस ने बिना सूचना दिये उस पर गोली चला दी, जिससे 3 आदमी मर गये और लगभग 40 सख्त घायल हो गये। उत्तेजना का एक-मात्र कारण यह था कि झाबुआ रियासत यह नहीं चाहती थी कि उस क्षेत्र की कृषि-उपज, विशेष रूप से कपास, बामनिया की शुल्कमुक्त मंडी में जाय। किसानों को अपनी कपास लेकर बामनिया जाने से रोकने का यही उपाय उन्हें सूझा।

झाबुआ रियासती प्रजा परिषद ने जनमत संगठित करने तथा पीड़ितों को राहत दिलाने के लिए अ० भा० रियासती प्रजा परिषद से सहायता की अपील की। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद् के मन्त्री डा० के० बी० मेनन ने डी० एन० काचरू को घटना के सम्बन्ध में रिपोर्ट देने के लिए झाबुआ भेजा। इस जांच के फलस्वरूप मामले से सम्बन्धित सभी तथ्य प्रकाश में आये और समाचारपत्रों में प्रकाशित हुए, जिससे रियासती जनता के आन्दोलन में बहुत तेजी आ गयी। प्रायः इसी आन्दोलन के फलस्वरूप दुःखद घटना के पीड़ितों को कुछ राहत मिली और झाबुआ होकर सुरक्षित रूप से बामनिया जाने-आने का आश्वासन मिला।

भोपाल की रियासती प्रजा परिषद काफी सुप्रतिष्ठित थी। उसकी स्थापना 1933 में हुई थी। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि रियासत का प्रशासन अच्छा था, परन्तु वहां सर्वथा नौकरशाही और स्वेच्छाचारिता का बोलबाला था। प्रजा की वहां कोई आवाज न थी। भोपाल रियासती प्रजा परिषद प्रशासन में लोकप्रिय तत्त्व का समावेश करने तथा रियासत में किसानों के लिए राहत दिलाने के वास्ते आन्दोलन करने लगी; विशेष रूप से उन किसानों के लिए, जो नवाब की निजी भूमि पर बसे हुए थे, जो हजारों एकड़ में फैली हुई थी। रियासती सरकार ने इन आन्दोलनों का प्रतिरोध किया और परिषद को गैरकानूनी घोषित कर दिया। उसके कार्यकर्त्ता गिरफ्तार कर लिये गये, और अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के गैर-भोपाली कार्यकर्त्ताओं के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

1940 में, जब प्रजा-परिषद के कार्यकर्त्ताओं ने कांग्रेस और अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के नेतृत्व में उत्तरदायी शासन की मांग की, तो भोपाल की दमन-नीति अपने उग्रतम रूप में प्रकट हुई। शाकिर अली खां, चतुर नारायण मालवीय, कुद्दस, सईद बाजमी तथा और भी कई परिषद-नेता गिरफ्तार कर लिये गये और लम्बी अवधि के लिए जेल भेज दिये गये।

इन नेताओं के साथ जेल में जो दुर्व्यवहार किया गया वह ऐसा परिवाद बन गया कि अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के प्रयत्नों से समाचारपत्रों को उनका पक्ष लेना पड़ा। जवाहरलाल नेहरू के दिल पर इतना असर हुआ कि उन्होंने नवाब को एक व्यक्तिगत पत्र लिखा और उसे जयनारायण व्यास के द्वारा उसके पास भेजा। जयनारायण व्यास 1941 में भोपाल गये। उसका कुछ असर हुआ। उसके बाद राजनीतिक बन्दियों के साथ अच्छा व्यवहार होने लगा, और उनमें से कुछ को 'ए' श्रेणी में रख दिया गया।

धुर 1947 तक भोपाल प्रजा परिषद एक सक्रिय संगठन बनी रही। उसके कार्यकर्ता रियासती सरकार के प्रतिबन्धों और दमन-कानूनों के बावजूद सांविधानिक सुधारों के लिए आन्दोलन करते रहे, यद्यपि उसके फलस्वरूप उन्हें अनेक कष्ट उठाने पड़े और अनेक यन्त्रणायें सहनी पड़ीं।

त्रावणकोर

देशी रियासतों में से दक्षिण भारत की रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिए रियासती जनता के संघर्ष का इतिहास समय की दृष्टि से सबसे पुराना है। लगभग

उसी समय, जबकि बम्बई में अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की स्थापना हो रही थी, त्रावणकोर तथा अन्य दक्षिण भारतीय रियासतों की जनता एक दक्षिण भारतीय रियासती प्रजा परिषद का गठन कर चुकी थी। इस परिषद का पहला अधिवेशन त्रावणकोर में 1929 में सर एम० विश्वेश्वरय्य की अध्यक्षता में हुआ। सम्मेलन ने त्रावणकोर में तथा अन्य दक्षिण भारतीय रियासतों में शासकों के संरक्षण में उत्तरदायी शासन की स्थापना की मांग की। सम्मेलन ने जो योजना बनायी उसमें ऐसी व्यवस्था थी कि विधान मंडल पूर्णतया निर्वाचित हों और मन्त्री विधान मण्डलों के प्रति उत्तरदायी हों।

इस सम्मेलन ने जो ज्योति जलायी उसी के प्रकाश के सहारे उसी वर्ष रियासती कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस ने सूत्र एकत्र किये और उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए आन्दोलन शुरु कर दिया। परन्तु इस आन्दोलन का कुछ अधिक फल न निकला। रियासती सरकार बहुत चालाक थी। उसने अन्य रियायतें देकर, विशेषरूप से साम्प्रदायिकता के आधार पर सेवाओं में अधिक प्रतिनिधित्व देकर, आन्दोलनकारियों को बहका दिया। सरकार की सुविचारित नीति के फलस्वरूप तथा कुछ अन्य कारणों से, जन-आन्दोलन एक दूसरी ही दिशा में चल पड़ा।

1937 में उत्तरदायी शासन का प्रश्न फिर उठा। यह प्रश्न डा० पट्टाभि सीतारामय्य की अध्यक्षता में त्रावणकोर जिला कांग्रेस समिति द्वारा आयोजित एक राजनीतिक सम्मेलन में उठाया गया। इस सम्मेलन के पश्चात्, स्वीकृत प्रस्ताव के क्रियान्वयन के लिए रियासती कांग्रेस ने त्रावणकोर रियासत में अनेक स्थानों पर सार्वजनिक सभायें कीं।

भारत राष्ट्रीय कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन द्वारा रियासतों के सम्बन्ध में स्वीकृत एक प्रस्ताव के फलस्वरूप एक बार स्थिति फिर बदली। इस प्रस्ताव की शर्तों के अनुसार, कांग्रेस ने देशी रियासतों में काम करने वाली अपनी विभिन्न शाखाओं की सम्बद्धता समाप्त कर दी और रियासतों के अन्दरूनी मामलों में हस्तक्षेप न करने की नीति फिर अपना ली। फलतः त्रावणकोर में त्रावणकोर रियासती कांग्रेस नाम का एक पृथक् संगठन स्थापित किया गया। वह यही संगठन था, जिसने फरवरी 1938 में उत्तरदायी शासन के लिए आन्दोलन करने का भार संभाला।

कुछ ही महीने बाद, त्रावणकोर के दीवान, सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर ने त्रावणकोर विधान सभा में एक वक्तव्य देते हुए कहा कि सन्धियों के अधीन ब्रिटिश सम्राट् के प्रति शासकों की जिम्मेदारियों के कारण रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन

स्वीकार करना सम्भव नहीं है। यद्यपि ब्रिटिश संसद में अर्ल विन्टरटन ने यह कह कर इसका प्रतिवाद कर दिया कि सर्वोच्च सत्ता की यह नीति नहीं है कि वह देशी रियासतों की सांविधानिक प्रगति के मार्ग में वाधा डाले; फिर भी सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर अपनी वात पर अड़ा रहा। अब से आगे वह रियासती कांग्रेस के विरुद्ध दमननीति का प्रयोग करता रहा। ज्यों ही रियासती कांग्रेस ने अपने संघर्ष के कार्यक्रम की घोषणा की, त्योंही सरकार ने त्रावणकोर के चार जिलों में से तीन में सार्वजनिक सभायें करने के विरुद्ध निषेधादेश जारी कर दिया। त्रावणकोर का एक प्रसिद्ध वकील, ए० नारायण पिल्लइ, गिरफ़्तार कर लिया गया और उसे राजद्रोह के अभियोग में 18 महीने के कारावास का दण्ड दे दिया गया।

दो महीने बाद, ज्यों ही निषेधादेश हटा, रियासती कांग्रेस ने सार्वजनिक सभायें करना शुरू कर दिया। इस बार कांग्रेस के विरुद्ध और भी अधिक खतरनाक हथियार का प्रयोग किया गया। सार्वजनिक सभाओं को भंग करने के लिए गुंडे रखे गये। इसके कारण जो रोष पैदा हुआ, उससे वस्तुतः कांग्रेस की शक्ति और बढ़ गयी। जब रियासती सरकार ने यह देखा कि उसकी चाल नहीं चली, तो उसने सार्वजनिक सभाओं पर फिर प्रतिबन्ध लगा दिया। रियासती कांग्रेस के विरुद्ध विरोधी संगठन खड़े करने के प्रयत्न किये गये। इनमें से कुछ संगठन अस्तित्व में तो आ गये पर उनकी जड़ें कभी नहीं जमीं। इनमें मुख्य थे--स्टेट पीपुल्स फेडरेशन, स्टेट पीपुल्स लीग और त्रावणकोर नेशनल कांग्रेस।

त्रावणकोर सरकार ने रियासती कांग्रेस के विरुद्ध जिस मुख्य शस्त्र का प्रयोग किया वह था यह नारा कि कांग्रेस ईसाई सम्प्रदाय की सहेली है। हिन्दुओं को उत्तेजित करने के लिए सरकार उस पर यह दोष लगाती थी कि वह त्रावणकोर में ईसाई राज स्थापित करना चाहती है। यद्यपि ईसाई त्रावणकोर रियासत की जनसंख्या में एक तिहाई से भी कम थे और रियासत में ईसाई राज स्थापित करने की बात कहना सरासर बेहूदापन था, फिर भी रियासती सरकार यह नारा बुलन्द करती ही रही। सचाई यह थी कि त्रावणकोर कांग्रेस हर दृष्टि से एक गैर-साम्प्रदायिक संस्था थी, और उसे सब सम्प्रदायों के लोगों का समर्थन प्राप्त था।

रियासती कांग्रेस की शक्ति दिन-प्रति-दिन बढ़ रही थी और उत्तरदायी शासन के नारे को सब वर्गों के लोगों का समर्थन मिल रहा था। अतः उसने निषेधादेशों की अवहेलना करके सार्वजनिक सभायें करने का निश्चय किया। इसका फल यह हुआ कि रियासती सरकार अपनी दमननीति के साथ खुल कर मैदान में आ गयी। कुछ

ही सप्ताहों में अनेक लाठी-चार्ज हुए और सेना एवं पुलिस ने रियासत के विभिन्न शहरों में 6 बार गोली चलायी। इन गोलीबारों में एक दर्जन से अधिक व्यक्ति मारे गये और 20 घायल हुए। रियासती विधान सभा के दो प्रमुख सदस्यों ने इन गोली-बारों के विरोध में अपने स्थानों से त्यागपत्र दे दिये। ये दोनों ही गैर-कांग्रेसी थे। इनके विचार से ये गोलीबार अनावश्यक ही नहीं, अनुचित भी थे। इसके अलावा एक ही महीने में कुछ सौ व्यक्तियों ने अपने आपको गिरफ्तार कराया। जो लोग गिरफ्तार हुए, उनमें से अधिकांश विभिन्न सम्प्रदायों के नेता थे। गिरफ्तार होने वालों में 15 रियासती विधान मण्डल के सदस्य थे। तीन समाचारपत्र, जिनकी प्रचार-संख्या अधिक थी, सरकार द्वारा बन्द कर दिये गये और रियासत के बाहर से आने वाले अनेक समाचारपत्रों के प्रवेश पर रोक लगा दी गयी। इस प्रकार जनता को आतंकित करने तथा त्रावणकोर रियासती कांग्रेस पर रोक लगाने में सरकार ने कोई कसर न छोड़ी।

त्रावणकोर में जो दुःखान्त नाटक हो रहा था, उसकी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस तथा देशभर के समाचारपत्रों ने निन्दा की। महात्मा गांधी को भी, जो अहस्तक्षेप-नीति के मुख्य निर्माता थे और रियासतों के शासकों के प्रसिद्ध हितचिन्तक थे,-बाध्य हो कर यह कहना पड़ा कि यदि यह मान भी लिया जाय कि दमन की आवश्यकता है, फिर भी त्रावणकोर सरकार आवश्यकता से बहुत अधिक दमन का प्रयोग कर रही है। दमन-नीति के विरोध में महाराजा से की गयी उनकी अपील की कोई सुनवाई नहीं हुई। महात्मा गांधी ने रियासती सरकार की इस बात के लिए विशेष रूप से आलोचना की कि उसने श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय का रियासत में प्रवेश रोक दिया जो "प्रथम श्रेणी की युक्ति-सम्बन्धी भूल" थी।

अन्त में, जनमत के दबाव से, रियासती सरकार को बाध्य होकर अपनी नीति में थोड़ी ढील देनी पड़ी।[1] अक्टूबर 1938 में, महाराजा के जन्मदिवस पर त्रावणकोर में सविनय अवज्ञा आन्दोलन के बन्दियों को आम क्षमादान दे दिया गया। फिर भी वातावरण तनावपूर्ण बना रहा। रियासती कांग्रेस के नेता अनेक स्थानों पर हुए गोली-कांडों की निष्पक्ष जांच की मांग कर रहे थे। आन्दोलन के दौरान जिन अनेक नेताओं का अपराध सिद्ध हो गया था, उन्हें दो साल के लिए प्रेक्टिस करने से वंचित कर दिया

---

[1]भावी घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि यह केवल एक चाल थी। रामचन्द्रन् और पी० थानु पिल्लइ जैसे नेताओं तथा अन्यों की गिरफ्तारियाँ जारी रहीं।

गया। विधान मण्डल में रियासती कांग्रेस दल के 19 सदस्यों को सत्रारम्भ से ठीक पहले अयोग्य घोषित कर दिया गया। सत्र का आरम्भ जनवरी 1939 में होने वाला था। जन्मदिवस के क्षमादान में सभी राजनीतिक बन्दी शामिल नहीं किये गये। उनमें से लगभग 200 फिर भी जेलों में सड़ते रहे।

इससे रियासती कांग्रेस को यह महसूस हुआ कि त्रावणकोर सरकार का हृदय-परिवर्तन बिलकुल नहीं हुआ। सितम्बर 1939 में रियासती सरकार ने एक विज्ञप्ति निकाल कर सांविधानिक सुधारों के विषय पर रियासती कांग्रेस के साथ किसी प्रकार की कोई बातचीत या विचार-विनिमय करने से इन्कार कर दिया। इन्हीं परिस्थितियों में रियासती कांग्रेस की कार्य-समिति ने, फरवरी 1939 में एक प्रस्ताव पास करके सविनय अवज्ञा का कार्यक्रम शुरू करने के लिए 6 सप्ताह की अवधि निर्धारित कर दी थी। फलतः जनता का प्रतिरोध, गुप्त या प्रकट रूप से, चलता ही रहा, और उसी प्रकार सरकार की दमन-नीति भी। जिस समय यूरोप में विश्व-युद्ध छिड़ा, उस समय त्रावणकोर रियासत की यह स्थिति थी। इस युद्ध से प्रशासन को युद्ध-प्रयत्न के नाम पर जन-आन्दोलन को कुचलने का एक और बहाना मिल गया।

1945, 1946 और 1947 त्रावणकोर रियासत के मामलों का विवरण तथा स्वतन्त्र भारत का संविधान बनाने में उसकी भूमिका कुछ पूर्ववर्ती किसी अध्याय में और कुछ इससे आगे के अध्याय में दी गयी है।

स्वतन्त्रता की पूर्व वेला

देसी रियासतों के विषय में सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि जब युद्धोत्तर घटनाओं तथा आधिकारिक घोषणाओं से यह स्पष्टतया इंगित हो गया कि अंग्रेजों के हाथों से भारतीयों के हाथों में सत्ता का हस्तान्तरण होने वाला है, तब भी राजाओं ने यह जानने की कोशिश न की कि देश के भावी शासनकर्त्ता कौन होंगे। वास्तव में, 1946-1947 के क्रान्तिक वर्षों में, वे रियासतों में जनमत के बल का मूल्यांकन न कर सके और न उस नयी शक्ति का अनुमान लगा सके, जो कांग्रेस के संयुक्त या विभाजित भारत के राजनीतिक जीवन में सबसे अधिक शक्तिशाली तत्त्व के रूप में प्रकट होने के कारण उसे शीघ्र प्राप्त होने वाली थी। कुछ हद तक इसका दोष उस कमी को दिया जा सकता है, जो ऐसी व्यवस्था में अन्तर्निहित रहती है, जिसका लाभ, विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग अपने मन के लड्डू फोड़ने के लिए सामान्यतया स्वयं उठाने के लिए प्रवृत्त होते हैं। युद्ध से पूर्व 2 वर्ष की अल्पावधि में 7 या 8 प्रान्तों में कांग्रेस के शासन से देशी रियासतों के सम्बन्ध में उस दल के कार्यक्रम का कुछ आभास उन्हें मिल जाना चाहिये था। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे समय के संकेतों को न समझ सके और यही सोचते रहे कि पहले 10 वर्षों की भांति शायद अब भी, कम से कम बड़ी रियासतों के लिए, अपनी व्यवस्थाओं में मौलिक परिवर्तन किये बिना, कांग्रेस के सिद्धान्त के साथ सह-अस्तित्व रखना सम्भव हो सकेगा।

जिस एक चीज का महत्त्व वे सही-सही नहीं आंक सके वह थी ब्रिटिश दृष्टिकोण में परिवर्तन तथा युद्ध से पहले अनुदार दल के और युद्ध के बाद मजदूर दल के रुख में अन्तर। युद्ध से पहले ही, लार्ड विन्टरटन ने ब्रिटिश सरकार की ओर से स्पष्ट चेतावनी दे दी थी कि यदि राजा लोग यह सोचते हों कि वे ब्रिटिश भारत की सांविधानिक प्रगति को सदा के लिए अवरुद्ध कर सकते हैं तो वे गलती करते हैं। फिर भी चेतने के बजाय, रियासतें राजनीतिक विभाग और उसके अधिकारियों की सहायता से उस धक्के को सह गयीं। राजा लोग सर स्टाफर्ड क्रिप्स के 1942 के प्रस्तावों का आशय भी न समझ सके। वे अपनी ही एकता और कल्पित शक्ति पर निर्भर रहते रहे।

जिन महीनों में स्वतन्त्र भारत के भविष्य का निर्णय हो रहा था, उनमें राजाओं की असाधारण निष्क्रियता और स्वतः प्रवृत्ति के अभाव का यही एकमात्र कारण हो सकता है। यदि एकीकरण और विलयन की प्रक्रिया का, जो स्वतन्त्रता प्राप्ति के

तत्काल बाद, भाप के इंजन की तरह चलने वाली थी, सही-सही अनुमान और कम-से कम आंशिक पूर्वज्ञान कुछ अग्रणी राजाओं को हो जाता, तो निःसन्देह आनेवाली चीजों का रूप वस्तुतः भिन्न ही होता। उदाहरणार्थ, यदि हैदराबाद, कश्मीर, मैसूर और बड़ौदा जैसी बड़ी रियासतें ठीक समय पर स्वेच्छा से अपनी प्रजा को उत्तरदायी शासन प्रदान कर देतीं, और इस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से देश के शेषभाग के साथ आ जातीं, तो रियासतों के एकीकरण की प्रक्रिया की गति निश्चय ही धीमी हो जाती।

कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि सरदार पटेल के अधीन रियासत विभाग छोटी रियासतों की अराजकतापूर्ण परिस्थितियों या दूसरी रियासतों के स्वेच्छाचारी शासन के साथ समझौता कर लेता; बल्कि यह, कि स्वतन्त्रता से बाद के वर्षों में भारत में राज्य-क्षेत्रों का जो एकीकरण हुआ वह राजतन्त्र की संख्या पर एकदम झाड़ू न फेरता। तात्पर्य यह है कि यदि कुछ राजा भारतीय हाथों में सत्ता के आने से पहले ही स्वेच्छा से सांविधानिक (प्रतीक) राजा बनना स्वीकार कर लेते और इस प्रकार अपनी प्रजा की आकांक्षाओं को पूरा कर देते, तो आमूल-परिवर्तनवादी भी सब राजाओं को पेंशन देकर विदा करने का आग्रह नहीं कर सकते थे।

क्योंकि ऐसी कोई चीज नहीं हुई और क्योंकि अपनी प्रजा की न्यायोचित मांगों को पूरा करने के बारे में अनिश्चित संकेत देने के अलावा कोई भी राजा उस लक्ष्य की ओर वस्तुतः बढ़ने के लिए उद्यत नहीं हुआ, अतः स्वतन्त्र भारत की सरकार को ही स्वयं भारतीय संघ और उसके घटक राज्यों का भविष्य निर्धारित करने के लिए मध्यस्थ की भूमिका स्वीकार करनी पड़ी। इस प्रकार राजवर्ग के भविष्य का प्रश्न एक गौण विषय बन गया, जिसे किसी न किसी प्रकार इस ढंग से सुलझाना था कि राजाओं को कम से कम हानि हो, और वह लोकतन्त्रीय आदर्शों एवं जनता की इच्छाओं के अनुरूप भी हो। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि सरदार पटेल ने वह कठिन कार्य समझौतावादी भावना तथा अनुकरणीय औदार्य से सम्पन्न किया। वास्तव में देश के एक परिवर्तनवादी वर्ग ने तो उन पर यह भी दोष लगाया कि वे राजाओं के प्रति अत्यधिक उदारता दिखा रहे हैं। सरदार के बुद्धिमत्तापूर्ण एवं राजनेतोचित अनुयोगों पर राजाओं ने उदारता से कान दिया; पर उनमें से बहुत से यह अनुभव करते थे कि वह उदारता क्रूर आवश्यकता से प्रसूत थी, जिससे वह उस गुण से विहीन हो गयी थी, जो, यदि वह पहले प्रदर्शित की जाती, तो राजाओं के लिए अधिक अच्छा दर्जा दिला सकता था। अब हम उन घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन करेंगे, जो 1946-47 में, विशेषरूप से जून 1947 के बाद, घटीं।

यह ध्यान रखना चाहिए कि राजनीतिक संघटन और प्रशासनिक एकीकरण की प्रक्रिया, जो स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद सरदार वल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में आरम्भ हुई, प्रायः रियासती जनता के आन्दोलन और अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के प्रयत्नों से अलग एक स्वतन्त्र घटना थी। यद्यपि अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने राज्य-क्षेत्रों के एकीकरण में कांग्रेस-नेतृत्व को पूर्ण सहयोग दिया, फिर भी इस घटना को रियासती जनता की आकांक्षाओं से अथवा उसके मुख्य संगठन, अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की मांग से सम्बद्ध करना इतिहास की दृष्टि से गलत होगा। यह घटना रियासतों के किसी जन-आन्दोलन से सीधे-सीधे सम्बद्ध नहीं की जा सकती। यह उन बड़ी घटनाओं का परिणाम थी, जो भारत में, और वास्तव में, युद्ध के बाद समस्त संसार में, घटित हो रही थीं। उदाहरणार्थ, यदि ब्रिटिश सरकार भारत में जमे रहने का निर्णय कर लेती और राष्ट्र की स्वतन्त्रता की मांग का प्रतिरोध करती रहती, तो क्या रियासतों की समस्या कांग्रेस नेताओं का उतना ध्यान आकर्षित जो सकती थी, जितना उसने किया ? और क्या उस अवस्था में उस समस्या का कोई ऐसा तात्कालिक हल निकल सकता था, जैसा सरदार पटेल ने निकाला ? अतः इतिहास-कार को यह मानना पड़ेगा कि रियासती समस्या का जो हल निकला, वह प्रायः परि-स्थितियों के शुभ और आकस्मिक मिलन का परिणाम था, और वह अंग्रेजों के स्वेच्छा से चले जाने पर, भारत को मिली स्वतन्त्रता के साथ उपसिद्धान्त के रूप में जुड़ा आया।

परन्तु इस तथ्य की स्वीकृति का अर्थ अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के प्रभावी और बुद्धिमत्तापूर्ण नेतृत्व की निन्दा करना नहीं है। और न इसका अर्थ रियासती जनता को उस श्रेय से वंचित करना है, जो अगस्त 1947 में भारतीय हाथों में सत्ता आने से पहले और बाद में हुई घटनाओं के लिए उसे मिलना चाहिए। यदि अ० भा० रियासती प्रजा परिषद का पूर्ण समर्थन और उसके नेताओं का अविचल सहयोग न मिलता, तो राष्ट्रीय संघटन का वह महान् कार्य, जो सदा सरदार पटेल की सबसे बड़ी सफलता माना जायगा, शायद ही पूरा होता।

रियासतों में कुछ ऐसे तत्त्व थे, जो सर्वोच्च सत्ता की समाप्ति में एक नया अवसर देख रहे थे। वे भारतीय उपमहाद्वीप में स्वतन्त्र राज स्थापित करने के स्वप्न देख रहे थे और भारत को "पूर्व का बाल्कन" बनाना चाहते थे। त्रावणकोर के दीवान सी० पी० राम स्वामी अय्यर ने जून 1947 में वस्तुतः स्वतन्त्र त्रावणकोर की घोषणा कर दी। निजाम हैदराबाद ने, जो ऐसे ही विचार रखता था, उसका अनुकरण किया। उसके अभिकर्त्ता बंगाल की खाड़ी के लिए मार्ग खोजने के वास्ते सक्रिय षड्यन्त्र करने

लगे। जूनागढ़ के अतिरिक्त दूसरी रियासत, जिसने भारत में मिलने से इन्कार कर दिया और स्वतन्त्र रहना पसन्द किया, जम्मू-कश्मीर थी। यह भी भय था कि राजस्थान के कुछ राजा पाकिस्तान और उत्तर-पश्चिमी भारत के मध्य स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने की सोच सकते हैं। यद्यपि जोधपुर की रियासत भारतीय संघ में मिल चुकी थी, फिर भी महाराजा जोधपुर ऐसे स्वतन्त्र राज्य की स्थापना का स्वप्न देखने लगा था। संभवतः कुछ अन्य रियासतें भी, इन अनुयोगों से प्रेरणा पा कर, ऐसी ही महत्त्वाकांक्षायें रखती थीं।

यह बात नहीं, कि राजा लोग बेखबर थे। और यह भी नहीं कि शिमला सम्मेलन के पश्चात् तथा बाद में ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एटली के रेडियो भाषण के पश्चात् वे यह न जान सके कि हवा का रुख क्या है। यह कहना सही होगा कि इन घटनाओं से राजाओं में बेचैनी पैदा हो गयी थी। खतरे के ज्ञान से जो बेचैनी होती है, उसका अनुभव आमतौर से साधारण जनता को ही होता है; परन्तु भारत में विशेषाधिकारप्राप्त शासक और राजा भी उससे प्रभावित होते हुए देखे जा सकते थे। महाराजा बीकानेर ने महाराजा पटियाला को लिखा कि "युद्ध की सर्वोपरि आवश्यकताओं के कारण जो निष्क्रियता पैदा हो गयी थी, उसकी अवधि" अब समाप्त हो रही है। महाराजा ने यह ठीक ही सोचा कि संयुक्त राज्य (ब्रिटेन) और ब्रिटिश जनता एक ऐसा वास्तविक कदम उठाने के लिए अधीर हो उठे हैं, जो भारत को स्वशासन और उपनिवेश का दर्जा प्रदान करेगा। यह बात भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है कि महाराजा पटियाला इस विचार से पूर्णतया सहमत था।

यह मार्च 1945 की घटना है। दो महीने बाद, नरेन्द्र मण्डल के अध्यक्ष, नवाब भोपाल ने रियासतों और ब्रिटिश भारत के मध्य राजनीतिक समन्वय के प्रश्न पर विचार करने के लिए शासकों और मन्त्रियों की विशेष समिति की बैठक बुलाने का निश्चय किया। इस बैठक में उन्होंने इस मामले पर सब दृष्टिकोणों से बारीकी से विचार किया परन्तु कोई ठोस हल न निकल सका। उसका एकमात्र कारण यह था कि वे अभी यह आशा लिये बैठे थे कि ब्रिटिश सरकार प्रतिरक्षा सम्बन्धी अपनी जिम्मेदारी को पूरा करने अथवा "उपनिवेश सरकार द्वारा किये जाने वाले आर्थिक गलघोट या भेदभाव के विरुद्ध गैर-अधिमिलित रियासतों की रक्षा करने" में नहीं चूकेगी।

संसदीय शिष्ट मण्डल, मन्त्रिमण्डल मिशन तथा भारत में महान् परिवर्तनों की शृंखला में हुए अनुयोगों एवं प्रति-अनुयोगों की कहानी पहले ही दी जा चुकी है। राजा लोग भविष्य पर दृष्टि रख कर विचार-विनिमय करते थे; परन्तु उन्हें केवल

अपना ही धुंधला भविष्य दिखायी पड़ता था। उनपर अपने निर्वाध अधिकारों, अपने दर्जे और अपने विशेषाधिकारों की ऐसी भूतबाधा सवार हो गयी थी कि और किसी चीज को देखने ही नहीं देती थी। जिस समय राजाओं की ऐसी मनःस्थिति थी और उनकी सारी प्रजा विद्रोह पर तुली हुई थी, उस समय रियासत विभाग के कुशल कारीगरों को रियासतों को भारत में मिलाने का कठिन काम करना पड़ा।

यह इस प्रकार हुआ। जब सभी राजनीतिक और सांविधानिक फलानुमान एवं अटकलबाजियां शान्त हो गयीं तथा सत्ता के हस्तान्तरण के लिए तारीख निश्चित हो गयी, तो सरदार पटेल ने राजाओं से सुलटने का कठिन कार्य अपने हाथ में लिया। उनके सामने दो उद्देश्य थे--एक तो यह, कि यदि भारत का विभाजन करना पड़े तो वे भारत संघ में मिल जायें; और दूसरा यह कि रियासती क्षेत्र को देश के शेष भाग के साथ मिला कर अन्त में एकाकार कर दिया जाय। भारत का मानचित्र देखने से पता चलेगा कि लगभग एक दर्जन रियासतों को छोड़ कर शेष सभी रियासतें भारतीय राज्यक्षेत्र में थीं। केवल बहावलपुर, कलात, मीरपुर, चितराल और उत्तर-पश्चिमी भारत में कुछ सीमावर्ती रियासतें ही ऐसी थीं, जो भौगोलिक दृष्टि से प्रस्तावित पाकिस्तान में जाती थीं। कुछ ऐसी भी रियासतें थीं, जिनकी सीमायें भारत और पाकिस्तान दोनों से मिलती थीं--जैसे उत्तर-पश्चिम में कश्मीर, जोधपुर, बीकानेर, और जैसलमेर तथा पूर्व में त्रिपुरा। इस प्रकार भारत संघ के लिए रियासतों की समस्या का विशेष महत्त्व था।

अधिमिलन की कहानी

3 जून 1947 को लार्ड माउन्ट बैटन ने घोषणा की कि सम्राट् की सरकार औपनिवेशिक दर्जे के आधार पर दो सरकारों, भारत और पाकिस्तान, को सत्ता हस्तान्तरित करने के लिए तैयार है। इस घोषणा के साथ ही देसी रियासतों में घटना-चक्र पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से चलने लगा। इसके प्रति कुछ रियासतों की, मुख्य रूप से त्रावणकोर, हैदराबाद और भोपाल की, तात्कालिक प्रतिक्रिया दुःखजनक थी। इन रियासतों के शासक सत्ता-हस्तान्तरण के साथ ही अपने आपको स्वतन्त्र घोषित करने की ताक में थे। भारतीय नेता इन पृथक्तावादी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए घटनाओं पर निगाह रख रहे थे।

11 जून को अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की स्थायी समिति की बैठक हुई। उसने एक प्रस्ताव पास कर यह मांग की कि राजनीतिक विभाग और उसके अधिकरणों

को भारत सरकार के सुपुर्द कर दिया जाय अथवा राजनीतिक विभाग के काम को करने के लिए तुरन्त ही एक नया विभाग खोला जाय। भारतीय नेताओं, लार्ड माउन्ट बेटन और राजनीतिक विभाग के अधिकारियों ने विचारविनिमय के बाद यह निश्चय किया कि रियासतों से सम्बन्ध रखने वाले मामलों को सुलझाने के लिए एक नया विभाग स्थापित किया जाय। प्रधान मन्त्री जवाहरलाल नेहरू ने यह आग्रह किया कि 3 जून की सरकारी घोषणा का सन्तोषजनक स्पष्टीकरण होना चाहिए और यह आश्वासन मिलना चाहिए कि रियासतों में राजनीतिक और प्रशासनिक कार्य पूर्ववत् जारी रहेंगे तथा सर्वोच्च सत्ता की समाप्ति पर कोई रियासत स्वतन्त्र न होगी। सम्राट् के प्रति अपनी उन जिम्मेदारियों से मुक्त होने के बाद, जो वाइसराय के माध्यम से रियासतों और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के मध्य बन्धन का काम करती थीं, रियासतें प्रशासनिक शून्यता में नहीं रह सकती थीं। जिन्ना ने नेहरू के सिद्धान्त पक्ष का विरोध किया और रियासतों के भविष्य के बारे में अनेक विचारों तथा कांग्रेस के प्रस्ताव को ठुकरा दिया। उसने घोषणा की कि सर्वोच्च सत्ता की समाप्ति पर रियासतें सांविधानिक एवं कानूनी दृष्टि से सम्पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र राज्य हो जायेंगी। उसने कहा कि ब्रिटिश सरकार या ब्रिटिश संसद या और कोई शक्ति अथवा संस्था रियासतों को, उनकी स्वतन्त्र इच्छा अथवा सम्मति के विरुद्ध, कोई काम करने को बाध्य नहीं कर सकती।

जो स्थिति बनती जा रही थी, वह वस्तुतः निराशाजनक थी। वी० पी० मेनन के शब्दों में, शासकों की सामान्य प्रवृत्ति यह थी कि सर्वोच्च सत्ता की समाप्ति से उन्हें जो सौदा करने की स्थिति प्राप्त हो गयी थी, उससे वे पूरा लाभ उठाना चाहते थे।" इस तथ्य को नहीं भुलाया जा सकता कि द्वितीय विश्व-युद्ध के समय कई बड़ी रियासतों ने अपनी सशस्त्र सेनाओं को अधिक शक्तिशाली बना लिया था। अतः यह निश्चय, कि अंग्रेजों के हटते ही, देसी रियासतों को, जो क्षेत्रफल में देश का $\frac{2}{5}$ भाग थीं, पूर्ण राजनीतिक पृथक्ता की स्थिति में चला जाना चाहिए, देश की एकता के लिए गम्भीरतम खतरे से भरा हुआ था। इसीलिए निराशा और विषाद के भविष्यवक्ताओं ने भविष्य वाणी की कि भारतीय स्वतन्त्रता का जहाज रियासतों की चट्टान से ही टकरायेगा।"[1]

25 जून को किये गये अन्तरिम सरकार के मन्त्रिमण्डल के निश्चय के अनुसार 5 जुलाई 1947 को रियासत विभाग की स्थापना हुई और सरदार पटेल उसके

---

[1]देसी रियासतों पर श्वेतपत्र (ह्वाइट पेपर), 1948—पृ० 18

कार्यभारी मन्त्री बने। उसी दिन, नये विभाग का श्रीगणेश करते हुए, सरदार पटेल ने एक स्मरणीय वक्तव्य जारी किया, जिसमें देसी रियासतों के प्रति सरकारी नीति का स्पष्टीकरण किया गया और साथ ही राजाओं के कुछ भय भी दूर किये गये। सरदार ने रियासतों को आश्वासन दिया कि "प्रतिरक्षा, वैदेशिक मामले और संचार इन तीन विषयों में अधिमिलन के अतिरिक्त उनसे और कोई मांग नहीं की जायगी।" उन्होंने यह भी आश्वासन दिया कि रियासतों के साथ समानता की भावना से उचित व्यवहार किया जायगा और रियासत विभाग केवल पारस्परिक हित और कल्याण की बातों पर ही विशेष ध्यान देगा। परन्तु वास्तविकता के स्वर में पटेल ने यह भी कहा कि यदि रियासतें और प्रान्त न्यूनतम सामान्य हित के कार्यों में सहयोग करने में असमर्थ रहे तो परिणाम बहुत बुरा होगा। उन्होंने कहा कि "सामान्य हित के कार्यों में सहयोग का विकल्प अराजकता और अव्यवस्था है, जो सभी छोटे बड़ों को सामान्य विनाश के समुद्र में डुबो देगी।"

एक बहुत बड़ी संख्या में रियासतें भौगोलिक दृष्टि से भारत का भाग थीं। अतः इस घटना ने रियासतों के भारत उपनिवेश में अधिमिलन के प्रश्न को विशेष महत्त्व प्रदान कर दिया। 25 जुलाई को वाइसराय ने नरेन्द्र मण्डल की एक विशेष बैठक बुलायी, जिसमें रियासतों के भारत में अधिमिलन की शर्तों पर विचार करने के लिए एक वार्ता-समिति बनायी गयी। इस दिशा में जो पहला कदम उठाया गया, वह रियासत-विभाग और राजाओं के प्रतिनिधियों के मध्य विचार-विनिमय द्वारा अधिमिलन-पत्र तैयार करना था।

अब एक ओर राजाओं और उनके परामर्शदाताओं तथा दूसरी ओर सरदार पटेल और रियासत विभाग के अधिकारियों के मध्य औपचारिक सम्मेलनों की शृंखला शुरू हो गयी। पटियाला, ग्वालियर, बीकानेर और नवानगर के शासकों ने तथा अन्य महत्त्वपूर्ण रियासतों के दीवानों ने पहले 10 जुलाई को और फिर 25 जुलाई को सरदार पटेल के साथ विचार-विनिमय किया। इस बातचीत का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि बहुत से शासक नवाब भोपाल से अलग हो गये, क्योंकि यह पहले से ही मालूम था कि नवाब भोपाल रियासतों के भारत में अधिमिलन का विरोधी था। अतः इन शासकों द्वारा उसके नेतृत्व का त्याग तथा अधिमिलन-पत्र पर हस्ताक्षर करने का निर्णय एक महत्वपूर्ण घटना थी।

अगस्त 1947 के पहले दो सप्ताह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थे। बड़ी भागदौड़ करनी थी; क्योंकि जो प्रमुख रियासतें भौगोलिक दृष्टि से भारत में थीं, वे यदि सत्ता-हस्तान्तरण

से पहले उसमें न मिलतीं, तो क्या परिणाम होते, यह कोई नहीं कह सकता। सरदार पटेल की सूझ-बूझ और लार्ड माउन्ट बैटन की सलाह को धन्यवाद देना चाहिए, जिसके कारण उन सभी रियासतों के शासकों ने, जो भौगोलिक दृष्टि से भारत में थीं, 15 अगस्त तक अधिमिलन-पत्र[1] और यथास्थिति-करार पर हस्ताक्षर कर दिये। केवल हैदराबाद, कश्मीर, जूनागढ़ और काठियावाड़ की दो छोटी रियासतों के शासक ही ऐसे थे जिन्होंने हस्ताक्षर नहीं किये।

भारत में पड़ने वाली लगभग सभी रियासतों के इस प्रकार अधिमिलन से देश की मौलिक एकता सुरक्षित हो गयी। अब प्रशासनिक दृढ़ता और राजनीतिक एकता में कोई सन्देह न रहा। जैसा कि मेनन ने कहा है, वह दरार, जिससे देश के वाल्कनीकरण का खतरा पैदा हो गया था, अन्तरिम सरकार की अधिमिलन-नीति की सफलता से भली-भांति बन्द हो गयी।

---

[1]मुख्य अधिमिलनपत्र पर केवल क्षेत्राधिकारीय रियासतों ने ही हस्ताक्षर किये, जिनकी संख्या 140 थी। काठियावाड़, गुजरात और शिमला पहाड़ी रियासतों आदि से ऐसे विभिन्न अधिमिलन-पत्रों पर हस्ताक्षर करने को कहा गया, जो उनके द्वारा उपभोग किये जाने वाले अधिकारों के अनुसार उन पर लागू होते थे।

एकीकरण की ओर

पूर्वी भारत में उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतें व्यापक आन्दोलन की चपेट में आ गयी थीं, और समस्या के तत्काल समाधान के लिए वेचैन हो रही थीं। यदि तत्काल समाधान न होता तो अव्यवस्था और अराजकता फैल सकती थी तथा रक्तपात भी हो सकता था। उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतों के शासक पहले ही प्रजामण्डल के आन्दोलनकारियों के विरुद्ध एक हो गये थे। जब मन्त्रिमण्डल मिशन के प्रस्ताव प्रकाशित हुए, तभी से वे अपनी हित-रक्षा के लिए अपनी रियासतों का एक संघ वनाने की वात सोचने लगे थे। जुलाई 1947 में, इन रियासतों का संघ वना और 1 अगस्त से उसने काम करना शुरू कर दिया। कुछ रियासतों को छोड़ कर, मुख्य रूप से मयूरभंज और वस्तर की वड़ी रियासतों को छोड़ कर, शेष सभी रियासतें संघ में शामिल हो गयीं। प्रत्यक्षतः संघ में ऐसे संघीय ढांचे की समस्त विशेषतायें थीं, जिसमें साधन मिला लिये जाते हैं और शक्ति बांट दी जाती है। परन्तु आश्चर्य यह था कि उसके संविधान में लोकप्रिय विधान मण्डल के लिए कोई व्यवस्था न थी। अतः इसमें अचम्भे की कोई वात नहीं कि पूर्वी रियासत संघ के निर्माण का प्रजा मण्डलों के आन्दोलन तथा उत्तरदायी शासन के लिए जनता की मांग पर कोई प्रभाव न पड़ा। नीलगिरि और धेनकनाल रियासतों से गम्भीर उपद्रवों के समाचार आने लगे। यहां आन्दोलनकर्त्ताओं ने शासकों के राजमहलों पर आक्रमण करने तथा समानान्तर सरकारें वनाने की धमकी भी दी।

उड़ीसा की सरकार ऐसी अराजकता को तटस्थ दर्शक की भांति खड़ी देखती नहीं रह सकती थी। उसने नीलगिरि की स्थिति की सूचना भारत सरकार को दी। भारत सरकार ने उड़ीसा सरकार को रियासत का प्रशासन संभालने का अधिकार दे दिया। शासक इससे सहमत हो गया और उसने खुले तौर से स्वीकार किया कि उसके साधन इतने अपर्याप्त हैं कि वह रियासत को आधुनिक प्रशासन प्रदान नहीं कर सकता।

नीलगिरि का प्रशासन संभालने से पहले ही, उड़ीसा का मुख्य मन्त्री, हरेकृष्ण महताव, सरदार पटेल को उड़ीसा की रियासतों की शान्ति और व्यवस्था की विगड़ती हुई हालत से अवगत कराने के लिए एक ज्ञापन भेज चुका था। उसने वताया था कि इन रियासतों तथा उड़ीसा प्रान्त को, कम से कम कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों में एक सामान्य प्रशासन के अधीन लाने के लिए कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा। पूर्वी रियासत संघ वन जाने और इन रियासतों में उत्तरदायी शासन के लिए आन्दोलन की गति तेज

हो जाने से रियासत मन्त्रालय को उड़ीसा की समस्या पर तुरन्त ध्यान देना पड़ा।

भारत और उड़ीसा सरकारों तथा रियासतों के क्षेत्रीय आयुक्त के मध्य आरंभिक वार्तालाप एवं विचार-विनिमय के बाद यह निश्चित हुआ कि उड़ीसा की रियासतें आपस में मिल कर अपना कोई पृथक् संघ नहीं बना सकतीं, क्योंकि उनके संघ की सीमा कई स्थानों पर प्रान्तीय क्षेत्र को काटती थी तथा रियासतें मिल कर एक अविभाज्य क्षेत्र-खण्ड नहीं बनाती थीं। अतः केवल दो ही विकल्प थे--या तो उड़ीसा और इन रियासतों के मध्य किसी प्रकार का प्रशासनिक सहयोग स्थापित किया जाय या इन रियासतों को उड़ीसा में तथा समीपवर्ती छत्तीसगढ़ की रियासतों को मध्य प्रान्त में मिला दिया जाय। अन्त में सरदार पटेल और रियासत मन्त्रालय ने दूसरा विकल्प पसन्द किया। संयोग से यह साइमन कमीशन की रिपोर्ट[1] में इंगित तर्क के अनुकूल भी था। रिपोर्ट में पृथक् उड़ीसा प्रान्त के निर्माण की सिफारिश की गयी थी और यह कहा गया था कि बाद में उड़ीसा की रियासतें भी उसका भाग बन सकती हैं।

परन्तु इन रियासतों के उड़ीसा प्रान्त में विलयन का प्रस्ताव स्वीकार किये जाने के बाद एक कठिनाई प्रतीत हुई। यह सोचा गया कि ऐसा कदम केवल एक ही महीने पहले वाइसराय लार्ड माउन्टबेटन और सरदार पटेल द्वारा राजाओं को दिये गये आश्वासनों के विरुद्ध होगा। यह भारतीय हाथों में सत्ता के हस्तान्तरण के आरम्भ में ही शक्ति का अनुचित प्रदर्शन माना जाता। साथ ही रियासत मन्त्रालय उनकी आन्तरिक स्वतन्त्रता की रक्षा की गारन्टी के प्रति हल्कापन नहीं दिखा सकता था। अतः सरदार पटेल ने राजाओं को मनाने के लिए मैत्रीपूर्ण ढंग अपनाया और व्यवस्थित ढंग से कार्य शुरू किया। सरदार पटेल की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि वे अनुनय-शक्ति, युक्ति-कौशल और कूटनीति के प्रयोग द्वारा, कुछ अपवादों को छोड़ कर लगभग सभी शासकों को अपने सम्पूर्ण शासन-अधिकारों को त्यागने तथा अपने विशेषाधिकारों को स्वेच्छा से समर्पित करने के लिए मनाने में सफल हो गये।

शक्ति की सबसे पहली परीक्षा पूर्वी क्षेत्र में होने वाली थी। सरदार पटेल इस बात में विश्वास नहीं करते थे, कि समय पर सब कुछ अपने आप ही ठीक हो जायगा। उड़ीसा की रियासतों के शासकों के साथ बातचीत करने के लिए वे दिसम्बर 1947 के द्वितीय सप्ताह में कटक के लिए रवाना हो गये। बी और सी श्रेणी की रियासतों से सुलटने में अधिक कठिनाई नहीं हुई, क्योंकि वे आकार में छोटी थीं और प्रजा मण्डलों

[1]साइमन कमीशन्स रिपोर्ट—ग्रन्थ 2

के आन्दोलन का सामना विशेषरूप से उन्हीं को करना पड़ता था। सरदार पटेल ने शासकों से कहा कि अपने ही हित में आपको सार्वजनिक आलोचना का लक्ष्य बनने से बचना चाहिये। भारत मुसीबतों में होकर गुजर रहा है; इसलिए ऐसा खतरा मोल लेना ठीक नहीं। उन्होंने कहा कि यदि आप अपने शासन-अधिकारों को भारत सरकार को समर्पित करने के लिए राजी हो जाते हैं, तो आपकी रक्षा, आपके राज्य-क्षेत्रों में शान्ति और प्रगति, आपके तथा आपके परिवारों के जीवन-निर्वाह के लिए पुष्कल प्रिवी-पर्स और आपके राजवंश की अभंगता निश्चित हो जाती है।

प्रिवी पर्सों के रूप में निश्चित की जाने वाली धनराशि के सम्बन्ध में कुछ वाद-विवाद के पश्चात्, शासक सरदार पटेल की सलाह मानने के लिए राजी हो गये और उन्होंने विलय-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये। विलय-पत्र का एक प्रारूप वी० पी० मेनन की जेब में पहले से ही था। ए श्रेणी की बड़ी रियासतों के शासकों से सुलटने में कुछ कठिनाई हुई। परन्तु मेनन उसे दूर करने में सफल हो गये और उन्होंने एक दिन बाद उन्हें भी विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए मना लिया। इस प्रकार, दिसम्बर 1947 के मध्य तक उड़ीसा की समस्त रियासतें उड़ीसा प्रान्त में विलीन हो गयीं।

प्रशासनिक दृष्टि से मयूरभंज रियासत उड़ीसा-रियासतों का भाग नहीं थी, इसलिए इस रियासत का शासक विलयन सम्बन्धी बातचीत से अलग ही रहा। विलयन-सम्बन्धी बातचीत में उसके भाग न लेने का दूसरा कारण यह भी था कि उसने पहले ही अपनी प्रजा को उत्तरदायी शासन प्रदान कर दिया था। परन्तु कुछ ही महीनों में मालूम हुआ कि रियासती मामले गड़बड़ा गये हैं और अपनी रियासत को समीपवर्ती प्रान्त में न मिला कर उसने गलती की है। शासक की स्पष्ट इच्छा के कारण और उड़ीसा प्रान्त के साथ सांस्कृतिक और भाषायी एकता के कारण, मयूरभंज को भी उड़ीसा प्रान्त में मिला लिया गया।

छत्तीसगढ़ की रियासतें

छत्तीसगढ़ की रियासतों से सुलटने के लिए सरदार पटेल कटक से नागपुर पहुंचे। यहां भी उत्तरदायी शासन की प्राप्ति के लिए जन-आन्दोलन चरमोत्कर्ष पर पहुंचा हुआ था। यह आन्दोलन प्रजामण्डलों द्वारा अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की छत्रछाया में और उसी के सहयोग से चलाया जा रहा था। इसने सरदार पटेल के लिए शासकों के साथ बातचीत के वास्ते अभीष्ट वातावरण तैयार कर दिया था, क्योंकि उनके सामने जो संकट मुंह बाये खड़ा था, उससे उनके दिमाग दुरुस्त हो गये

थे। नागपुर में सरदार के पहुंचते ही, छत्तीसगढ़ की रियासतों के शासकों के साथ बैठकों और सम्मेलनों का ताँता शुरू हो गया। सबसे पहले नन्दगांव की रानी ने (जो वहां के राजा की नाबालिगी में राज्यभार संभाले हुई थी) विलय-पत्र पर हस्ताक्षर किये और इस प्रकार कार्य का श्रीगणेश हुआ। जैसे-जैसे बातचीत आगे बढ़ी और शासकों को सरदार पटेल के प्रस्ताव का अर्थ हृदयंगम हुआ, वैसे ही एक-एक करके सभी शासकों ने समझौते के प्रारूप पर हस्ताक्षर कर दिये।

समस्त पूर्वी रियासतों के उड़ीसा और मध्य प्रान्त में विलय के साथ ही पूर्वी रियासत-संघ स्वतः ही समाप्त हो गया। इसके बाद, भारत सरकार ने उड़ीसा और मध्य प्रान्त की सरकारों को उनमें विलीन रियासतों पर उसी प्रकार शासन करने का अधिकार दे दिया, जिस प्रकार प्रान्त के जिलों पर किया जाता है; केवल कुछ ही विषय अपने लिए सुरक्षित रखे।

विन्ध्य प्रदेश

वर्तमान मध्य प्रदेश के बिलासपुर जिले तथा उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद और झांसी जिलों के बीच में रियासतों का एक और समूह था, जिसे बुन्देलखंड और बघेलखण्ड कहते थे। ये रियासतें उन बुन्देला और बघेला वीरों की याद दिलाती थीं, जो उस क्षेत्र में कभी लुटेरों की तरह घूमते थे और कभी मुगल-सेना के सेनापतियों के रूप में दिखायी पड़ते थे। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के समय ये 34 रियासतें अपने पिछड़ेपन तथा संचार-साधनों के पूर्ण अभाव के लिए सबसे अधिक प्रसिद्ध थीं। बघेलखण्ड में रीवा रियासत ही इनमें ऐसी रियासत थी जो बड़ी और जीवनक्षम कही जा सकती थी। जब इन रियासतों के संघटन का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो कई विकल्प सामने आये। यह सुझाव दिया गया कि बघेलखण्ड और बुन्देलखण्ड को क्रमशः मध्यप्रान्त और युक्त प्रान्त में मिला दिया जाय। परन्तु यह इसलिए ठीक न जंचा क्योंकि मध्य प्रान्त में हाल ही में छत्तीसगढ़ की बहुत सी रियासतें मिलाई जा चुकी थीं और युक्त प्रान्त पहले ही इतना बड़ा था कि संभाले नहीं संभल रहा था। रीवा की रियासत तथा उसके महाराजा को दी गयी कुछ रियासतों के बदले में रीवा का महाराजा समस्त रियासतों का एक संघ बनाने के लिए राजी हो गया। परन्तु उसने जो शर्तें रखीं, वे प्रत्यक्ष रूप से इतनी अयुक्तियुक्त थीं, कि मामला कुछ समय के लिए वहीं लटका रह गया।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि रीवा के लोकप्रिय नेता महाराजा की मांगों का पूर्ण समर्थन कर रहे थे। महाराजा के साथ मेनन का व्यक्तिगत

विचार-विनिमय आशाजनक सिद्ध हुआ और उन्होंने महाराजा को तथा इन रियासतों के अन्य शासकों को, समस्त रियासतों का एक संघ बनाने की प्रजा मण्डलों की मांग को स्वीकार करने के लिए राजी कर लिया। कुछ और विचार-विमर्श के बाद समझौता हो गया और विन्ध्य प्रदेश नाम की रियासत बनी, जिसके राजप्रमुख रीवा के महाराजा बनाये गये।

आरम्भ में इस संघ के दो मन्त्रालय थे——एक बुन्देलखण्ड के लिए और दूसरा बघेलखण्ड के लिए। परन्तु दो पृथक् मन्त्रालयों का यह प्रयोग असफल रहा और शीघ्र ही समस्त क्षेत्र के लिए एक संयुक्त मन्त्रालय बनाया गया। इस मन्त्रालय ने भी भ्रष्टाचार, कुलपक्षपात और अदक्षता के मामले में नये कीर्तिमान स्थापित किये; यहां तक कि विभिन्न प्रकार के अपराधों में मन्त्रियों तक पर अभियोग चलाना पड़ा।

इसके कारण महाराजा रीवा और महाराजा पन्ना के साथ नये सिरे से बातचीत करने की आवश्यकता हुई। पुराना समझौता रद्द करके नया तैयार किया गया। इसके अनुसार प्रत्येक शासक से कहा गया कि वह अपनी रियासत के शासन-सम्बन्धी पूर्ण और अनन्य अधिकार, क्षेत्राधिकार और सत्ता भारत सरकार को सौंप दे। लम्बे विचार-विनिमय के बाद, शासकों ने एक-एक करके नये समझौते पर हस्ताक्षर करने शुरू कर दिये। केवल महाराजा रीवा अलग रहे। परन्तु व्यक्तिगत एवं वित्तीय लाभ का ध्यान करके उन्होंने भी अपना विचार बदल दिया और नये समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। विन्ध्य प्रदेश कांग्रेस समिति का रुख बड़ा निराशाजनक था; उसने रियासत मन्त्रालय के प्रस्ताव और नये समझौते के विरुद्ध एक प्रस्ताव ही पास कर दिया।

परन्तु सरदार पटेल को अभी एक आश्चर्य और दिखाना था। उन्होंने युक्तप्रान्त और मध्य प्रान्त के मुख्य मन्त्रियों को इस उद्देश्य से नयी दिल्ली बुलाया कि वे आपस में मिल कर यह तय करें कि ये रियासतें उनके दोनों प्रान्तों में मिलाये जाने के लिए किस प्रकार विभाजित की जा सकती हैं। परन्तु मुख्य मन्त्रियों में कोई समझौता न हो सका। तब हार कर सरदार पटेल ने यह काम अपने हाथ में लिया। उनके सामने इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प न था कि विन्ध्य प्रदेश को केन्द्रशासित क्षेत्र के रूप में अपने अधीन कर लिया जाय। उन्होंने उसे एक उपराज्यपाल के अधीन कर दिया।

काठियावाड़ की रियासतें

रियासतों का एक और समूह, जिससे रियासत-मन्त्रालय को सुलटना था, काठिया-

वाड़ था; यह देशी रियासतों का अविभाज्य खण्ड था। उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतों के समीपवर्ती प्रान्तों में विलयन से दिशा का निर्देश पहले ही हो गया था; परन्तु काठियावाड़ की रियासतों की स्थिति कुछ भिन्न थी। वहां शान्ति और व्यवस्था की समस्यायें भिन्न प्रकार की थीं। समीपवर्ती बम्बई प्रान्त का क्षेत्र, उड़ीसा की तरह, रियासती क्षेत्रों से जगह-जगह कटा हुआ न था; अतः बातचीत करने वालों के सामने कई विकल्प आये। सबसे पहले तो यह सोचा गया कि समस्त काठियावाड़ राज्य क्षेत्र को चार एककों में पुनर्गठित कर दिया जाय, जिनमें प्रमुख भावनगर और नवानगर जैसी बड़ी रियासतें हों। परन्तु छोटी रियासतों ने इस पर आपत्ति की। उन्होंने सोचा कि बड़ी रियासतों को और मोटा करने के लिए उन्हें बलि का बकरा बनाया जा रहा है। जीवन-क्षमता की दृष्टि से भी यह प्रतीत हुआ कि काठियावाड़ में चार एकक बहुत हो जायेंगे और जनसंख्या और साधनों की दृष्टि से उनमें से प्रत्येक बहुत छोटा रहेगा।

दूसरा विकल्प यह था कि समस्त रियासतों को बम्बई में मिला दिया जाय। परन्तु न तो यह संभव जान पड़ा और न आवश्यक ही, क्योंकि इन दोनों राज्य-क्षेत्रों के मध्य बड़ौदा की रियासत थी। हर किसी को जो विकल्प सबसे अच्छा लगा, वह यह था कि सब रियासतों को मिला कर एक एकक बना दिया जाय। रियासत-मन्त्रालय के अधिकारियों ने इस योजना पर काम करना शुरू कर दिया। सभी छोटी बड़ी रियासतों को मिला कर संयुक्त काठियावाड़ रियासत नाम का एक एकक बनाने के लिए एक योजना तैयार की गयी।

इस क्षेत्र की सबसे अधिक स्वागतयोग्य घटना भावनगर के शासक द्वारा उसे पूर्ण उत्तरदायी शासन प्रदान करना थी। भावनगर रियासत ने, जो काठियावाड़ की एक बड़ी रियासत थी, सबसे पहले उत्तरदायी शासन की मांग के दबाव का अनुभव किया। उसके महाराजा ने गांधी जी और सरदार पटेल के परामर्श से यह मांग स्वीकार कर ली। यह निश्चय हुआ कि इस योजना के अनुसार बलवन्त राय मेहता भावनगर के प्रथम प्रधान मन्त्री होंगे। भावनगर में उत्तरदायी शासन का शुभारम्भ सरदार पटेल ने 15 जनवरी 1948 को किया। इस प्रकार काठियावाड़ में एक अच्छी शुरुआत हुई।

भावनगर से अब हम आपको राजकोट ले चलते हैं। यहां वी० पी० मेनन ने सरदार पटेल के निदेशानुसार काठियावाड़-रियासतों के शासकों के साथ वार्तालाप आरम्भ किया। मेनन ने अपने भाषण में अपने कार्ड सब के देखने के लिए मेज पर

खोल कर रख दिये। पूर्वी रियासतों का उदाहरण देते हुए मेनन ने कहा कि काठिया-वाड़-रियासतों की समस्यायें भिन्न प्रकार की नहीं हैं। उन्होंने उन विभिन्न विकल्पों के अर्थ समझाये जो उनके सामने थे। अपने उद्बोधक भाषण की समाप्ति पर मेनन ने कहा :—

"तथ्यों का अर्थ समझना ही होगा। काठियावाड़ की 222 रियासतों के लिए यह सम्भव नहीं है, कि वे आधुनिक परिस्थितियों में बहुत अधिक समय तक अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखें। रियासतों की पृथक् सत्ता की समाप्ति रुचिकर भले ही न लगे, परन्तु यदि काठियावाड़ में स्थिति को सुदृढ़ बनाने के लिए समय पर कुछ न किया गया तो घटनाप्रवाह और भी अधिक अरुचिकर परिणाम उपस्थित कर सकता है। जो सत्य किसी भी बाहरी प्रेक्षक के लिए प्रत्यक्ष है, वह आपको स्वीकार कर लेना चाहिए अथवा आपको उसी प्रकार चलते रहना चाहिये जिस प्रकार अब तक चलते रहे हैं और उन खतरों को उठाना चाहिए जो भविष्य के गर्भ में छिपे हुए हैं—इसका निर्णय अकेले आप ही श्रीमानों को करना है। भारत सरकार काठियावाड़ के एकीकरण की किसी भी ऐसी योजना को सहर्ष स्वीकार करेगी, जो आपको रुचिकर हो, और मुझे पूरा विश्वास है कि ऐसी योजना को महात्मा गांधी का भी आशीर्वाद प्राप्त होगा।"[1]

बातचीत का पहला दौर आशाप्रद सिद्ध हुआ। भावनगर पहले ही उत्तरदायी शासन देना स्वीकार कर चुका था। ध्रांगध्रा के शासक ने मेनन की काठियावाड़-रियासतों के एकीकरण की योजना का खुल कर समर्थन किया। अब बहुत-कुछ नवानगर के जाम साहब पर निर्भर था। जाम साहब के पक्ष में इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उसने यह समझ लिया कि संयुक्त काठियावाड़ का विकल्प रियासतों का विघटन होगा, जो या तो बम्बई में मिला दी जायेंगी या किसी दूसरे प्रकार से समाप्त कर दी जायेंगी। आपस में कुछ और विचार-परामर्श के बाद, काठियावाड़ के शासक एक संघ बनाने के लिए सहमत हो गये। यह निश्चय हुआ कि पूर्ण उत्तर-दायी शासन के आधार पर नयी रियासत बनाने के लिए एक संविधान सभा निर्वाचित की जाय। यदि सभी गुजराती भाषी क्षेत्रों को मिला कर कोई भाषायी प्रान्त बनाया जाय तो काठियावाड़ संघ स्वतः उस एकभाषायी एकक में मिल जाय। यह भी निश्चय

[1]"दी स्टोरी आफ दी इन्टीग्रेशन आफ दी इंडियन स्टेट्स"—पृ० 177

हुआ कि वम्बई उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार काठियावाड़ तक तब तक बढ़ा दिया जाय, जब तक उसका अपना उच्च न्यायालय न हो जाय। सलामी-रियासतों के शासकों ने अपनी एक परिषद बनायी और जाम साहब को रियासत का प्रथम अध्यक्ष या राजप्रमुख चुना। अन्य शर्तें एक प्रतिज्ञा-पत्र में लिख ली गयीं, जिस पर सब शासकों ने हस्ताक्षर कर दिये। काठियावाड़ के शासकों ने जिस प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किये, वह आदर्श समझा जाने लगा, और बाद में अन्य रियासत-संघों ने भी उसका अनुसरण किया। यह एक सर्वांगपूर्ण और सूक्ष्मनिरूपित अभिलेख है।[1]

प्रतिज्ञा-पत्र पर सलामी-रियासतों और गैर-सलामी रियासतों के शासकों ने हस्ताक्षर किये। परन्तु अर्ध-अधिकार-क्षेत्रीय एवं गैर-अधिकार-क्षेत्रीय रियासतों और ताल्लुकों के शासकों से एक समझौता-पत्र पर हस्ताक्षर करने को कहा गया, जिसके द्वारा वे अपनी जागीरों और ताल्लुकों के संयुक्त काठियावाड़ रियासत में विलयन के लिये सहमत हो गये।

प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर और संयुक्त काठियावाड़ रियासत का गठन एक बड़ी घटना थी। वह स्वतन्त्र भारत में होने वाली क्रान्ति की प्रतीक थी। इसकी छाया काठियावाड़ राज्यक्षेत्र से बाहर और भारत से भी बाहर दूर-दूर तक पड़ रही थी। काठियावाड़ की जनता शताब्दियों से राजाओं के व्यक्तिगत शासन में रहती चली आ रही थी। अतः अपने अधिकारों से विदा लेते समय राजाओं का भावविभोर होना स्वाभाविक था। वी० पी० मेनन ने, जो इस नाटक के मुख्य सूत्रधार थे तथा जो उस अवसर पर उपस्थित थे, इस दृश्य का वर्णन इस प्रकार किया है :—

> "एक महीने पहले तक भी कोई शासक यह नहीं सोचता था कि उसे इतनी जल्दी अपनी रियासत और शासन से विदाई लेनी पड़ेगी। जो चीज उनके वंश में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आयी थी और जिसे वे पवित्र समझते थे, वह मानो निमेषमात्र में ही लोप हो गयी थी। यद्यपि सभी अपने को साहसी और प्रसन्न दर्शाते थे फिर भी मानसिक वेदना की मोटी रेखायें उनके चेहरों पर उभरी हुई थीं। न तो कटक में और न नागपुर में ही मैंने ऐसा दृश्य देखा था जैसा राजकोट में देखा। यहां का दृश्य अन्तिम अंश तक हृदय-द्रावक था और मेरे स्मृति-पटल पर सदा अंकित रहेगा।"[2]

---

[1]पूरे पाठ के लिए परिशिष्ट (ख) देखिए।

[2]वही—पृ० 185

संयुक्त काठियावाड़ रियासत का शुभारम्भ सरदार वल्लभभाई पटेल ने जामनगर में 15 फरवरी 1948 को किया। जाम साहब को राजप्रमुख के पद की शपथ दिलायी गयी। शासनाध्यक्ष मण्डल के सदस्यों ने भी शपथ ग्रहण की। बलवन्तराय मेहता के प्रस्ताव पर यू० एन० ढेबर मन्त्रिदल के नेता चुने गये।

यह सोचा जा सकता है कि काठियावाड़ के शासक इन घटनाओं को अनिवार्य समझते होंगे और निराशा अथवा उदासी की भावना से उन्हें स्वीकार कर सन्तुष्ट हो गये होंगे। परन्तु ऐसा सोचना गलत है। इन शासकों में सबसे अधिक अभिमानी जाम साहब ने राजप्रमुख की हैसियत से जो भाषण दिया, उससे यह धारणा गलत सिद्ध हो जाती है। उसने अपने भाषण में कहा,:—

> "मैं काठियावाड़ के राजवर्ग की ओर से जिस बात को स्पष्ट करना चाहता हूं, वह यह है: यह बात नहीं है कि हम थके हुए शासक थे, जिन्हें हवा करके सुला दिया गया है। यह भी नहीं है कि हमें आज्ञापालन के लिए बाध्य किया गया है। हमने स्वेच्छा से अपनी सम्प्रभुताओं को पुंजीभूत किया है और हम इस नयी रियासत के गठन के लिए प्रतिज्ञावद्ध हुए हैं, जिससे संयुक्त काठियावाड़ रियासत और भारत की एकता अधिक पूर्णता को प्राप्त हो सके तथा जिससे हमारी प्रजा को उस ढंग का शासन मिल सके, जो आज उसे सबसे अधिक स्वीकार्य है और जो, मैं आशा करता हूं तथा प्रार्थना करता हूं, उसके लिए लाभदायक सिद्ध होगा।"

जूनागढ़ के अधिमिलन का प्रश्न अन्त में जनमत संग्रह द्वारा तय हुआ था; अतः जूनागढ़ रियासत भी जनवरी 1949 में संयुक्त काठियावाड़ रियासत में मिल गयी। एक पूरक प्रतिज्ञा-पत्र तैयार किया गया, जिसमें जूनागढ़, मन्नवदार, मांगरोल, बांतवा, बावरियावाड और सरदारगढ़ के सौराष्ट्र के साथ एकीकरण की व्यवस्था थी (काठियावाड़ की नयी रियासत तब सौराष्ट्र कहलाने लगी थी)। इसके साथ काठियावाड़-रियासतों का एकीकरण और उनका एक एकक में संघटन पूरा हो गया। सौराष्ट्र के निर्माण तथा उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतों के समीपवर्ती प्रान्तों में विलयन के बाद यह कहा जा सकता है कि सरदार पटेल ने रियासती समस्या की कमर तोड़ दी। गणित की दृष्टि से उन्होंने अपना आधे से अधिक काम पूरा कर लिया था; परन्तु, जैसा कि आगे की घटनाओं से पता चलेगा, वस्तुतः समस्या का फौलादी शीर्ष तो अभी शेष ही था।

दक्षिण और गुजरात की रियासतें

उत्तर में काठियावाड़ और बम्बई के मध्य 17 अधिकार-क्षेत्रीय रियासतों तथा 127 अर्ध-अधिकार-क्षेत्रीय और गैर-अधिकार-क्षेत्रीय एककों का एक और समूह था। बड़ौदा की भी बड़ी रियासत थी, जिसकी राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र सत्ता थी, और जो गुजरात एजेंसी का भाग न थी। बम्बई प्रेसीडेंसी के दक्षिण में 18 रियासतों का एक और समूह था, जिन्हें दक्षिण की रियासतें कहते थे; कोल्हापुर भी इन्हीं में शामिल था। काठियावाड़ की रियासतों के भविष्य का निपटारा करने के बाद, रियासता मन्त्रालय ने अपना ध्यान बम्बई प्रान्त के दोनों ओर स्थित रियासतों के इन दोनों समूहो पर केन्द्रित किया।

दक्षिण की रियासतों के शासकों ने घटना-प्रवाह के अनुमान से लाभ उठा कर कुछ बुद्धिमत्ता दिखाई थी। जुलाई 1946 में ही, इनमें से कुछ रियासतों के शासकों ने एक संघ बनाने का निर्णय कर लिया था। अच्छी शुरुआत के लिए वे चाहते थे कि गांधी जी तथा अन्य भारतीय नेता इस प्रस्ताव के लिए अपना आशीर्वाद प्रदान करें। प्रतिज्ञापत्र तैयार करने का भार उन्होंने के० एम० मुंशी को सौंपा। उनके प्रस्ताव के प्रति गांधी जी की प्रतिक्रिया अधिक उत्साहवर्द्धक न थी; क्योंकि वें प्रस्तावित संघ की स्थापना की अपेक्षा प्रजा को उत्तरदायी शासन के प्रदान पर अधिक बल देते थे। फिर भी शासक अपने निर्णय पर आरूढ़ रहे। उन्होंने कांग्रेस का भी सहयोग प्राप्त कर लिया। कांग्रेस ने शासकों के प्रिवी-पर्स निश्चित करने के लिए डा० राजेन्द्रप्रसाद, डा० वी० पट्टाभि सीतारामय्य और शंकरराव देव की एक उप-समिति बनायी। प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर हुए और संघ बना, परन्तु 17 रियासतों में से केवल 8 ही उसमें शामिल हुईं।

जो रियासतें अलग रह गयीं, प्रत्यक्षतः उनकी स्थिति अच्छी न थी। संघ बनते ही जामखण्डी के राजा ने घोषणा की कि यदि मेरी प्रजा चाहती है तो मैं बम्बई प्रान्त में अपनी रियासत के विलयन के लिए तैयार हूं। जामखण्डी प्रजा मण्डल ने राजा की इस इच्छा की पुष्टि कर दी। इस घटना ने जनता का ध्यान नये विकल्प की ओर फेर दिया, जिससे संघ का वह आकर्षण जाता रहा, जिसकी शासक आशा कर रहे थे। संघ का काम भी ठीक से नहीं चल रहा था। मन्त्रियों की नियुक्ति के विषय में तीव्र मतभेद था और परस्पर स्वीकार्य समाधान के सब प्रयत्न विफल हो गये थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि विलयेच्छु रियासतों के प्रजामण्डलों से ठीक से राय नहीं

ली गयी थी। उनमें से कुछ बम्बई के साथ विलयन के पक्ष में थे। जाट और आकलकोट रियासतों के प्रजामण्डलों का जो शिष्टमण्डल दिल्ली में वी० पी० मेनन से मिला, उसने ऐसे ही विचार प्रकट किये थे। इसके बाद, दक्षिण की रियासतों के शासकों का एक शिष्ट मण्डल दिल्ली गया था और सरदार पटेल से मिला था। सरदार ने उनको सलाह दी कि यदि उनकी रियासतों की प्रजा चाहती है तो उन्हें अपनी रियासतों के बम्बई के साथ विलयन के लिए राजी हो जाना चाहिए।

दो सप्ताह पश्चात् जब उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की रियासतों के समीपवर्ती प्रान्तों में विलयन की घोषणा हुई, तो विलयन के प्रस्ताव के पक्ष में झुकाव का होना स्वाभाविक था। उन समस्त रियासतों के शासकों ने, जो संघ में शामिल नहीं हुई थीं, बम्बई में विलयन के पक्ष में अपनी इच्छा की घोषणा कर दी। दक्षिण रियासत संघ की घटक रियासतों के प्रजा मण्डलों ने भी विलयन के पक्ष में आन्दोलन शुरू कर दिया। संघ की संविधान सभा के पहले ही अधिवेशन में इस आशय का एक प्रस्ताव पास किया गया कि "संयुक्त दक्षिण रियासत की समस्त घटक रियासतें भारतीय संघ के प्रान्त में विलीन होती हैं।"

1948 के आरम्भिक महीनों में, दक्षिण की रियासतों के मामले कुछ असाधारण घटनाओं के कारण पेचीदे हो गये। इन घटनाओं ने व्यापक उपद्रव एवं अशान्ति और अव्यवस्था की स्थिति पैदा कर दी। महात्मा गांधी की हत्या के बाद, जब यह मालूम हुआ कि हत्यारा एक महाराष्ट्री ब्राह्मण था, तो इन स्थानों पर दंगा, लूटपाट, आगजनी आदि की व्यापक घटनायें हुईं। आक्रमण का मुख्य लक्ष्य ब्राह्मण जाति थी। शान्ति और व्यवस्था की स्थिति, जो पहले से ही खराब थी, इन दुःखद घटनाओं के कारण और भी अधिक बिगड़ गयी। यह सम्भव है कि इन्हीं सब बातों से प्रभावित होकर दक्षिण की रियासतों के शासकों ने शान्ति और व्यवस्था कायम रखने की जिम्मेदारी अपने ऊपर न ले कर रियासतों के मामलों को बम्बई सरकार को सौंपने का निर्णय किया हो। समीपवर्ती कोल्हापुर रियासत की राजनीतिक घटनाओं पर भी इन सब बातों का प्रभाव पड़ा। कोल्हापुर इस क्षेत्र की सबसे बड़ी रियासत थी, पर वह दक्षिण की रियासतों में नहीं गिनी जाती थी।

फरवरी 1948 तक, दक्षिण की रियासतों के समस्त शासकों को बाध्य होकर रियासत मन्त्रालय से यह प्रार्थना करनी पड़ी कि समझौतों पर हस्ताक्षर होने से पहले ही वह बम्बई में उनकी रियासतों का विलयन स्वीकार करे। जब सामान्य सिद्धान्त के अनुसार प्रिवी पर्सों का प्रश्न हल हो गया, और राजाओं को अधिकारों तथा विशेषा-

धिकारों के सम्बन्ध में सामान्य आश्वासन दे दिये गये तथा स्वीकार कर लिये गये, तो फरवरी में इन में से 14 रियासतों का प्रशासन बम्बई सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। केवल सावन्तवाड़ी और जंजीरा ही ऐसी दो रियासतें थीं, जिन्होंने अब तक अनुक्रिया न की थी। परन्तु कुछ सप्ताह बाद उनको भी ऐसा ही करना पड़ा। सावन्तवाड़ी की स्थिति बहुत खराब हो गयी थी। प्रजामण्डल ने समानान्तर सरकार स्थापित कर ली थी और रियासत के सभी अधिकारियों को गिरफ्तार कर लिया था। फलस्वरूप राजा ने प्रार्थना की कि उसकी रियासत को बम्बई में मिला लिया जाय। जंजीरा के मामले में कोई कठिनाई उपस्थित नहीं हुई, क्योंकि रियासत की शान्ति और व्यवस्था का प्रशासन पहले ही से बम्बई सरकार के हाथ में था। नवाब को केवल विलय-पत्र पर हस्ताक्षर करने थे।

अब हम गुजरात की रियासतों के मामले पर विचार करेंगे। यह अस्वाभाविक न था कि संयुक्त काठियावाड़ रियासत का निर्माण गुजरात की रियासतों के शासकों के हृदयों में इस प्रकार की आशाओं का संचार करता कि हम भी ऐसा ही संघ बनाये और यदि सम्भव हो तो बड़ौदा को भी मिलाने की कोशिश करें। यही एक ऐसा मार्ग था, जिससे वे अपनी पृथक् सत्ता कायम रख सकते थे। परन्तु वे किसी न किसी प्रकार बम्बई में विलयन से बचना चाहते थे। परन्तु जब वे बड़ौदा के शासक के पास गये, तो उसने उनका बड़ौदा से मिलने का प्रस्ताव ठुकरा दिया। इसके बाद रियासत-मन्त्रालय और गुजरात की रियासतों के शासकों के मध्य बातचीत आरम्भ हो गयी। शासक विलयन-प्रस्ताव का अन्त तक विरोध करते रहे। अन्त में उन्हें विश्वास हो गया कि अब इसका कोई दूसरा विकल्प नहीं है।

जैसा कि अन्य मामलों में हुआ, प्रिवी-पर्सों का प्रश्न सामने आया। जब वह तय हो गया और शासकों को तसल्ली हो गयी, तो वे अपनी रियासतों को बम्बई प्रान्त में मिलाने के लिए राजी हो गये। अपने वक्तव्य में उन्होंने कहा कि "हमने प्रसन्नता से कर्त्तव्य की पुकार का अनुश्रवण किया है और अपनी रियासतों का बम्बई प्रान्त के साथ एकीकरण करके महागुजरात प्रान्त बनाने में प्रथम कदम उठाने का निर्णय किया है।"

दांता की छोटी रियासत को, जिसने विलयन-समझौते पर हस्ताक्षर नहीं किये थे, कुछ महीनों बाद ऐसा करने के लिए मना लिया गया। डांग्स की रियासत, जो बम्बई के सूरत और नासिक जिलों के बीच में थी, बम्बई प्रान्त का एक पृथक् जिला

बना ली गयी। उसकी विचित्र स्थिति और उसकी जनसंख्या की रचना के कारण ऐसा किया गया। डांग्स के अधिकांश निवासी आदिवासी हैं।

इस क्षेत्र में अब केवल दो ही रियासतें निपटारे के लिये शेष थीं--बम्बई के उत्तर में बड़ौदा और दक्षिण में कोल्हापुर। ये दोनों ही रियासतें जीवन-क्षम थीं; अतः उन्हें वाइसराय के आश्वासनों के अनुसार, परिसमाप्ति के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था। परन्तु कोल्हापुर रियासत में 1948 के आरम्भ में जो बड़े पैमाने पर उपद्रव हुए, उनके फलस्वरूप वहां की स्थिति इतनी बिगड़ गयी कि शासक स्वयं भारत सरकार द्वारा नामजद प्रशासक को रखने के रियासत-मन्त्रालय के प्रस्ताव को स्वीकार करने के लिए तैयार हो गया। महाराजा ने, जिसे अपनी प्रजा की पूर्ण राजभक्ति प्राप्त न थी, शान्तिप्रिय पुरुष की भांति व्यवहार किया।[1] जब फरवरी 1949 में उसे बातचीत के लिए नयी दिल्ली बुलाया गया, तो वह बिना अधिक ननु-नच के अपनी रियासत के बम्बई में विलयन के समझौते पर हस्ताक्षर करने के लिए राजी हो गया। शान्ति और व्यवस्था की असन्तोषजनक स्थिति तथा रियासत की दुर्बल वित्तीय व्यवस्था के कारण विलयन के पक्ष में निर्णय करने में उसे देर न लगी; इसके फलस्वरूप उसे पुष्कल प्रिवी-पर्स भी प्राप्त हुआ। कोल्हापुर के विलयन के साथ, दक्षिण की रियासतों का भविष्य सदा के लिए निश्चित हो गया।[2]

मध्यभारत संघ

सौराष्ट्र की भांति, भारत के ठीक मध्य में एक बहुत बड़ा राज्यक्षेत्र देसी राजाओं के शासनाधीन था। सेन्ट्रल इंडिया एजेंसी में इन रियासतों की संख्या 25 थी और इनका क्षेत्रफल 47000 वर्ग मील था। ये रियासतें प्रायः एक अविभाज्य राज्य क्षेत्र-

---

[1] 1940 में कोल्हापुर के शासक की मृत्यु के बाद, एक शिशु गोद लिया गया और उत्तराधिकारी मान लिया गया तथा उसकी शैशवावस्था में शासनप्रबन्ध के लिए एक संरक्षक परिषद स्थापित कर दी गयी। कुछ समय बाद 1947 में बच्चा मर गया। अब राजनीतिक विभाग ने देवास-सीनियर के महाराजा को कोल्हापुर के शासक के रूप में मान्यता दे दी। विधवा महारानी इस उत्तराधिकार से कभी सन्तुष्ट न हुई। उसका विरोध और यह तथ्य कि नया शासक उसकी प्रजा की दृष्टि में एक बाहरी व्यक्ति था, उसके मार्ग में गंभीर बाधा सिद्ध हुए।

[2] बड़ौदा के विलयन के सम्बन्ध में पृ० 276 देखिये।

खण्ड बनाती थीं। मुख्य रियासतें ग्वालियर (क्षेत्रफल 26387 वर्ग मील, जनसंख्या 37 लाख) और इन्दौर (क्षेत्रफल 9902 वर्ग मील, जनसंख्या 15 लाख) थीं।

ये दोनों ही रियासतें जीवन-क्षम थीं; अतः विलयन का विषय बड़ी सावधानी से सुलझाना था। महाराजा ग्वालियर ने पहले ही दिसम्बर 1946 में अपनी प्रजा को उत्तरदायी शासन देने के अपने इरादे की घोषणा कर दी थी; और मई 1947 में उसने वस्तुतः जन-प्रतिनिधियों की अन्तरिम सरकार बना दी थी। एक संविधान-निर्मात्री संस्था भी बनायी गयी थी। यह एक अत्युत्तम अग्रसरता थी, क्योंकि अभी तक कोई भी दूसरी बड़ी रियासत प्रजा की इच्छाओं की पूर्ति की दिशा में इतनी आगे नहीं बढ़ी थी। ठीक इसी समय मध्य भारत की अन्य छोटी रियासतों के प्रतिनिधि आपस में मिले और उन्होंने ग्वालियर तथा इन्दौर को भी मिला कर एक बड़ा रियासत संघ बनाने के पक्ष में अपनी राय जाहिर की। इससे रियासत मन्त्रालय के लिए यह आवश्यक हो गया कि वह इस विषय में महाराजा ग्वालियर के मन की थाह ले। रियासत मन्त्रालय और ग्वालियर, इन्दौर तथा अन्य रियासतों के महाराजाओं के मध्य लम्बे विचार-विमर्श के पश्चात् सिद्धान्त रूप से यह निश्चित हुआ कि इस क्षेत्र की सभी रियासतों का एक संघ बनाया जाय।

विगत महायुद्ध में, इन्दौर के महाराजा ने अपनी कर्त्तव्य-सीमा को लांघ कर भारत की राष्ट्रीय आकांक्षाओं की पूर्ति की अनिवार्य आवश्यकता पर बल देते हुए, अमेरिका के राष्ट्रपति को एक पत्र लिखा था। वही महाराजा अब संघ-निर्माण में अपनी सहायता देने के लिए अनिच्छुक था। यह कम निराशाजनक बात न थी। वह अब रियासतों से "तीसरी शक्ति" के जन्म की बात सोचने लगा था।

उड़ीसा की रियासतों के विलयन के पश्चात्, जब एकीकरण का प्रश्न उठा, तो रियासत मंत्रालय को जिस मुख्य समस्या का सामना करना पड़ा वह यह थी कि ग्वालियर और इन्दौर की दो जीवन-क्षम रियासतों को किस प्रकार एक संघ में आबद्ध किया जाय। अनेक विकल्प उपस्थित किये गये और शासकों तथा रियासतों में काम करने वाले राजनीतिक संगठनों ने उन पर विचार किया। परन्तु अन्त में ग्वालियर और इन्दौर तथा मध्य भारत की अन्य रियासतों का संघ ही एक ऐसा विकल्प था, जिसे इन रियासतों के प्रजामण्डलों के प्रतिनिधियों ने पसन्द किया। वी० पी० मेनन इन प्रतिनिधियों से बम्बई में मिले थे। परन्तु ग्वालियर और इन्दौर की ओर से कुछ विरोध हुआ। ये दोनों ही रियासतें जीवन-क्षम एकक थीं। यह भी कहा गया कि विनाश के लिए केवल मराठा रियासतें चुनी गयी हैं, जबकि जोधपुर, बीकानेर और जयपुर जैसी

राजपूत रियासतें अछूती छोड़ी जा रही हैं।[1] वास्तविक विरोधाभास तो यह था कि ग्वालियर और इन्दौर दोनों जीवन-क्षम होने के कारण ही अस्तित्व में रहने के लिए अपनी स्पष्ट अधिमान्यता प्रकट नहीं कर रहे थे, अपितु उन्हें प्रवल स्थानीय लोकमत का भी समर्थन प्राप्त था। इन रियासतों में गद्दी के प्रति राजभक्ति की सच्ची भावना विद्यमान थी।

ऐसी स्थिति में सरदार पटेल स्वयं मैदान में आये और उन्होंने ग्वालियर के महाराजा से वातचीत की। उन्होंने यह तर्क उपस्थित किया कि यदि जीवन-क्षम रियासतों को पृथक् एककों के रूप में रहने दिया गया, तो शासकों के अधिकार और विशेषाधिकार स्थानीय विधान-मण्डलों की दया पर अवलम्बित रहेंगे, और यह आशा नहीं की जा सकती कि स्थानीय नेता शासकों के साथ न्याय करेंगे। वे दो संघ बनाने के भी विरुद्ध थे। सरदार पटेल के तर्क का महाराजा ग्वालियर पर कुछ प्रभाव पड़ा और प्रिवी पर्सों के तथा कुछ अन्य विशेषाधिकारों के प्रश्न के सन्तोषजनक समाधान के वाद अन्त में वह और महाराजा इन्दौर दोनों अपनी रियासतों के एक संघ में एकीकरण के लिए राजी हो गये। अपने ही हित में उन्होंने वह लेना स्वीकार किया, जो उन्हें दिया जा रहा था। "सर्वनाशे समुत्पन्ने अर्द्धं त्यजति पण्डितः। अर्द्धेन कुरुते कार्यं सर्वनाशो हि दुःसहः।"

इसके वाद प्रतिज्ञापत्र तैयार किया गया और भोपाल को छोड़ कर मध्य भारत की रियासतों के अन्य शासकों के प्रिवी पर्सों और विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में अन्य नियमित समझौते किये गये। प्रतिज्ञापत्र पर अप्रैल 1948 में हस्ताक्षर हुए, और मई 1948 में मध्य भारत संघ का उद्घाटन प्रधान मन्त्री नेहरू द्वारा किया गया।

पंजाब रियासत संघ

पंजाव की तात्कालिक स्थिति से उत्पन्न कुछ विचित्र आरम्भिक कठिनाइयों से पार होने के वाद, जुलाई 1948 में, पूर्वी पंजाव की 6 रियासतों पटियाला, नाभा, झींद, फरीदकोट, मलेरकोटला और कपूरथला को मिला कर पटियाला और पूर्वी पंजाव रियासत संघ (पेप्सू) की रचना की गयी। देश के विभाजन और पश्चिम पाकिस्तान से वहुत वड़ी संख्या में गैर-मुसलिम शरणार्थियों के आव्रजन तथा इन रियासतों में रहने वाले मुसलिम जनसमुदाय के प्रव्रजन के फलस्वरूप, ये रियासतें

---

[1]वी० पी० मेनन—पृ० 219

तथा शेष पंजाब भी उस समय असाधारण परिस्थितियों की चपेट में आ गये थे। ठीक उसी समय, जबकि रियासतों के शासकों के साथ अनौपचारिक विचार-विमर्श शुरू होने वाला था। फरीदकोट में राजा और रियासती प्रजा परिषद के मध्य संघर्ष उठ खड़ा हुआ। उस वर्ष रियासती प्रजा परिषद का अध्यक्ष शेख अब्दुल्ला था। ऐसी रिपोर्टें मिलीं कि राजा राजनीतिक बन्दियों तथा मुसलिम निष्क्रान्तों के साथ दुर्व्यवहार कर रहा है। शिकायतें इतनी गम्भीर थीं कि रियासत मन्त्रालय को हस्तक्षेप करना पड़ा। अन्त में लार्ड माउन्ट बेटन ने इस मामले पर विचार करने के लिए ग्वालियर, बीकानेर, पटियाला और नवानगर के शासकों की एक मीटिंग बुलायी। निश्चय हुआ कि इस कठिनाई से बाहर निकलने का सर्वोत्तम उपाय यह होगा कि भारत सरकार फरीदकोट रियासत का प्रशासन अपने हाथ में ले ले। तत्काल ऐसा ही किया गया।

जैसा कि अन्य रियासत-समूहों के मामले में हुआ था, पूर्व पंजाब रियासतों के भविष्य के बारे में भी अनेक विकल्प उपस्थित किये गये। यह सुझाव दिया गया कि ये रियासतें पंजाब में मिला दी जायें। एक दूसरा प्रस्ताव यह था कि पांचों छोटी रियासतें पटियाला में मिला दी जायें, क्योंकि पटियाला रियासत सबसे बड़ी थी। और भी कई संयोजनों और क्रमचयनों पर राजनीतिज्ञों और प्रशासकों ने विचार किया। परन्तु रियासत मन्त्रालय के विचार से सबसे अच्छा हल यह था कि छहों रियासतों को मिला कर एक संघ बना दिया जाय। नाभा, कपूरथला, झींद और मलेरकोटला के शासकों ने इस प्रस्ताव पर कोई गम्भीर आपत्ति नहीं की, परन्तु महाराजा पटियाला की अनुक्रिया उत्साहजनक न थी। वह इस पक्ष में था कि रियासत मन्त्रालय अथवा स्थानीय जनता चाहे कुछ भी शर्तें लगाये, पर पटियाला पृथक् एकक ही रहे। अन्त में जब उसे जीवन भर के लिए संघ का अध्यक्ष चुन लिया गया तो उसकी अनिच्छा दूर हो गयी। उसको तथा पटियाला रियासत को दूसरी रियायत यह दी गयी कि नये एकक का नाम पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासत संघ रख दिया गया। कलसिया और नलगढ़ की छोटी रियासतें भी, जो अब तक पंजाब की पहाड़ी रियासतों में शामिल थीं, मुख्य रूप से इस लिए पेप्सू में मिला दी गयीं कि उनके राज-परिवारों और महाराजा पटियाला में घनिष्ठ सम्बन्ध था। पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासत संघ का उद्घाटन पटेल ने 15 जुलाई 1948 को किया।

इसके बाद नये संघ के भावी प्रशासन से सम्बन्धित अन्य समस्यायें सुलझायी गयीं। मुख्य समस्या लोकप्रिय मन्त्रियों के चुनाव की थी। वस्तुतः प्रत्येक प्रतिज्ञा-

बद्ध रियासत में प्रजा मण्डल थे। इसके अतिरिक्त, सिखों का मुख्य संगठन अकाली दल था। विलयन से कुछ ही महीने पहले, लोकसेवा सभा नामक एक और संगठन अस्तित्व में आ गया था। ये सभी संगठन अपने-अपने नामितों के पक्ष में खींचातानी करने लगे। कांग्रेस और प्रजा मण्डलों की एक न चली। अन्त में एक अभीक्षक (केअर-टेकर) सरकार बनायी गयी, जिसका मुख्य मन्त्री पटियाला रियासत का एक अधिकारी ज्ञानसिंह रेड़ेवाला हुआ। इस प्रकार संघ की बेमेल गाड़ी चल पड़ी। परन्तु अनेक कमजोरियों और अनुवर्ती उथल-पुथल के बावजूद, प्रशासनिक दार्ढ्य से प्राप्त लाभ इतने भारी सिद्ध हुए कि उन्होंने संघ के मामलों को अन्त में पर्याप्त कार्यक्षम आधार प्रदान कर दिया।

उन 6 रियासतों के अलावा, जिनसे पटियाला और पूर्वी पंजाब रियासत संघ बना, दक्षिण-पूर्वी पंजाब में मुसलिम शासकों के अधीन तीन छोटी रियासतें और थीं, जिनके नाम थे लोहारू, पटौदी और दोजाना। ये सब अपनी भौगोलिक स्थिति और छोटे आकार के कारण पूर्वी पंजाब में मिला दी गयीं।

हिमाचल प्रदेश

एक और बड़ा संघ हिमालय की उन रियासतों का बनाया गया, जिन्हें शिमला पहाड़ी रियासतें कहते थे। इनकी संख्या 25 थी। इनके साथ कुछ भिन्न व्यवहार किया गया। इनके संघ को, जो हिमाचल प्रदेश कहलाता था, संघीय क्षेत्र का दर्जा दिया गया और उसे भारत सरकार द्वारा नियुक्त एक मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नर) के अधीन कर दिया गया। सत्ता-हस्तान्तरण के समय, इन रियासतों की हालत इतनी खराब थी, कि सुकेत, बालसन और चम्बा के शासकों ने अपनी रियासतों का प्रशासन स्वयमेव भारत सरकार को सौंप दिया। कुछ कारणों से केवल बिलासपुर की एक रियासत अलग रखी गयी और वह एक पृथक् मुख्य आयुक्त के अधीन कर दी गयी। भाखड़ा बांध का निर्माण-स्थल इसी रियासत में था, और उस समय बांध बन रहा था। इसलिए इसे तब तक पृथक् संघीय क्षेत्र मानना आवश्यक था, जब तक यह जल-विद्युत्-परियोजना पूरी न हो जाती।[1]

राजस्थान

जितने ध्यान और सावधानी की अपेक्षा राजपूताना की रियासतों के एकीकरण

---

[1]बाद में 1954 में बिलासपुर की रियासत भी हिमाचल प्रदेश में मिला दी गयी।

में हुई उतनी अभी तक अन्य किसी रियासत-समूह के एकीकरण में नहीं हुई थी। सबसे पहले तो ये 22 रियासतें (19 सलामी और 3 गैर-सलामी) लगभग 10 शताब्दियों के अपने सतत अस्तित्व के आधार पर कुछ न कुछ ऐतिहासिक महत्त्व रखने का दावा कर सकती थीं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनमें से कुछ रियासतें नयी थीं, फिर भी कुल मिला कर सारे क्षेत्र की एक सुदृढ़ और अभग्न राज-परम्परा थी। दूसरे, राजपूत राजा अति संवेदनशील थे और आपस में कठोर पदक्रम कायम रखते थे, जो लगभग जाति-व्यवस्था जैसा था। तीसरे, राजत्व भावना की जड़ें भारत के और किसी क्षेत्र में इतनी गहरी नहीं गयी थीं, जितनी राजपूताना में। यहां प्रजा व्यक्तिगत शासन की इतनी अभ्यस्त हो गयी थी कि राजा के प्रति राजभक्ति उनके स्वभाव का एक अंग बन गयी थी। इसके अलावा स्थानीय परिस्थितियां और अन्य हालतें भी थीं, जिन्होंने मिल कर इन रियासतों के एकीकरण की प्रक्रिया को मन्द और क्रमिक बना दिया।

राजपूताना की रियासतों का एकीकरण 5 अवस्थाओं में पूरा हुआ। पहली अवस्था में दक्षिणी राजपूताना में स्थित चार रियासतों, अलवर, करौली, धौलपुर और भरतपुर का विलय पूरा हुआ। ऐसा हुआ कि अलवर और भरतपुर देश-विभाजन से पहले और बाद में साम्प्रदायिक उपद्रवों से काफी दहल गये थे। 1947 में डा० एन० बी० खरे अलवर का प्रधान मन्त्री था। वह एक दुराग्रही हिन्दू महासभाई था। बताया जाता है कि मेव सम्प्रदाय के विरुद्ध हिन्दुओं को भड़काने में उसी का हाथ था। मेव अपने धार्मिक विश्वास से मुसलिम थे और परम्परा से जिंगो। भरतपुर और धौलपुर में भी मेवों की जनसंख्या काफी थी। कहा जाता है कि अलवर की घटना के बाद ये रियासतें भी साम्प्रदायिक भावना से प्रभावित हो गयीं। मानो इतना काफी न था, अलवर पर यह भी सन्देह किया गया कि वह महात्मा गांधी की हत्या के षड्यन्त्र से सम्बन्धित था। यह कहा गया कि गांधी जी का हत्यारा और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से सम्बन्धित अन्य व्यक्ति अलवर में गुप्त बैठकें किया करते थे और गोली चलाने का अभ्यास किया करते थे। इसलिए महात्मा गांधी की हत्या के तुरन्त बाद डा० खरे और महाराजा अलवर को दिल्ली बुलाया गया और उन्हें शहर ही में नजरबन्द कर दिया गया। अलवर का प्रशासन रियासत मन्त्रालय ने अपने हाथ में ले लिया।

इसी बीच महाराजा अलवर और महाराजा भरतपुर तथा डा० खरे के विरुद्ध लगाये गये आरोपों की जांच शुरू हो गयी। भरतपुर का प्रशासन भी भारत सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। अधिक प्रतीक्षा न करके, भारत सरकार ने इन दोनों रियासतों

तथा धौलपुर एवं करौली की समीपवर्ती रियासतों को मिला कर एक संघ बनाने का निश्चय कर लिया। इसका नाम मत्स्य संघ रखा गया और इसका शुभारम्भ मार्च 1948 में हुआ।

राजस्थान का यह पहला संघ था। राजस्थान के एकीकरण की ओर दूसरा कदम उठाने में कोटा, झालावाड़ और डूंगरपुर के शासकों के प्रगतिशील रुख के कारण सुविधा हुई। ये शासक संघबद्ध होने के विचार से पहले ही सहमत थे और विभिन्न रियासतों के मन्त्री इस विषय पर कुछ विचार-विमर्श भी कर चुके थे। इन रियासतों के प्रजा मण्डलों तथा कांग्रेस संगठनों के परामर्श से यह निश्चय किया गया कि कोटा, बूंदी, डूंगरपुर, झालावाड़, किशनगढ़ और शाहपुरा को मिला कर एक संघ बनाया जाय। टोंक की रियासत भी इसी संघ में शामिल हो गयी—मालवा में स्थित इसका एक राज्यक्षेत्र मध्यभारत में चला गया। कोटा का शासक राजप्रमुख चुना गया।

इस संघ के निर्माण के कुछ ही दिनों बाद, उदयपुर के महाराणा ने इसमें शामिल होने की इच्छा प्रकट की। इस बात को देखते हुए कि सभी राजपूत रियासतें और विशेष रूप से वे, जो दूसरा संघ बनाने के लिए परस्पर मिल गयी थीं, उदयपुर के राजवंश का सदा से विशेष सम्मान करती चली आयी थीं, महाराणा के संकेत का स्वागत किया गया और उदयपुर रियासत भी संघ में शामिल हो गयी। कोटा के शासक ने प्रसन्नता से राजप्रमुख का पद महाराणा के लिए खाली कर दिया और स्वयं उपराज-प्रमुख बन गया। यह राजस्थान का तीसरा संघ था।

जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर से बातचीत चल रही थी। ये रियासतें अभी संघ में शामिल नहीं हुई थीं। सरदार पटेल ने सुझाव दिया कि इन चारों रियासतों को भी राजस्थान संघ में शामिल हो जाना चाहिए। राजप्रमुख के निर्वाचन तथा राजधानी के चुनाव के प्रश्न पर काफी सौदेबाजी हुई। इन प्रश्नों के सन्तोषजनक समाधान के पश्चात् समस्त शासक मौजूदा संघ में शामिल होकर महाराजस्थान बनाने के लिए राजी हो गये। जयनारायण व्यास, हीरालाल शास्त्री, माणिकलाल वर्मा और गोकुलभाई भट्ट आदि लोकप्रिय नेताओं के परामर्श से यह निश्चय किया गया कि उदयपुर के महाराणा को महाराजस्थान का महाराजप्रमुख नियुक्त किया जाय। राजप्रमुख का पद जयपुर के महाराजा को दिया गया। जोधपुर और कोटा के शासक प्रवर उपराजप्रमुख तथा बूंदी और डूंगरपुर के शासक अवर उपराजप्रमुख बनाये गये।

राजपूताना की रियासतों के एकीकरण की प्रक्रिया को पूरा करने की दिशा में

जो अन्तिम कदम उठाया गया, वह था मत्स्य संघ को महाराजस्थान में मिलाना। भरतपुर और धौलपुर के भविष्य के विषय में मतभेद था; अतः यह निश्चित हुआ कि यह जानने के लिए बाद में जनमत-संग्रह किया जाय कि अधिकांश जनता राजस्थान में ही रहना चाहती है, अथवा निकटवर्ती युक्तप्रान्त से मिलना चाहती है। जनमत की प्रवृत्ति पर रिपोर्ट देने के लिए शंकरराव देव, आर० के० सिधवा और प्रभुदयाल हिम्मतसिंहका की एक समिति बनाई गयी। समिति की रिपोर्ट के अनुसार भरतपुर और धौलपुर राजस्थान में ही रहे।

सिरोही

राजपूताना की एक रियासत का भाग्य अब भी अधर में लटका था। यह सिरोही थी, जो गुजरात की सीमा पर स्थित थी। सरदार पटेल को सुझाव दिये गये कि राजपूताना की कुछ रियासतें, जहां अधिकांश जनता गुजराती बोलती थी, पश्चिमी भारत एवं गुजरात रियासत अभिकरण को स्थानान्तरित कर दी जायें। ये रियासतें थीं: सिरोही, पालनपुर, दांता, ईदर, विजयनगर, डूंगरपुर, बांसवाडा और झाबुआ। प्रादेशिक आयुक्त और स्थानीय प्रजामण्डल नेताओं के साथ विचार-विमर्श के बाद यह निश्चित हुआ कि केवल पालनपुर, दांता, ईदर और विजयनगर को पश्चिमी भारत एवं गुजरात रियासत अभिकरण को स्थानान्तरित किया जाय। फरवरी 1948 में यह काम पूरा हो गया। बाद में सिरोही को भी पश्चिमी भारत एवं गुजरात रियासत अभिकरण में मिला दिया गया।

आबू पहाड़ सिरोही रियासत में ही है। पिछले कुछ दशकों में सिरोही को अपने शासकों के कारण बड़े बुरे दिन देखने पड़े थे। रियासत की घटनाओं के समाचार ब्रिटिश भारत के समाचारपत्रों में प्रायः प्रमुख स्थान पाते थे। वर्तमान शताब्दी के आरम्भिक वर्षों में गद्दी के लिए उत्तराधिकार का प्रश्न लगातार विवाद का विषय बना रहा। शासक के पक्षपात और भेदभावपूर्ण दृष्टिकोण के कारण रियासत की सेवा में सदा बाहरी लोगों की भरमार होती रही।

इसके अलावा, सिरोही के भविष्य के विषय में भी कुछ मतभेद रहा। गुजराती लोग यह सोचते थे कि परम्परा एवं इतिहास की दृष्टि से आबू पहाड़ की संस्कृति गुजराती रही है; अतः वे यह मांग कर रहे थे कि सम्पूर्ण रियासत को बम्बई में मिला दिया जाय। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृति की दृष्टि से यह रियासत राजस्थान की अपेक्षा गुजरात से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध रखती थी। परन्तु राजस्थान के लोग

उल्टा ही सोचते थे। आबू पहाड़ पर राजपूताना के लगभग सभी शासकों के महल थे, क्योंकि इस क्षेत्र में एक मात्र यही पहाड़ी स्थान था। जब सिरोही के लोगों की राय ली गयी, तो उनमें भी मतभेद पाया गया। अन्त में रियासत को विभाजित करना पड़ा —आबू रोड और दिलवारा की तहसीलें बम्बई में मिला दी गयीं और शेष रियासत राजपूताना में मिला दी गयी। इसके साथ राजपूताना की रियासतों के एकीकरण और दृढ़ीकरण की प्रक्रिया पूरी हो गयी। नये संघ का नाम राजस्थान रखा गया, जो अब तक बने समस्त रियासत-संघों में सबसे बड़ा था।

त्रावणकोर-कोचीन संघ

धुर दक्षिण में स्थित त्रावणकोर और कोचीन की रियासतें अपनी प्रजा के प्रगतिशील दृष्टिकोण के लिए प्रसिद्ध थीं। वर्षों से इन रियासतों में साक्षरता का प्रतिशतक भारत में सबसे अधिक था।

वाइसराय के 3 जून 1947 के वक्तव्य के प्रति त्रावणकोर के दीवान, सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर, की प्रथम प्रतिक्रिया का उल्लेख पहले किया जा चुका है। उसने त्रावणकोर की स्वतन्त्रता के पक्ष में अपनी राय जाहिर की थी। रियासत की प्रजा उसके विचार से कभी सहमत नहीं हुई। कुछ ही महीने बाद, वाइसराय तथा रियासत मन्त्रालय के प्रतिनिधियों के साथ अपनी बातचीत के फलस्वरूप, जब सर सी० पी० रामस्वामी अय्यर अधिमिलन के प्रश्न पर पुनर्विचार करने लगा, तो त्रावणकोर के महाराजा ने अधिमिलन-पत्र पर हस्ताक्षर करने की स्वीकृति तार द्वारा भेज कर अपनी देशभक्ति का पूर्ण परिचय दिया।

कोचीन रियासत के भारत-अधिमिलन के सम्बन्ध में तो कभी कोई कठिनाई प्रतीत नहीं हुई। महाराजा ने पहले ही एक वक्तव्य निकाल कर भारत-अधिमिलन के पक्ष में अपनी राय जाहिर कर दी थी और अपनी प्रजा को उत्तरदायी शासन का वचन दे दिया था; यही नहीं, उसने एक प्रकार से अपनी रियासत को भावी मलयालम-भाषी प्रान्त में मिलाने की इच्छा भी प्रकट कर दी थी। इस बात के बावजूद कि त्रावणकोर और कोचीन रियासतों के पारस्परिक सम्बन्ध अच्छे न थे, दोनों रियासतों की जनता दोनों राज्यक्षेत्रों का एकीकरण चाहती थी। जनता की राय जानते ही रियासत मन्त्रालय ने यह काम अपने हाथ में ले लिया। उसके सामने असंख्य कठिनाइयां थीं, जिनमें से कुछ भावुकताजन्य थीं जो परंपरा पर आधारित थीं, और कुछ आर्थिक

और भौगोलिक थीं। इनमें से एक बड़ी कठिनाई यह थी कि त्रावणकोर की अल्पसंख्यक तमिलभाषी जनता मद्रास प्रान्त में शामिल होने की मांग कर रही थी।

वी० पी० मेनन और रियासत मन्त्रालय के उनके साथियों की प्रशंसा में यह कहना पड़ेगा कि अपनी निपुणता और धैर्यशीलता के कारण, वे सब समस्याओं को सुलझाने तथा इन दोनों रियासतों के विलय को वास्तविक बनाने में समर्थ हुए। मेनन ने ऐक्य-केरल के प्रश्न को अछूता ही छोड़ दिया। उन्होंने आश्वासन दिया कि सभी मलयालमभाषी क्षेत्रों के एकीकरण का प्रश्न बाद में तय किया जायगा।

जुलाई 1949 में त्रावणकोर-कोचीन संघ का उद्घाटन हुआ। त्रावणकोर के महाराजा राजप्रमुख बनाये गये और राजधानी तिरुअनन्तपुरम् में रखी गयी।

समूहीकरण और एकीकरण की प्रक्रिया शीघ्र ही समाप्त हो गयी; क्योंकि कुछ रियासतें ऐसी थीं, जिनके साथ ऐसा व्यवहार नहीं किया जा सकता था। वे इतनी छोटी थीं कि जीवनक्षम प्रशासनिक एकक नहीं बन सकती थीं और क्योंकि वे प्रान्तीय क्षेत्रों से घिरे हुए द्वीपों के समान थीं, इसलिए अन्य रियासतों से नहीं मिल सकती थीं। युक्तप्रान्त में रामपुर और बनारस, मद्रास में पुड्डुकोट्टाई, पश्चिम बंगाल में कूच-विहार, तथा और भी कई ऐसी ही रियासतें थीं। ये सब निकटवर्ती प्रान्तों में मिला दी गयीं। इससे रियासती जनता को सन्तोष हुआ और शासकों ने भी अधिक विरोध न किया।

अब भी जो रियासतें शेष रहीं, वे ऐसी थीं जिनके साथ और भी भिन्न प्रकार का व्यवहार करना था, और जिनसे एक-एक करके सुलटना था। ऐसी रियासतों में मैसूर सबसे पहली थी। उससे सुलटने में कोई कठिनाई न हुई। महाराजा सम्पूर्ण-सत्ता निर्वाचित विधान सभा को सौंपने, उत्तरदायी शासन प्रदान करने और स्वयं रियासत का सांविधानिक (प्रतीक) अध्यक्ष बनने के लिए तुरन्त राजी हो गया।

कुछ जनमत मैसूर और उसके बाहर के कन्नडभाषी क्षेत्र के एकीकरण के पक्ष में था। परन्तु मैसूर की जनता में इस विषय में मतभेद था। संभवतः अधिकांश लोग इस बात के लिए उत्सुक थे कि मैसूर अपना स्वरूप बनाये रखे। यद्यपि इस विषय में महीनों समाचारपत्रों और सार्वजनिक सभाओं में तर्क-वितर्क चलते रहे, परन्तु अन्त में रियासत मन्त्रालय ने मैसूर के कांग्रेस नेताओं को बम्बई और मद्रास प्रान्तों के कन्नड़-भाषी जिलों को मिलाने तथा एक संयुक्त कन्नडभाषी रियासत बनाने के लिए राजी कर लिया। यह बात ध्यान देने की है कि अन्य सभी मामलों में केवल देसी रियासतें अन्य क्षेत्रों से मिली थी। परन्तु इस मामले में ब्रिटिश भारत के प्रान्तों के कुछ जिले

मैसूर से मिलने को उत्सुक थे। इस प्रकार भारत में केवल मैसूर ही एकमात्र ऐसी रियासत थी, जो स्वतन्त्रतोत्तर राजनीतिक परिवर्तनों से प्रभावित हुए बिना पहले की तरह कायम रही; हां, बम्बई और मद्रास प्रेसीडेंसियों का कुछ भारतीय क्षेत्र मिल जाने से उसमें वृद्धि अवश्य हुई।

बड़ौदा का मामला

यदि कुछ प्रतिकूल घटनायें न होतीं, तो हैदराबाद के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया जाता तथा बड़ौदा के साथ व्यवहार में समुचित परिवर्तन कर दिये जाते। हैदराबाद को छोड़ कर पहले हम बड़ौदा की घटनाओं का वर्णन करेंगे। इस रियासत के विलय की कहानी इसके शासक के हास्यास्पद व्यवहार से और भी अधिक रोचक हो गयी है। बड़ौदा का महाराजा प्रतापसिंह इतना खर्चीला था कि राजाओं के मानक से भी "उड़ाऊ" समझा जाता था। अपने शासन के कुछ ही वर्षों में उसने भारत में तथा विदेशों में 8 करोड़ रुपये खर्च कर डाले। वह अवांछनीय मित्रों और सलाहकारों से घिरा रहता था, जो पापकर्मों में उसकी सहायता ही नहीं करते थे, अपितु उसे उकसाते भी रहते थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि महाराजा अस्थिर बुद्धि था, जिससे वह कोई निर्णय नहीं कर पाता था और निर्णय करने के बाद उस पर दृढ़ नहीं रहता था।

मेनन महाराजा के साथ विचारविमर्श के लिए बड़ौदा गये। परन्तु वे मुश्किल से बड़ौदा से बाहर आये होंगे कि महाराजा ने अपने और रियासत-मन्त्रालय के प्रतिनिधि के बीच जो कुछ तय हुआ था, उसके बारे में अपना विचार बदल दिया। अतः सरदार को स्वयं वहां जाना पड़ा। सरदार पटेल ने महाराजा को सलाह दी कि वह बम्बई में विलय के लिए राजी हो जाय। क्योंकि यदि बड़ौदा को पृथक् रियासत के रूप में भी रहने दिया जाता, तब भी यह विश्वास नहीं किया जा सकता था कि वह सांविधानिक (प्रतीक) अध्यक्ष के रूप में भी रह सकेगा। इससे पहले वह अपने प्रधान मन्त्री डा० जीवराज मेहता और उसके साथियों को समस्त सत्ता सौंपने के लिए दिये गये अपने वचनों को भंग कर चुका था। जब तक सरदार बड़ौदा में रहे, तब तक महाराजा सदाशय बना रहा और रियासत-मन्त्री की सलाह मानने के लिए राजीहो गया।

परन्तु ज्योंही सरदार पटेल दिल्ली पहुंचे, राजा फिर मुकर गया। इससे सरदार की स्थिति अधिक दृढ़ हो गयी; क्योंकि वे अपराध-वृत्तिवालों से सुलटना जानते थे। विशुद्ध परिणाम यह हुआ कि बड़ौदा को बम्बई में मिला दिया गया।

पूर्व में मणिपुर की टेढ़ी-मेढ़ी रियासत थी, जो सामरिक महत्त्व के कारण संघीय

क्षेत्र घोषित कर दी गयी। अब भी वह संघीय क्षेत्र है। पश्चिम बंगाल में त्रिपुरा की रियासत के साथ भी यही व्यवहार किया गया।

भोपाल

भोपाल अगस्त 1947 में भारतीय उपनिवेश (डोमिनियन) में मिल गया था। ऐसा करने के बाद नवाब ने अपनी पहली सख्ती त्याग दी और भोपाल को एक पृथक् सत्ता के रूप में कायम रखने का स्वप्न सदा के लिए भुला दिया। अब उसका रुख बदल गया और यह कहा जा सकता है कि उसने अपने को नयी स्थिति के अनुरूप ढालने में सच्ची कोशिश की। यह देख कर कि रियासत में सुधार अनिवार्य है उसने रियासती प्रजा मण्डल से बातचीत शुरू की और अप्रेल 1948 में वह लोकप्रिय नेताओं का मन्त्रि-मण्डल बनाने के लिए सहमत हो गया।

परन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात थी कि नवाब ने यह अच्छा कदम अति विलम्ब से उठाया। अब तक लोग कुछ आगे बढ़ गये थे और भोपाल के मध्यभारत संघ में विलय की मांग करने लगे थे। मांग के बाद आन्दोलन शुरू हो गया था। शान्ति भंग की आशंका से नवाब ने सरदार पटेल से परामर्श किया। पटेल के दूत वी० पी० मेनन के साथ बातचीत के परिणामस्वरूप नवाब ने मन्त्रिमण्डल को त्यागपत्र देने के लिए मना लिया और रियासत का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। लगभग एक वर्ष बाद, जून 1949 में, रियासत मन्त्रालय ने रियासत को अपने अधीन कर लिया और उसे मुख्य आयुक्त (चीफ कमिश्नर) का प्रान्त बना दिया। भोपाल में मुस्लिम अल्पमत की विशिष्ट स्थिति के कारण, भारत सरकार ने रियासती जनता को परिवर्तित परिस्थिति के साथ अपना सामंजस्य स्थापित करने के लिए प्रबंध-संचालनार्थ कुछ अधिक समय देना अनुचित न समझा।

1957 में, जब राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशों के फलस्वरूप राज्यों की सीमायें फिर से निर्धारित्त की गयीं, तो भोपाल भी, मध्यभारत संघ के साथ, मध्यप्रदेश में मिला दिया गया।

इस प्रकार, दो वर्ष से भी कम समय में, सरदार पटेल ने भारत के राजनीतिक संघटन का महान् कार्य पूरा कर दिया। यह ऐसा कार्य था, जिसकी गिनती भारत के इतिहास में सबसे अधिक कठिन कार्यों में की जानी चाहिए। विभिन्न आकार-प्रकार की 500 से अधिक रियासतों का भारत संघ में एकीकरण किया गया। सभी रियासतों का लोकतन्त्रीकरण किया गया और सभी राजनीति एवं संविधान की

दृष्टि से देश के शेष भाग के समकक्ष बनायी गयीं। हमें सरदार पटेल को धन्यवाद देना चाहिए कि उन्होंने यह कार्य बिना रक्त की बूंद गिराये और बिना गोली चलाये पूरा किया। वे राजाओं को अपने अधिकार और विशेषाधिकार स्वेच्छा से समर्पित करने के लिए मनाने में समर्थ हुए।

भारतीय और विदेशी लेखकों ने देसी रियासतों के सफल एकीकरण और संघटन को संसार की सबसे बड़ी क्रान्ति बताया है। संसार के इतिहास में केवल एक ही घटना इसके तुल्य कही जा सकती है, और वह है जर्मनी का एकीकरण, जो राजकुमार बिस्मार्क ने 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किया था। यद्यपि स्वतन्त्रता के साथ ऐसे अवसर आये थे, जिन्होंने ऐसे परिवर्तन के लिए अनुकूल वातावरण तैयार कर दिया था, फिर भी कार्य इतना महान् और इतना जटिल था कि सुन कर सिर चकराने लगता था। जिस वेग और शान्ति से यह कार्य पूरा हुआ, अन्तिम विश्लेषण में उसका श्रेय सरदार पटेल की दूरदर्शिता, निपुणता, सूझबूझ एवं कुशल नेतृत्व को मिलना चाहिए, जिन्होंने हर अवस्था में यह कार्य व्यक्तिगत स्तर पर किया।

रियासतों के एकीकरण के बाद की घटनायें अनेक समस्यायें अपने साथ लेकर आयीं, जैसे--सेवाओं का एकीकरण, कुछ सीमाओं का निर्धारण, नयी परिस्थितियों के अनुकूल रहने का अभ्यास, आदि। ये सभी समस्यायें कष्टसाध्य और नाजुक थीं। यद्यपि राजनीतिक विकास के विभिन्न स्तरों पर पहुंचे हुए और शासन की विभिन्न परम्पराओंवाले बीसियों प्रशासन, सुविधा की दृष्टि से समूहों में विभाजित कर दिये गये थे, परन्तु उनको समूहबद्ध करना आसान काम न था।

विभिन्न सेवाओं का एकीकरण तथा पहली रियासतों के समस्त कर्मचारियों के साथ उचित न्याय एक ऐसी समस्या थी, जिसे सुलझाने में 10 वर्ष से भी अधिक समय लगा। शायद इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण उन विभिन्न एककों के आन्तरिक एकीकरण की समस्या थी, जो इस समय समूहों में विभाजित कर दिये गये थे। क्षेत्र-भेद के कारण प्रायः प्रतिस्पर्धा उभड़ कर तल पर आ जाती थी, जिससे प्रशासन का काम कठिन और उलझनपूर्ण हो जाता था। राजवंशीय खिचाव भी थे, जिनसे जनता की राजभक्ति में तनाव पैदा हो जाता था।

शासनाधिकारमुक्त राजाओं को जो लम्बे-लम्बे पर्स दिये गये थे, उन्होंने प्रशासन के पहिये में एक और आरा लगा दिया, क्योंकि भूतपूर्व शासकों में से कई यह समझते थे कि उन्हें चालाकी से उनके विशेषाधिकार की स्थिति से वंचित किया गया है।

जब तक सरदार पटेल जीवित रहे, तब तक वे इन सब समस्याओं पर सबसे अधिक ध्यान देते रहे। उनके बाद भी रियासत-मन्त्रालय उनके दिखाये मार्ग पर ही चलता रहा।

1955 में रियासत मन्त्रालय समाप्त कर दिया गया। परन्तु समस्यायें तो पैदा होती ही रहीं। इस मन्त्रालय की समाप्ति पर ये समस्यायें स्वभावतः स्वराष्ट्र मन्त्रालय के सुपुर्द कर दी गयीं।

तीन भटकी रियासतें

हम देख चुके हैं कि 15 अगस्त 1947 तक, हैदराबाद, कश्मीर और जूनागढ़ को छोड़कर, भारतीय क्षेत्र की समस्त रियासतों ने अधिमिलन-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये थे। कश्मीर और हैदराबाद ने भारत और पाकिस्तान दोनों में से किसी में भी मिलना अस्वीकार कर दिया था, परन्तु जूनागढ़ पाकिस्तान में मिलना चाहता था। जूनागढ़ का शासक मुसलिम था और रियासत की 80 प्रतिशत से भी अधिक जनसंख्या हिन्दू थी। जूनागढ़ काठियावाड़ के दक्षिण-पूर्व में स्थित है और लगभग चारों ओर अन्य देसी रियासतों से घिरा हुआ है। ये सभी रियासतें भारत में मिल चुकी थीं। जूनागढ़ का केवल दक्षिणी और दक्षिण-पश्चिमी भाग ही ऐसा था, जो अरब सागर से मिला हु आ था। रियासत की कुल जन-संख्या 7 लाख से कुछ कम थी। रियासत राज्यक्षेत्र का एक अविभाज्य खण्ड न थी। इसके कुछ भाग गोंडल, भावनगर और नवानगर रियासतों में पड़ते थे। इसी प्रकार भारतीय क्षेत्र के भी कई भाग जूनागढ़ क्षेत्र से गुंथे हुए थे, जिससे जूनागढ़ में होकर ही इन क्षेत्रों में पहुंचा जा सकता था। जूनागढ़ हिन्दुओं और जैनियों का प्रसिद्ध तीर्थस्थान भी था, जहां बहुत बड़ी संख्या में भारत भर के तीर्थयात्री आया करते थे। इसकी रेल-तार-डाक संचार व्यवस्था भारतीय संचार व्यवस्था का ही एक अविभाज्य अंग थी।

15 अगस्त 1947 को, जूनागढ़ के नये दीवान सर शाहनवाज भुट्टो ने नवाब की ओर से जूनागढ़ के पाकिस्तान में अधिमिलन की घोषणा कर दी। यह प्रकट रूप से उस गुप्त बातचीत का परिणाम था, जो कुछ समय से एक ओर जूनागढ़ के नवाब और दीवान के बीच तथा दूसरी ओर दीवान और जिन्ना के बीच चल रही थी। इस अप्रत्याशित घोषणा से भारत सरकार को बड़ा आश्चर्य हुआ और काठियावाड़ भर में क्रोध की लहर दौड़ गयी। भारत सरकार ने तुरन्त इस प्रश्न पर जूनागढ़ के अधिकारियों तथा पाकिस्तान सरकार के साथ बातचीत शुरू कर दी। सरदार पटेल ने इस गलत निर्णय को दुरुस्त कराने के लिए वी० पी० मेनन को तुरन्त जूनागढ़ भेजा। बातचीत के दौरान जूनागढ़ के दीवान ने स्वीकार किया कि भारत सरकार को बिना बताये, पाकिस्तान में जूनागढ़ के अधिमिलन की अन्तिम रूप से घोषणा करके उसने गलती की है। उसने यह भी स्वीकार किया कि रियासती जनता की एक बहुत बड़ी संख्या भारत में मिलने के पक्ष में है।[1]

---

[1] "दी स्टोरी आफ दी इन्टीग्रेशन आफ दी इंडियन स्टेट्स"—पृ० 127

जूनागढ़ स्वयं बड़ौदा की करद रियासत थी, फिर भी वह दो छोटे राज्यक्षेत्रों—मांगरोल और बाबरियावाड़—से, जो उसकी सीमा के अन्दर थे, कर वसूल करती थी। ये दोनों छोटी जागीरें भारत में मिल गयी थीं। जूनागढ़ का नवाब, जो अस्थिर-मति था, कई सप्ताह तक इसी दुविधा में पड़ा रहा कि भारत और पाकिस्तान में से किसको चुनना चाहिए। भारत के पक्ष में उसकी प्रजा की इच्छाओं और स्पष्ट निर्णय का उस पर तथा उसके प्रधान मन्त्री शाहनवाज भुट्टो पर कोई असर न हुआ। यह भी मालूम हुआ कि नवाब को पाकिस्तान में शामिल होने के लिए मनाने के वास्ते जिन्ना वह सब कुछ कर रहा था जो कर सकता था।[1] पाकिस्तान से मिलने के बाद, नवाब ने मांगरोल के शेख पर भी दबाव डाला कि वह अपने क्षेत्र का भारत में अधिमिलन अस्वीकार कर दे। शेख ने ऐसा ही किया। परन्तु बाबरियावाड़ के मामले में उसे सफलता नहीं मिली; अतः उसने वहां के शासक को भारत-अधिमिलन अस्वीकार करने के लिए मनाने के वास्ते अपनी सेना वहां भेज दी।

इसके तुरन्त बाद, जूनागढ़ रियासती प्रजामण्डल और अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने जूनागढ़ दरबार के पाकिस्तान अधिमिलन के निश्चय के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन आरम्भ कर दिया। उन्होंने जूनागढ़ के पाकिस्तान अधिमिलन के विरुद्ध जनमत जागृत किया और उसके भारत-अधिमिलन के पक्ष में वकालत की। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के नेता यू० एन० ढेबर, बलवन्तराय मेहता, सांवलदास गांधी और रसिकभाई पारीख बम्बई में वी० पी० मेनन से मिले और उनसे बलपूर्वक कहा कि जूनागढ़ का प्रश्न अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, पर भारत सरकार ने नवाब का निर्णय बदलवाने के लिए काफी प्रयत्न नहीं किया है। इन नेताओं ने मेनन से कहा कि जूनागढ़ और समीपवर्ती रियासतों की जनता धैर्य खो चुकी है और यदि सरकार उसे समुचित और प्रभावी कार्रवाई का आश्वासन न देगी, तो वह कानून अपने हाथ में ले लेगी और जूनागढ़ पर धावा बोल देगी।

इसी दर्म्यान मांगरोल के शेख द्वारा जूनागढ़ के नवाब के दबाव से लिखे गये एक पत्र में अपने भारत-अधिमिलन को अस्वीकार कर दिये जाने से मामला और भी पेचीदा हो गया। परन्तु क्योंकि मांगरोल का अधिमिलन वाइसराय ने पहले ही स्वीकार

---

[1] पाकिस्तान में जूनागढ़ के अधिमिलन में जिन्ना की दिलचस्पी की कहानी ल्योनार्ड मोसले ने दी है। वह कहता है कि जिन्ना जूनागढ़ को पाकिस्तानी क्षेत्र के एक भाग के रूप में उतना नहीं चाहता था जितना "बन्धक" के रूप में। —पृ० 185

कर लिया था, अतः शेख के पत्र पर कोई ध्यान न दिया गया। इसके विपरीत बावरियावाड़ ने, जिसमें कुल 51 गांव थे और जो प्रशासन की दृष्टि से जूनागढ़ का एक भाग था, सीधे ही भारत से अधिमिलन के अपने अधिकार की घोषणा कर दी। भारत सरकार ने उसका अधिमिलन स्वीकार कर लिया। यह सुन कर जूनागढ़ ने अपनी सेना बावरियावाड़ भेज दी और यह शंका होने लगी कि यदि समय पर ये घटनायें न रोकी गयीं, तो परिस्थिति बिगड़ सकती है।

24 सितम्बर को भारत सरकार ने इस छोटी रियासत की, जो भारत संघ में मिल गयी थी, रक्षा के लिए एक पल्टन (ब्रिगेड) भेजने का निश्चय किया। सरदार पटेल ने बावरियावाड़ सेना भेजने का औचित्य सिद्ध किया और इस तर्क के आधार पर उसे वहां से हटाने से इन्कार कर दिया कि जूनागढ़ ने अतिक्रमण किया है।

एक ओर भारत और पाकिस्तान के मध्य तथा दूसरी ओर भारत सरकार के प्रतिनिधियों और नवाब जूनागढ़ के प्रतिनिधियों के मध्य एक महीने तक लम्बी बातचीत चली। कराची से, जो केवल समय की प्रतीक्षा कर रहा था, कोई सीधा उत्तर न मिलने पर, सरदार पटेल ने मांगरोल, बावरियावाड़ और मन्नवदार पर अधिकार करने का आदेश दे दिया। यह बताया गया था कि मन्नवदार का खान अपनी प्रजा को सता रहा था। इन क्षेत्रों का प्रशासन भारत सरकार ने अपने हाथ में ले लिया। इन अनिश्चित परिस्थितियों के कारण जूनागढ़ की खाद्य-स्थिति खराब हो गयी, और इससे जो स्थिति पहले ही से पेचीदा थी, उसमें एक नया तत्त्व और मिल गया।

यह अनुभव करके कि घटनाचक्र उसकी योजना के अनुसार नहीं चला, जूनागढ़ का नवाब अकस्मात् होश-हवास खो बैठा और अक्टूबर के अन्त में अपने परिवार के साथ कराची भाग गया।[1] बाद में मांगरोल का शेख और मन्नवदार का खान भी

---

[1] ल्योनार्ड मोसले ने इस घटना का वर्णन इस प्रकार किया है :—

"नवाब पहले ही अपने वायुयान द्वारा पाकिस्तान भाग गया था। उसने अपनी चार पत्नियाँ और इतने अधिक कुत्ते वायुयान में भर लिये थे, जितने भर सकता था। अन्तिम क्षण, उनमें से एक पत्नी को पता चला कि उसका बच्चा पीछे महल में छूट गया है। अतः उसने नवाब से प्रार्थना की कि जब तक वह उसे लाये तब तक इन्तिजार करे। हवाई अड्डे से उसके जाते ही, नवाब ने दो कुत्ते और चढ़ा लिये और अपनी पत्नी के बिना ही चला गया। अपने और अपने परिवार की भावी सुख-सुविधा के लिए उसके पास काफी रत्न, आभूषण आदि थे, पर और सब चीजें वह यहीं छोड़ गया था।" "दी लास्ट डेज आफ ब्रिटिश राज"—पृ० 186

पाकिस्तान चले गये। नवाब के गलत निर्णय से भूतपूर्व शासकों और जूनागढ़ की जनता की जो दुर्दशा हुई, उसका सुस्पष्ट वर्णन दीवान सर शाहनवाज भुट्टो ने 27 अक्टूबर को जिन्ना को लिखे गये अपने पत्र में किया है। उसने लिखा:—

"हमारे राजस्व के मुख्य साधन, रेलें और आयात-निर्यात कर, समाप्त हो गये हैं। यद्यपि पाकिस्तान ने उदारतापूर्वक खाद्यान्न देकर हमें बचाया है, फिर भी खाद्य-स्थिति भयानक और संकटपूर्ण बनी हुई है। काठियावाड़ रेल-मार्ग से जो मुसलिम यात्रा करते हैं, उनके साथ कठोर व्यवहार किया जाता है, उन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और नीचा देखना पड़ता है। इसके अलावा, नवाब साहब और उनके परिवार को जूनागढ़ छोड़ कर भाग जाना पड़ा है, क्योंकि हमारी गुप्तचर सेना ने उनकी यहां उपस्थिति और सुरक्षा के लिए गम्भीर परिणामों की सूचना हमें पहले ही दे दी थी। यद्यपि अधिमिलन के तुरन्त बाद, नवाब साहब और मुझे, मुख्य रूप से मुसलिमों की ओर से, इस निर्णय के लिए बधाई के सैकड़ों सन्देश प्राप्त हुए, परन्तु आज हमारे भाई उदासीन और निष्ठुर बन गये हैं। इसीलिए काठियावाड़ के मुसलिमों का पाकिस्तान के प्रति सारा जोश ठंडा पड़ गया है।"[1]

8 नवम्बर को जूनागढ़ के दीवान ने भारत सरकार से रियासत के प्रशासन का उत्तरदायित्व संभालने की प्रार्थना की। इस प्रार्थना को स्वीकार कर, रियासत मन्त्रालय ने अपना एक अधिकारी वहां भेज दिया और रियासत का प्रशासन अपने हाथ में ले लिया। तीन महीने बाद, फरवरी 1948, में जूनागढ़ के अधिमिलन का प्रश्न, एक पूर्व निश्चय के अनुसार, जनमत-संग्रह के लिए दे दिया गया। जनमत-संग्रह में लोगों ने बहुत बड़ी संख्या में भारत के पक्ष में मत दिये। जनता की इच्छा के अनुसार बाद में जूनागढ़ को नव-निर्मित सौराष्ट्र संघ में मिला दिया गया।

जूनागढ़ रियासती प्रजामण्डल तथा अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के नेताओं ने जूनागढ़ की जनता का उत्साह कायम रखने, वहां शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने तथा भारत-अधिमिलन की मांग पर दृढ़ रहने के लिए जो कुछ किया वह वास्तव में चिरस्मरणीय रहेगा। उनके शान्तिपूर्ण और ठोस काम से भारत सरकार को रियासत में सेना भेजने की कार्रवाई में काफी सुविधा हुई तथा लम्बी प्रक्रिया को आदि से अन्त तक पूर्णतया लोकतन्त्रीय बनाने में भी सहायता मिली।

---

[1]"दी स्टोरी आफ इन्टीग्रेशन आफ दी इंडियन स्टेट्स"—पृ० 136

हैदराबाद

हैदराबाद की समस्या जूनागढ़ की समस्या से बहुत अधिक गम्भीर थी। हैदराबाद रियासत भारत की प्रमुख रियासत थी और आकार में फ्रांस के बराबर थी। इसकी जनसंख्या 1 करोड़ 70 लाख थी, जिसमें मुसलिम केवल 14 प्रतिशत थे। निजाम एक स्वतन्त्र राज्य का सम्पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न शासक बनने का स्वप्न देखा करता था। उसकी कुचालों में इत्तिहाद-ए-मुसल्मीन जैसे युद्धलोलुप मुसलिम संगठन उसकी सहायता करते थे। इत्तिहाद-ए-मुसल्मीन की अपनी निजी सेना थी, जो रजाकार कहलाती थी।

पाकिस्तान से बहुत दूर होने के कारण तथा उसके साथ कोई भौगोलिक सम्बन्ध भी न होने के कारण, निजाम उससे नहीं मिल सकता था। पर वह भारत से भी नहीं मिलना चाहता था; अतः उसने एक साल के लिए भारत के साथ यथास्थिति करार कर लिया और इतने समय के लिए प्रतिरक्षा, संचार और वैदेशिक मामलों का नियन्त्रण उसे सौंप दिया। इसी समय निजाम ने नवाब छतारी की जगह मीर लायक अली को प्रधान मन्त्री नियुक्त कर दिया, क्योंकि नवाब छतारी हैदराबाद के भारत-अधिमिलन के पक्ष में था, जबकि लायक अली का झुकाव पाकिस्तान की ओर था। प्रत्यक्ष रूप से लायक अली की सलाह पर ही निजाम ने पाकिस्तान को ऋण दिया था और मुद्रा-प्रचलन की व्यवस्था के सम्बन्ध में एक ऐसा अध्यादेश निकाला था, जिसका उद्देश्य भारत को हानि पहुंचाना था।

रजाकार, जो अपने साम्प्रदायिक उन्माद और पृथक्तावादी मनोवृत्ति के लिए पहले ही से मशहूर थे, अब और भी अधिक युद्धलोलुप हो गये और हिन्दुओं को परेशान ही नहीं करने लगे, उन पर आक्रमण भी करने लगे। उनके डराने-धमकाने और उत्पीडन से आतंकित होकर हैदराबाद के लाखों हिन्दू सुरक्षा की खोज में रियासत छोड़ कर भाग गये। रजाकारों ने हैदराबाद के अन्दर युद्ध का उद्घोष कर दिया। रियासत की राजधानी तथा अन्य नगरों में सैनिक व्यूहों में कवायद करने के अलावा, उन्होंने देहात में भी हिन्दुओं को सताना शुरू कर दिया। स्पष्टतया उनका उद्देश्य गैर-मुसलिम लोगों को डराना-धमकाना था, जिससे वे रियासत छोड़ने के लिए बाध्य हो जायें। शीघ्र ही कानून का राज्य समाप्त हो गया और रियासत भर में उपद्रव शुरू हो गये। रजाकार यहां तक आगे बढ़े कि हैदराबाद क्षेत्र में होकर जानेवाली रेलगाड़ियों को रोकने लगे और यात्रियों को लूटने लगे। सीमा पर स्थित भारतीय

सेना भी इन आक्रमणों से न बच सकी। संविधान सभा में प्रधान मन्त्री के वक्तव्य के अनुसार, वे भारतीय क्षेत्र पर कम से कम 100 आक्रमण कर चुके थे।

रजाकारों की इस गतिविधि के साथ-साथ निजाम सरकार भी बाहर से शस्त्रास्त्र और युद्ध-सामग्री खरीदने की जी-तोड़ कोशिश कर रही थी। कराची की शरारत से हैदराबाद में अवैध रूप से वायुयान द्वारा सैनिक सामग्री आनी शुरू हो गयी। एक ब्रिटिश नागरिक काटन ऐसा करते हुए रंगे हाथों पकड़ा भी गया।

आतंक के इस राज्य का भारत सरकार ने जो उत्तर दिया, वह था हैदराबाद की आर्थिक नाकेबन्दी। निजाम से रजाकारों को नियन्त्रण में रखने तथा शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए जितनी अपीलें की गयीं, वे सब उसने सुनी-अनसुनी कर दीं। इन सब अपीलों का एकमात्र उत्तर जो उसने दिया वह था संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा-परिषद से यह प्रार्थना कि हैदराबाद और भारत का विवाद सुलझाया जाय। भारत ने स्वभावतः इस प्रार्थना का विरोध इस आधार पर किया कि हैदराबाद भारत का एक अंग है।

रजाकारों की निरन्तर बढ़ती हुई ज्यादतियों के कारण, भारत में जनता का रोष खतरे की सीमा तक पहुंच गया था। अतः सरकार को कार्रवाई करने का निर्णय करना पड़ा। उसने हैदराबाद की सरकार को अन्तिम चेतावनी दी कि वह शरारत बन्द करे तथा रजाकारों की गतिविधियों पर अंकुश लगाये। जब इस अन्तिम चेतावनी पर भी कोई ध्यान न दिया गया, तो उसकी अवधि की समाप्ति पर, 13 सितम्बर 1948 को, भारतीय सेना ने तीन ओर से हैदराबाद को घेर लिया। यह भारत सरकार की "पुलिस कार्रवाई" थी। इसका नाममात्र को भी प्रतिरोध न किया गया। "पुलिस कार्रवाई" 4 दिन में समाप्त हो गयी। 17 सितम्बर को रियासती सेना ने हथियार डाल दिये और बिना शर्त आत्म-समर्पण कर दिया। इसके फलस्वरूप हैदराबाद रियासत मुक्त हो गयी और बाद में उसका लोकतन्त्रीकरण हो गया।

रियासत का प्रशासन संभालने के बाद, उसे कुछ समय के लिए एक सैनिक राज्यपाल के अधीन कर दिया गया। उसे भारत संघ के अन्तर्गत एक रियासत का दर्जा दिया गया और निजाम को उसका राजप्रमुख बनाया गया।

कश्मीर

जूनागढ़ और हैदराबाद के शासकों की भांति कश्मीर का महाराजा हरिसिंह भी अधिमिलन के प्रश्न पर कोई निर्णय न कर सका। भारतीय नेताओं और लार्ड

माउन्टबेटन के किसी न किसी पक्ष में निर्णय करने के लिए उसे मनाने के सारे प्रयत्न निष्फल सिद्ध हुए। 14 अगस्त को कश्मीर ने पाकिस्तान के साथ एक यथास्थिति करार कर लिया। महराजा को यह आशा थी कि वह कश्मीर को भारत और पाकिस्तान से तथा सम्भवतः अन्य शक्तियों से भी एक स्वतन्त्र रियासत के रूप में स्वीकार करा लेगा।

कश्मीर के शासक द्वारा अधिमिलन-पत्र पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर देने के बाद, जब भारत सरकार और उसके मध्य बातचीत चली तो मालूम हुआ कि महा-राजा हरिसिंह दोनों लोकों की सिद्धि के लिए उत्सुक है और भारत एवं पाकिस्तान दोनों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखना चाहता है। वह स्वतन्त्र कश्मीर का स्वतन्त्र राजा रहना चाहता था। रियासत के लोकप्रिय संगठन, जम्मू-कश्मीर राजनीतिक परिषद, पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था, और उसके नेता, जिनका मुखिया शेख अब्दुल्ला था, जेल में बन्द कर दिये गये थे। बातचीत यद्यपि उत्साहवर्धक न थी, फिर भी वह टूटे बिना, बहुत दिनों तक चलती रही।

रियासत का प्रधान मन्त्री, रामचन्द्र काक, जिसने शासक को स्वतन्त्रता की सलाह दी थी, अपने पद से हटा दिया गया। उसके स्थान पर पहले मेजर जनकसिंह को नियुक्त किया यगा और उसके दो महीने बाद मेहरचन्द महाजन को, जो कश्मीर के भारत-अधिमिलन के पक्ष में था। उसने शासक के रुख में नरमी लाने की प्रक्रिया शुरू ही की थी कि अकस्मात् विस्फोटक घटनायें आरम्भ हो गयीं, जिन्होंने महाराजा को भारत में अधिमिलन के लिए बाध्य कर दिया। ये घटनायें थीं उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त के पार से मुजफ़्फराबाद में होकर कबीलों के हमले। कबीलों के झुंडों ने बारामूला तक रास्ते में जो कुछ मिला सब नष्ट कर दिया। उन्होंने शहरों में आग लगा दी और बिना किसी जाति-धर्म के भेदभाव के सब को लूटा।

अक्टूबर के अन्त तक, श्रीनगर में रियासती सरकार को यह बात मालूम हो गयी कि कश्मीर पर यह बड़ा आक्रमण प्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान की साजिश से किया गया है। उसकी सेना इस भलीभांति आयोजित आक्रमण को रोकने में असमर्थ रही। अतः उसने भारत सरकार से सहायता की प्रार्थना की और उसके बदले में भारत से अधिमिलन की इच्छा प्रकट की। मन्त्रिमण्डल द्वारा शीघ्रता में किये गये निर्णय के बाद, वायुयान द्वारा भारतीय सेना कश्मीर भेजी गयी। यदि एक भी दिन का विलम्ब हो जाता तो कश्मीर के हवाई अड्डे पर आक्रमणकारियों का अधिकार हो जाता। भारतीय सेना की पहली टुकड़ी ठीक समय पर हवाई अड्डे पर उतर गयी और उसने

आक्रमणकारियों को पीछे खदेड़ दिया, यद्यपि इस कार्रवाई में काफी प्राणहानि हुई। शीघ्र ही घाटी के एक बहुत बड़े भाग से आक्रमणकारियों का सफाया कर दिया गया।

नेहरू ने पाकिस्तानी क्षेत्र में होकर भारत पर आक्रमण करने का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र के हवाले कर दिया, और वहां वह अभी यों ही अनिर्णीत पड़ा हुआ है। ठीक उस समय, जबकि हमारी सेना सम्पूर्ण जम्मू-कश्मीर क्षेत्र से आक्रमणकारियों का सफाया करनेवाली थी, हम निष्पक्ष प्रेक्षकों के कहने से युद्ध-विराम के लिए सहमत हो गये, यद्यपि वह भारत के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुआ।

शीघ्र ही कश्मीर में नागरिक प्रशासन फिर से स्थापित कर दिया गया और उसे भारतीय रियासतों में एक विशेष दर्जा दे दिया गया। लोकप्रिय सरकार की स्थापना की गयी और शेख अब्दुल्ला को प्रधान मन्त्री बनाया गया। अन्य रियासतों की तरह, उसके भी समस्त शासनतन्त्र का लोकतन्त्रीकरण और आधुनिकीकरण किया गया। कुछ औपचारिक उपबन्धों के अतिरिक्त, जो भारतीय संविधान की धारा 372 के अधीन कश्मीर को एक विशेष प्रकार का दर्जा प्रदान करते थे, रियासत को सांविधानिक आवश्यकता, शासन-प्रणाली और निर्वाचन-प्रणाली के मामले में भारत के अन्य राज्यों के समकक्ष बना दिया गया।

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद् का मूल्यांकन

देशी रियासतों के सरल विलयन और लोकतन्त्रीय विधि से शासित प्रान्तों के साथ एकीकरण का सम्बन्ध कुछ ऐसी आकस्मिक घटनाओं से जोड़ने की प्रवृत्ति देखने में आयी है, जिनसे सरदार पटेल की दूरदर्शिता और कुशल नेतृत्व ने राष्ट्रीय दृढ़ीकरण के कार्य में लाभ उठाया। इस महान् कार्य की सिद्धि में पटेल के अद्वितीय योगदान को कोई नहीं झुठला सकता। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि पटेल की शक्ति का एक स्रोत अ० भा० रियासती प्रजा परिषद और वह विश्वास था, जो उनके नेतृत्व ने देशभर में उसके नेताओं और कार्यकर्त्ताओं में पैदा कर दिया था। जिन्हें स्वतन्त्रता से पूर्व अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के कार्य का तथा स्वतन्त्रता के तुरन्त पश्चात्, जब सरदार पटेल ने राष्ट्रीय दृढ़ीकरण का महान् कार्य अपने हाथ में लिया, तब उसके नेताओं और कार्यकर्त्ताओं की भूमिका का प्रत्यक्ष ज्ञान है, उन्हें इस महान् कार्य की सफल सिद्धि में परिषद के महत्त्वपूर्ण योगदान को स्वीकार करने में कोई हिचकिचाहट नहीं हो सकती।

इस कार्य की सफलता की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह बिना गोली चलाये और बिना खून बहाये पूर्णतया लोकतन्त्रीय विधि से पूरा हुआ। निःसन्देह इसका श्रेय कुछ राजाओं को भी देना होगा, जिन्होंने समय के संकेतों को समझा और सरदार पटेल की देशभक्तिपूर्ण कार्यप्रेरणा का अनुश्रवण कर लोकतन्त्र की शक्तियों के साथ कदम से कदम मिला कर चलने को सहमत हुए। यह सच है कि उनकी देशभक्ति की भावना से यह कार्य अकष्टकारक हुआ; परन्तु कोई भी इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि जिस वातावरण ने राजाओं के रुख को इतनी आकस्मिकता से बदल दिया, वह लोगों के सतत प्रयत्नों से तैयार किया गया था। क्या यह भुलाया जा सकता है कि जनवरी 1947 में ही नरेन्द्र मण्डल ने अपने अध्यक्ष के माध्यम से संविधान सभा के उद्देश्यों का विरोध किया था, क्योंकि राजा लोग इस विचार को स्वीकार नहीं करते थे कि "गणराज्य अपनी शक्ति और अधिकार जनता से प्राप्त करेगा।"

जब कुछ रियासतों का विलय सिद्धान्ततः निश्चित हो जाता था, तब भी प्रश्न का वास्तविक निपटारा और अनेक विकल्पों में से एक का चुनाव उन रियासतों के जन-प्रतिनिधियों के पक्ष ग्रहण से ही सुगमता से हो पाता था। ऐसे कई अवसर

आये, जब रियासत मन्त्रालय वचनबद्ध होने के कारण राजाओं को स्वेच्छा से अपने शासनाधिकारों और विशेषाधिकारों का समर्पण करने के एकमात्र सही विकल्प को स्वीकार करने के लिए बाध्य न कर सका। तब भी अभीष्ट परिणाम की प्राप्ति के लिए प्रजा मण्डल और जन-आन्दोलन तत्ववेत्तोक्त दैवी शक्ति की भांति ठीक समय पर आ उपस्थित हुए। रियासतों के विलयन एवं प्रान्तों के साथ एकीकरण की समस्त प्रक्रिया रियासत मन्त्रालय ने रियासती प्रजा परिषद के कार्यकर्ताओं के घनिष्ठ सहयोग और सक्रिय सहायता से ही पूरी की।

पहले हम अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की विगत युद्ध से पूर्व की, अर्थात् 1927 से 1940 तक की, गतिविधियों पर विचार करेंगे। रियासतों में उत्तरदायी शासन के पक्ष में उनके अन्दर तथा बाहर जनमत संगठित करने के लिए इस संगठन ने जो प्रशंसनीय कार्य किया वह सर्वविदित है, और उसे दुहराने की आवश्यकता नहीं है। रियासती जनता का पथ-प्रदर्शन और समय पर सहायता करने के अलावा, अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने भारत में तथा संयुक्त राज्य (ब्रिटेन) में प्रबुद्ध वर्ग को रियासती जनता की शिकायतों और उन अनेक कष्टों की, जिन्हें वह सह रही थी, जानकारी देने के लिए एक व्यवस्थित कार्यक्रम आरम्भ किया।

देशी रियासत जांच समिति नियुक्त होने पर अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने ही रियासती जनता के हित का काम अपने हाथ में लिया और जांच-समिति के अध्यक्ष सर हारकोर्ट बटलर के पास एक ज्ञापन भेजा। यह दूसरी बात है कि समिति ने उस पर विचार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की और ज्ञापनदाताओं को साक्ष्य के लिए नहीं बुलाया। इस व्यवहार से असन्तुष्ट होकर, अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने ब्रिटिश जनता को रियासती जनता के कष्टों तथा राजाओं के अत्याचारी शासन से अवगत कराने के लिए एक शक्तिशाली शिष्टमण्डल लन्दन भेजा।[1] शिष्टमण्डल को काफी सफलता मिली और वह मजदूर तथा उदार दलों के नेताओं को देशी रियासतों को सांविधानिक सुधारों के मामले में प्रान्तों की पंक्ति में लाने के पक्ष में प्रभावित करने में समर्थ हुआ। इस बात को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि यदि वह शिष्ट मण्डल प्रयत्न न करता तथा अ० भा० रियासती प्रजा परिषद और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अन्य नेता अपनी राय जाहिर न करते, तो यह संभव था कि ब्रिटिश जनमत "स्क्रैप्स आफ पेपर्स" के लेखक ऐचिसन और सर लैस्ली स्काट जैसे लोगों के प्रतिगामी

---

[1]देखो पृ० 298-301

विचारों को मानने के लिए तैयार हो जाता। उन्होंने इस बात की वकालत की थी की भारत एक नहीं दो देश हैं, अतः एक नहीं, दो संघ बनने चाहिए—एक ब्रिटिश प्रान्तों का और दूसरा देशी रियासतों का। इस चाल से देश की भौगोलिक और राजनीतिक एकता ही खतरे में पड़ जाती।

1938-1939 के निर्णायक वर्षों में अ० भा० रियासती प्रजा परिषद कांग्रेस संगठन तथा उसके मन्त्रिमण्डलों की सहायता से यह बात प्रभावपूर्ण ढंग से प्रदर्शित करने में समर्थ हो सकी कि रियासती जनता की समस्यायें भारत की सामान्य समस्या का ही एक अंग हैं और दोनों को अलग-अलग रखने से वे कभी नहीं सुलझायी जा सकतीं। ब्रिटिश अधिकारियों और राजनीतिक विभाग ने इस विचार को वाणिज्य, व्यापार और संचार के मामले में स्वीकार कर लिया था, पर राजनीतिक और सांविधानिक क्षेत्रों में स्वीकार नहीं किया था। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद निरन्तर इसी दृष्टिकोण की वकालत करती रही, जिससे बहुत से गैर-कांग्रेसी भारतीय नेता और अनेक प्रमुख अंग्रेज उसके समर्थक बन गये। जिस समय सन्धियों का उल्लेखमात्र रियासतों में प्रशासनतन्त्र के सुधार की किसी भी मांग को अस्वीकार करने के लिए पर्याप्त तर्क माना जाता था, उस समय पर्दे को हटा कर सन्धियों को अपने ठीक ऐतिहासिक पर्यपेक्ष्य में रखने का श्रेय अ० भा० रियासती प्रजा परिषद को ही है। 1939 के मध्य तक सन्धियों के रहस्य का भण्डाफोड़ हो चुका था। अवर भारत मन्त्री लार्ड विन्टरटन को यह मानना पड़ा कि पुरानी सन्धियों के उपबन्ध रियासती जनता को उत्तरदायी शासन से सदा के लिए वंचित रखने के लिए पर्याप्त तर्क के रूप में उपस्थित नहीं किये जा सकते।

स्वतन्त्रता के पश्चात्, जब सरदार पटेल ने रियासतों की समस्या को सुलझाना आरम्भ किया, तो अ० भा० रियासती प्रजा परिषद से उन्हें काफी सहायता मिली। जब रियासत मन्त्रालय के अधिकारियों के सामने कोई कठिनाई आती थी, विशेष रूप से जब वे राजाओं को दिये गये अपने वचनों और उनकी प्रजा तथा समस्त राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्य का ध्यान कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते थे, तब रियासती प्रजा परिषद ही चट से उनकी सहायता करती थी। रियासतों को समूहों में रख कर संघ बनाने का काम प्रजा मण्डलों के विश्वसनीय समर्थन से ही सम्भव हो सका। जब पूर्वी भारत में प्रथम रियासत-समूह का मामला हाथ में लिया गया और उड़ीसा में नीलगिरि और धेनकनाल आदि रियासतों के शासकों के साथ चलने वाली बातचीत के दलदल में फंसने की आशंका हो गयी, तो प्रजा मण्डलों ने ही उसे सुलझाया। शासकों

को नरम बनाने तथा उन्हें रियासत मन्त्रालय के विचारों के अनुकूल ढालने के लिए, प्रजा मण्डल या तो विश्वासजनक प्रदर्शन करते थे या अपनी गतिविधियों के द्वारा रियासतों में शान्ति और व्यवस्था की स्थिति के लिए खतरा पैदा कर देते थे तथा कभी कभी समानान्तर सरकारें भी स्थापित कर देते थे। फलस्वरूप शासकों को गलत रास्ता छोड़ कर सही रास्ते पर आना पड़ता था। कुछ शासकों ने अपने निजी हितों की रक्षा के लिए दक्षिण की रियासतों का जो संघ बनाया था, वह उन रियासतों के प्रजामण्डलों द्वारा संगठित जनमत की चट्टान से टूट कर चकनाचूर हो गया। इस प्रकार एक किये हुए काम पर केवल इसलिए पानी फिर गया कि प्रजा मण्डलों ने एकमत हो कर उन रियासतों के बम्बई में विलय का निश्चय कर लिया था। जब काठियावाड़ की रियासतें सौराष्ट्र संघ में मिलीं, तब भी ऐसा ही हुआ। जूनागढ़ की समस्या बहुत कठिन थी। यदि जूनागढ़ प्रजामण्डल समय पर सहायता न देता, तो वह और भी कठिन हो जाती। अन्त में जूनागढ़ में जनमत-संग्रह और उसके फलस्वरूप सौराष्ट्र में उस रियासत का विलय रियासती प्रजा मण्डल की एक और विजय थी और यह काठियावाड़ के एकीकरण में उसका योगदान था।

ग्वालियर, इन्दौर आदि बड़ी रियासतों से सुलटते समय, रियासत मन्त्रालय के सामने एक और पेचीदा समस्या उपस्थित हुई। गवर्नर जनरल लार्ड माउन्ट बेटन ने घोषणा की थी कि किसी भी जीवन-क्षम रियासत को किसी समीपवर्ती प्रान्त में या रियासत संघ में मिलने के लिए बाध्य न किया जायगा। पटेल और रियासत मन्त्रालय ने इस आश्वासन का समर्थन किया था। जब मध्य भारत की रियासतों के मामले पर विचार किया जा रहा था तो सरदार पटेल और उनके अधिकारियों ने सोचा कि सबसे अच्छा तरीका यह होगा कि इन्दौर और ग्वालियर को मिला कर इस क्षेत्र की तमाम रियासतों का एक संघ बनाया जाय। परन्तु गवर्नर जनरल के आश्वासन को देखते हुए, इन रियासतों के शासकों को पृथक् सत्ता के बजाय विलय स्वीकार करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता था और शासक वास्तव में भारत संघ के अन्दर अपनी स्वतन्त्र सत्ता अधिक पसन्द करते थे। यहां भी प्रजा मण्डलों की सहायता ने ही संघ-निर्माण के पक्ष में पलड़ा झुकाया, यद्यपि सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं तक में सिन्धिया और होल्कर के प्रति राजभक्ति की प्रबल भावना भरी हुई थी। इसी प्रकार दूसरी रियासतों के साथ सुलटने में भी, चाहे वे संघों में समूहित की गयीं या निकटवर्ती प्रान्तों में मिलायी गयीं अथवा उनके साथ अस्थायी रूप से भिन्न प्रकार का व्यवहार किया गया, रियासत मन्त्रालय का एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अस्त्र अ०

भा० रियासती प्रजा परिषद और उसके स्थानीय एककों की संगठित शक्ति था। यह शक्ति सदा ही जनता के हित में सर्वोत्तम विकल्प के पक्ष में रम्भा (लीवर) के रूप में इस्तैमाल की जा सकती थी।

यदि हम रियासत मन्त्रालय के सचिव के रूप में वी० पी० मेनन द्वारा प्रकट किये गये विचारों पर ध्यान दें, तो यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी। उन्होंने सरदार पटेल को सलाह दी कि वे राजाओं से केवल तीन विषयों में भारत से मिलने को कहें—प्रतिरक्षा, संचार और वैदेशिक मामले। सरदार को अब भी सन्देह था। परन्तु मेनन को विश्वास था कि कोई राजा अधिमिलन के प्रस्ताव को अस्वीकार नहीं कर सकता। उन्होंने अपने मन्त्री को उत्तर दिया :—

> "वे कैसे मना कर सकते हैं? अब तक अंग्रेज प्रत्येक रियासत की उपद्रवों से रक्षा करते थे। जब कभी राजनीतिक या साम्प्रदायिक आन्दोलन होते थे तो अंग्रेज इस बात का ध्यान रखते थे कि शान्ति स्थापित हो जाय। परन्तु अब अंग्रेज जा रहे हैं। यह सही है कि कुछ बड़ी रियासतें अपनी निजी सेनाओं के बल पर थोड़ी-बहुत शान्ति स्थापित कर सकती हैं। परन्तु यदि जनता बिगड़ जाती है और स्वतन्त्रता के अधिकार या भारत से मिलने की मांग करने लगती है; यदि जन-आन्दोलन शुरू हो जाता है और शासकों के शासन, सुरक्षा एवं जीवन तक को खतरा पैदा हो जाता है, तो वे अपनी रक्षा के लिए हमारी ओर न ताक कर और किधर ताकेंगे?"[1]

शायद इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण सेवा, जो अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ने की, यह थी कि, उसने रियासती जनता की निराशा और असहायता के क्षणों में उसे सुरक्षा-वाल्व (कपाट) प्रदान किया। प्रबन्ध और न्याय दोनों के प्रशासन की सभी प्रक्रियायें राजाओं और उनके कृपापात्रों का चक्कर काटती रहती थीं। यदि संयोग से कभी कोई उन्हें असन्तुष्ट कर देता था, तो उसे जेल की हवा खानी पड़ती थी। अपील के लिए ऐसा कोई न्यायाधिकरण न था, जहां से वह न्याय मिलने की आशा करता या अपनी शिकायतें दूर कराता। ऐसे मामलों में केवल अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ही शिकायतें सुनती थीं, और उन पर विचार के लिए अपना सार्वजनिक मंच प्रदान करती थी। ऐसे मामलों में भी, जहां जनता के कष्टों का प्याला लबालब भर जाता था, अ० भा० रियासती प्रजा परिषद ही सहायता दे कर उसे धैर्य और सान्त्वना प्रदान

---

[1] "दी लास्ट डेज आफ दी ब्रिटिश राज"—पृ० 169

करती थी। ऐसे मामलों को जनता के सामने लाने और इस प्रकार उन पर ध्यान केन्द्रित कराने से अ० भा० रियासती प्रजा परिषद एक प्रकार का अनधिकृत न्यायालय बन गयी, जिसने जनता में ही नहीं, प्रायः राजाओं में भी विश्वास पैदा कर दिया।

जब जनता की शिकायतें अधिक गम्भीर होती थीं अथवा संख्या में अधिक होती थीं, तो अ० भा० रियासती प्रजा परिषद उन पर रिपोर्ट देने तथा जनता की मांगों का पता लगाने के लिए अनधिकृत जांच समितियां नियुक्त किया करती थी। अ० भा० रियासती प्रजा-परिषद द्वारा नियुक्त ऐसी जांच समितियों में कदाचित् सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण दो समितियां थीं जो 1935 में (1) पटियाला जेल में प्रजा मण्डल के एक प्रमुख कार्यकर्त्ता सेवासिंह ठीकरीवाला की मृत्यु के कारणों, तथा (2) पटियाला जेल में राजनीतिक बन्दियों की हालतों की जांच करने तथा रिपोर्ट देने के लिए बनायी गयी थीं। दोनों जांच समितियों की रिपोर्टें "दी इंडिक्टमेंट आफ पटियाला" शीर्षक से पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर दी गयीं। यद्यपि राजनीतिक विभाग और सम्राट् के प्रतिनिधि ने महाराजा पटियाला को बचाने के लिए सब कुछ किया, फिर भी इस पुस्तक का महाराजा और राजनीतिक विभाग पर अच्छा प्रभाव पड़ा। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि इस प्रकाशन ने रियासती जनता को रियासतों में स्वेच्छाचारी शासनों के विरुद्ध संघर्ष के लिए और अधिक प्रोत्साहित कर दिया। इसने अ० भा० रियासती प्रजा परिषद और उससे सम्बद्ध प्रजा मण्डलों के कार्यकर्त्ताओं में भी कर्त्तव्य की भावना भर दी।

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद द्वारा रियासतों के प्रशासनों की जांच के लिए नियुक्त ऐसी जांच-समितियों की संख्या एक दर्जन से भी अधिक थी। ऐसी समितियों में अधिक महत्त्वपूर्ण वे थीं, जो नवानगर, मैसूर, उड़ीसा की रियासतों, झाबुआ, शिमला पहाड़ी रियासतों, हैदराबाद आदि के मामलों के सम्बन्ध में रिपोर्ट देने के लिए बनायी गयीं।

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के एक प्रस्ताव के अनुसार, 1928 में रियासती प्रजा का एक शिष्ट मण्डल इंगलैंड भेजा गया। इसका उद्देश्य ब्रिटिश जनमत को देशी रियासतों की, जहां साढ़े सात करोड़ से भी अधिक लोग रहते थे, वास्तविक स्थिति के बारे में जानकारी देना था। यह भी इरादा था कि रियासती जनता का मामला बटलर समिति के सामने पेश किया जाय, जिसकी बैठकें लन्दन में शुरू हो गयी थीं। रियासती प्रजा केवल यह चाहती थी कि राजा लोग उसे सामान्य नागरिकता के अधिकार और सांविधानिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दें। प्रत्येक सुधार अधिनियम

इंगलैंड में तैयार होता था और ब्रिटिश संसद द्वारा पास होता था; अतः यह अत्यावश्यक था कि देसी रियासतों में, जहां कोई प्रतिनिधिक संस्था न थी तथा जो ब्रिटिश भारत में चलनेवाले विधान-यंत्र के कार्यक्षेत्र से बाहर थीं, अच्छे और स्वच्छ प्रशासन के पक्ष में ब्रिटिश जनमत का समर्थन प्राप्त किया जाय।

शिष्टमण्डल में रामचन्द्र राव, जी० आर० अभ्यंकर, ए० डी० शेट और पी० एल० चुदगर थे। इंगलैंड में यह शिष्टमण्डल कई संसदीय वक्ताओं तथा सार्वजनिक कार्यकर्त्ताओं से मिला। इसने बटलर समिति के सामने पेश करने के लिए एक वक्तव्य भी तैयार किया। उसकी प्रतियां संसद-सदस्यों और इंगलैंड के प्रमुख व्यक्तियों में वितरित की गयीं। वक्तव्य में भारत की रियासती प्रजा के मामले पर प्रकाश डाला गया था। ब्रिटेन के कुछ समाचारपत्रों ने, विशेष रूप से "मान्चेस्टर गार्जियन" और "न्यू लीडर" ने, वक्तव्य का स्वागत किया और उस पर अनुकूल टिप्पणी की। इस वक्तव्य के आधार पर, लार्ड ओलाइवर ने राज्य सभा (हाउस आफ लार्ड्स) में एक वाद-विवाद खड़ा कर दिया और लोकसभा (हाउस आफ कामन्स) में भी इस पर अनेक प्रश्न किये गये।

इंगलैंड में अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की सफलताओं का भली प्रकार मूल्यांकन यह जानने के बाद ही किया जा सकता है कि उसने वहां प्रमुख व्यक्तियों से भेंट करके, भारतीय मामलों पर वाद-विवादों और भाषणों को प्रोत्साहन देकर तथा समाचारपत्रों में लेख और पत्र छपा कर जनमत को कितना प्रभावित किया। राज्य सभा (हाउस आफ लार्ड्स) में भाषण देते समय लार्ड ओलाइवर ने भारतीय रियासतों की समस्या का उल्लेख किया। शिष्टमण्डल का ज्ञापन मिलने के बाद ही उसने वाद-विवाद उठाया था। लार्ड ओलाइवर ने कहा :—

> "यदि सब नहीं तो अधिकांश रियासतें स्वेच्छाचारी और निरंकुश शासन के अधीन हैं। सब कुछ शासक की सर्वोपरि इच्छा पर निर्भर रहता है। कानून के सम्बन्ध में, राजस्व के प्रशासन के सम्बन्ध में, न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में तथा और भी कई प्रकार के ऐसे मामले हैं, जो हमारे संविधान में सम्राट् के अधिकार से बाहर कर दिये गये हैं; परन्तु ये मामले भारतीय राजाओं के पूर्णतया अधिकार में हैं। इनका दुरुपयोग हो सकता है और कभी-कभी जानबूझ कर किया जाता है। उन राजाओं की भारतीय प्रजा के अधिकांश लोग इस स्थिति का बड़ी तीव्रता से अनुभव करते हैं। हाल ही में उनका एक शिष्टमण्डल एक विशिष्ट भारतीय सेवाधिकारी (सेवक) के नेतृत्व में इंगलैंड

आया था, जिसने भारतीय रियासतों के वर्तमान संविधानों की कुछ आलोचनायें बड़े शान्तभाव से प्रस्तुत कीं। ये संविधान कुशासन को सदा सम्भव और कभी-कभी अनिवार्य बना देते हैं। जब आप भारतीय सरकार का समग्र ढांचा फिर से तैयार कर रहे हैं और इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं कि देशी रियासतों का शासन उस ढांचे में किस प्रकार फिट किया जा सकता है, तो मैं समझता हूं, इस प्रश्न की उपेक्षा करना असम्भव हो जायगा कि क्या राजाओं के निरंकुश अधिकार को किसी अंश में सीमित नहीं करना चाहिए तथा उसे दूसरों को नहीं सौंपना चाहिए। यह प्रश्न उठेगा और मैं स्वयं इस पर अपनी कोई राय जाहिर नहीं करता।"

लोक सभा (हाउस आफ कामन्स) में कई दिन प्रश्न काल में भारतीय रियासतों तथा उनकी अन्दरूनी हालतों के बारे में रोचक प्रश्न पूछे गये। शिष्टमण्डल रियासती जनता के अधिकारों के प्रति उदार और मजदूर दलों के सदस्यों की रुचि पैदा करने में कहां तक सफल हुआ, यह निम्नलिखित प्रश्नोत्तरों से स्पष्ट हो जायगा:—

मिस्टर रैनी स्मिथ (मिस्टर वालहैड की जगह) ने उपभारत मन्त्री (अंडर-सेक्रेटरी आफ स्टेट फार इंडिया) से प्रश्न किया कि क्या आप इस सदन को यह बतायेंगे कि भारतीय रियासतों के सुशासन के लिए सर्वोच्च सत्ता की क्या जिम्मेदारी है और रियासतों के आन्तरिक प्रशासन में सर्वोच्च सत्ता के हस्तक्षेप की क्या शर्तें हैं; तथा यह कि क्या किसी भी रियासत में ऐसी कोई व्यवस्था है, जिसके द्वारा रियासती प्रजा अपनी शिकायतें सर्वोच्च सत्ता तक पहुंचा सके, अथवा आवश्यकता पड़ने पर ऐसी शिकायतें दूर कराने के लिए हस्तक्षेप की प्रार्थना कर सके।

उत्तर : अर्ल विन्टरटन : "प्रश्न के पहले भाग के सम्बन्ध में मैं माननीय सदस्य से कहूंगा कि वे 27 मार्च 1926 को वाइसराय द्वारा हिज एक्जाल्टेड हाईनेस निजाम हैदराबाद को लिखे गये पत्र में दी गयी सर्वोच्च सत्ता के अधिकारों और कर्त्तव्यों की व्याख्या देखें, जिसकी एक प्रति उन कागजों में शामिल कर दी गयी थी, जो उस समय सदन में उपस्थित किये गये थे (1926 का कमाण्ड पेपर सं० 2621)। दूसरे भाग के सम्बन्ध में मुझे यह कहना है कि विभिन्न रियासतों अथवा रियासत-समूहों के लिए नियुक्त राजनीतिक अधिकारी ऐसी समस्त स्थानीय जानकारी सर्वोच्च सत्ता को देने के लिए उत्तरदायी है, जो उसके सम्यक् कर्त्तव्य-पालन के लिए आवश्यक है।"

प्रश्न : मिस्टर थर्टिल्स : "क्या इस उत्तर से हम यह समझें कि इनमें से किसी भी रियासत के नागरिक को यह अधिकार है कि वह ऐसी शिकायत को लेकर भी

राजनीतिक अधिकारी के पास जा सकता है जो उस रियासत के शासक के विरुद्ध हो ?"

उत्तर : अर्ल विन्टरटन : "वास्तव में क्या स्थिति है इसकी संसदीय प्रश्न के उत्तर की सीमा के अन्दर सही-सही व्याख्या करना असम्भव है। यह अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण विषय है क्योंकि यह रियासतों के साथ सम्राट् के सम्बन्धों को प्रभावित करता है। यदि माननीय सदस्य किसी खास विषय की जानकारी चाहते हैं, तो उन्हें विधिवत् प्रश्न उपस्थित करना चाहिए। यदि वे भूतपूर्व वाइसराय के उस पत्र को पढ़ेंगे, जिसका मैंने उल्लेख किया है तो उन्हें इस विषय का वर्णन वहां मिलेगा।"

मिस्टर वैलकाक ने उपभारतमन्त्री से प्रश्न किया कि क्या सम्राट् की सरकार अथवा भारत सरकार का ब्रिटिश भारत के साथ देशी रियासतों के भावी सम्बन्धों पर अपनी राय जाहिर करने के लिए रियासती प्रजा को भी वे ही सुविधायें देने का इरादा है जो उनके राजाओं को।

उत्तर : अर्ल विन्टरटन : "ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के सम्बन्धों का प्रश्न मुख्यतः सांविधानिक प्रश्न है और इस पर सम्बन्धित विधिवत् सुगठित सरकारों द्वारा ही विचार किया जा सकता है। परन्तु मुझे इसमें कोई सन्देह नहीं है, कि रियासतों के जो लोग इस विषय में अपनी राय जाहिर करना चाहेंगे, उन्हें ऐसा करने के लिए साधन मिल जायेंगे।"

प्रश्न : कर्नल वैजवुड : "क्या सरकार इस समिति से यह नहीं कह सकती कि जनता स्वयं इस समिति की रिपोर्ट में सबसे अधिक रुचि रखती है ?"

उत्तर : अर्ल विन्टरटन : "पूरक प्रश्न के उत्तर में पूछा गया यह बहुत बड़ा प्रश्न है। परन्तु मैं माननीय सदस्य और वीरपुरुष के इस पक्ष को स्वीकार नहीं कर सकता कि इन लोगों को इस समिति के सामने अपना मामला रखने का कोई अधिकार है। जैसा कि माननीय वीर पुरुष महोदय अपने प्रशासनिक अनुभव से भली भांति जानते हैं, प्रक्रिया का विषय हर हालत में सदा समिति के अध्यक्ष से सम्बन्ध रखता है।"

प्रश्न : मिस्टर वैलकाक : "क्या इन आठ करोड़ लोगों को अपनी स्थिति बताने का अधिकार नहीं है ?"

उत्तर : अर्ल विन्टरटन : "वे अखबारों में छपा कर, राजनीतिक सभायें करके तथा अन्य कई प्रकार से अपनी स्थिति का ज्ञान करा सकते हैं। परन्तु यह प्रश्न इससे सर्वथा भिन्न है कि वे इस कमीशन के सामने साक्ष्य दे सकते हैं या नहीं।"

प्रेस-प्रचार की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण वे सम्पादकीय टिप्पणियां हैं, जो "लन्दन टाइम्स" और "मान्चेस्टर गार्जियन" ने अपने सम्पादकीय स्तम्भों में

प्रकाशित कीं। यहां हम केवल एक ही टिप्पणी उद्धृत करेंगे। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के ज्ञापन का उल्लेख करते हुए, "गार्जियन" ने "प्रजा का मामला" (केस फार दी पीपुल्स) शीर्षक के नीचे लिखा :

"ज्ञापन में यह तर्क उपस्थित किया गया है कि विचार्य विषयों में "रियासत" शब्द राजा और प्रजा दोनों का बोधक होना चाहिए तथा यह कि यदि प्रजा राजाओं से अधिक नहीं तो कम से कम उनके समान अवश्य ही प्रभावित है। शिष्टमण्डल का यह तर्क है कि रियासतों के शासकों के साथ सर्वोच्च सत्ता के वर्तमान सम्बन्धों में प्रजा की स्वीकृति के बिना कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

"ज्ञापन में कहा गया है कि सर लेस्ली स्काट ने प्रत्यक्षतः इस बात की वकालत की है कि सर्वोच्च सत्ता को राजाओं और उनकी प्रजाओं के मध्य हस्तक्षेप बन्द कर देना चाहिए। वर्तमान परिस्थितियों में रियासत का कोई भी व्यक्ति शासक की आज्ञा से कारागार में डाला जा सकता है, और उसे बचाने का कोई कानूनी तरीका नहीं है। कभी-कभी भारत सरकार की राजनयिक कार्रवाई से रिहाई हो जाती है। अक्सर शासकों द्वारा सम्पत्ति जब्त कर ली जाती है। भारत सरकार से अपील ही बचने का एकमात्र वर्तमान उपाय है। यदि सर्वोच्च सत्ता बचाव की कार्रवाई बन्द कर देगी, तो प्रजा पूर्णतया अपने शासकों की दया पर निर्भर हो जायगी।

"जिन सन्धियों पर राजा लोग निर्भर हैं उनके अनुसार, तथा राजनीतिक व्यवहार के विकास के कारण, राजाओं ने निश्चित जिम्मेदारियां ले रखी हैं, जिनमें सुशासन की गारन्टी और प्रजा के सुख और कल्याण की वृद्धि भी शामिल है। जो राजा सर्वोच्च सत्ता द्वारा अपने अधिकारों के अतिक्रमण की शिकायतें करते हैं, वे स्वयं अपनी प्रजा के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को पूरा करने में असफल रहे हैं। पुराने समय में सांविधानिक स्वतन्त्रता से वंचित किसी रियासत में यदि जनता उत्पीडन का शिकार बन जाती थी तो उससे बचाव का उपाय खुला विद्रोह था। सर्वोच्च सत्ता ने यह अधिकार छीन लिया है। राजा लोग यह समझते हैं कि शासकों और शासितों के मध्य संघर्ष में सर्वोच्च सत्ता निश्चय ही शान्ति और व्यवस्था की सुरक्षा के बहाने राजाओं का साथ देगी। इसके फलस्वरूप राजा लोग प्रजा के प्रति अपने कर्त्तव्य को भूल गये हैं। कुछ अपवादों को छोड़ कर, किसी भी रियासत में कानून का राज्य नहीं है। व्यक्तिगत सम्पत्ति,

संस्था, सार्वजनिक सभा अथवा समाचारपत्र सम्बन्धी कोई स्वतन्त्रता नहीं है। स्वतन्त्र न्यायपालिका भी नहीं है।

"शिष्टमण्डल राजाओं के इस मत का विरोध करता है कि सन्धियों द्वारा स्थापित उनके सम्बन्ध इंगलैंड के सम्राट् के साथ हैं, ब्रिटिश भारत की सरकार के साथ नहीं। वह ब्रिटिश भारत और रियासतों के वित्तीय और आर्थिक सम्बन्धों के समन्वय की पूरी सार्वजनिक जांच की भी मांग करता है और यह भी चाहता है कि इन मामलों में प्रजा की प्रभावी आवाज हो।"

इंगलैंड के प्रमुख समाचारपत्रों में ऐसी टिप्पणियां छपने के बाद, "सम्पादक के नाम पत्रों" का तांता लग गया। कुछ पत्र रियासती जनता के पक्ष का समर्थन करते थे तो कुछ शिष्टमण्डल की युक्तियों का खण्डन। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि राजाओं के समर्थन में जितने पत्र प्रकाशित हुए वे लगभग सभी उनके मन्त्रियों अथवा भूतपूर्व मन्त्रियों के थे, जो संयोग से उस समय इंगलैंड में ही थे।

शिष्ट मण्डल की गतिविधियों के सम्बन्ध में यूरोप महाद्वीप के समाचारपत्रों में जो समाचार और सम्पादकीय टिप्पणियां छपीं, वे भी कम रोचक न थीं। पेरिस के एक प्रमुख लोकतन्त्रवादी समाचारपत्र "ला ज्यून रिपब्लिक" ने प्रोफेसर जी० आर० अभ्यंकर के साथ भेंट का एक रोचक वर्णन प्रकाशित किया। यहां उसका हिन्दी अनुवाद दिया जाता है:

ला ज्यून रिपब्लिक (पेरिस, 19 जनवरी, 1929)

"एक भारतीय प्रोफेसर ने हमें एक पुराने जीर्ण-शीर्ण एकतन्त्र के बोझ के नीचे कराहती हुई भारतीय जनता के राजनीतिक कष्टों के बारे में बताया ...

देखने में हृष्ट-पुष्ट, आयु में 50 से अधिक, रंग में कांसे के समान भूरा और रूप में मोहक, जिसके अंग-अंग से उत्साह फूटा पड़ता है, ऐसा यह भारतीय प्रोफेसर यूरोप आया है। वह इरादा करके "ला ज्यून रिपब्लिक" के कार्यालय में भी आया, क्योंकि वह जानता है कि यह पत्र न्याय, स्वतन्त्रता और शान्ति के समस्त विचारों का पोषक है। ...

वह चाहता है कि हम भारत के मामले में रुचि लें, उस ब्रिटिश भारत के मामले में, जहां कोई भी राजनीतिक स्वतन्त्रता के विकास की पहले से ही निन्दा कर सकता है; परन्तु विशेष रूप से वह देशी रियासतों के मामले में हमारी रुचि बढ़ाना चाहता है, जो एक सन्दिग्ध और लोलुप एकतन्त्र के असह्य भार के नीचे अब भी दबी हुई हैं।

हम प्रोफेसर जी० आर० अभ्यंकर से तुरन्त पूछते हैं।

प्र०—देशी रियासतों की क्या दशा है?

प्रोफेसर अभ्यंकर उत्तर देते हैं : जहां तक राजनीतिक अधिकारों की मान्यता का प्रश्न है, देसी रियासतें अत्यन्त दयनीय अवस्था में हैं। उनकी हालत बहुत पिछड़ी हुई और गयी-बीती है। रियासतों में स्वच्छन्द राजतन्त्र है, जहां किसी को नागरिकता के छोटे से छोटे अधिकार भी प्राप्त नहीं हैं। न सम्पत्ति की सुरक्षा है, न स्वतन्त्र न्यायपालिका है, न प्रेस या सभा की स्वतन्त्रता है, और न किसी प्रकार की प्रति-निधिक सरकार है। रियासतों का राजस्व भी शासक अपने कब्जे में रखते हैं।

प्र०—क्या ब्रिटिश सरकार हस्तक्षेप नहीं करती ?

उ०—वह देशी रियासतों का इस्तेमाल अपने प्रयोजनों के लिए करती है। उसने शासकों को सैनिक बल से वंचित कर दिया है, पर बदले में उन्हें प्रजा पर अधिक से अधिक स्वच्छन्दता के साथ शासन करने की छूट दे दी है। वह रियासत के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करती।

प्र०—फिर भी ऐसे निरंकुश राजतन्त्र के विरुद्ध प्रजा विद्रोह क्यों नहीं करती और सरकार को सांविधानिक शासन पद्धति स्थापित करने के लिए बाध्य क्यों नहीं करती ?

दुःखी हृदय से प्रोफेसर साहब ने उत्तर दिया : प्रजा के पास सीधी कार्रवाई का कोई साधन नहीं है। केन्द्रीय सरकार ने शासकों को बाहरी आक्रमण और भीतरी क्रान्ति दोनों से रक्षा का वचन दे दिया है। इस प्रकार प्रजा असहाय है और शासकों तथा ब्रिटिश सरकार दोनों के अत्याचार का शिकार बनी हुई है।

प्र०—अन्त में हमने प्रोफेसर साहब से पूछा : अन्य देश देशी रियासतों के लिए क्या कर सकते हैं ?

उ०—राष्ट्र संघ निश्चय ही हमारी सहायता कर सकता है। अब जनता का आत्मनिर्णय का अधिकार स्वीकार किया जा चुका है। हम चाहते हैं कि ब्रिटिश सरकार हमें आदेशाधीन क्षेत्र समझे और समय-समय पर हमारी रियासतों की राजनीतिक एवं प्रशासनिक स्थिति की जांच करती रहे। राष्ट्रसंघ के सदस्य जो नैतिक दबाव डालेंगे, उससे रियासतों के 7 करोड़ 80 लाख लोगों की मुक्ति में महत्त्वपूर्ण सहायता मिलेगी। ये लोग आजकल ऐसी राजनीतिक दासता में रह रहे हैं, जो सभ्यता से कोसों दूर है।"

अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के शिष्टमंडल ने इस प्रकार इंगलेंड में और यूरोप महाद्वीप में काफी महत्त्वपूर्ण रचनात्मक कार्य किया। उसके जानकारी-प्रचार आन्दोलन के फलस्वरूप बहुत से ब्रिटिश जन देशी रियासतों में रहने वाली जनता की

कठिनाइयों और असुविधाओं से परिचित हो गये। रियासती प्रजा के मामले की सचाई से ब्रिटेन में लोकमत काफी प्रभावित हुआ। यह बात ब्रिटिश संसद में भारत सम्बन्धी विवादों में और उस देश के स्वतन्त्र राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय समाचारपत्रों में अभिव्यक्त विचारों में असन्दिग्ध रूप से प्रकट हुई।

परन्तु भारत में प्रचार के क्षेत्र में अ० भा० रियासती प्रजा परिषद को सफलतायें कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण थीं। परिषद का अपना एक अंग्रेजी साप्ताहिक था और कई हिन्दी तथा दूसरी भाषाओं के सामयिक पत्र थे। इसके अलावा, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, परिषद ने बहुत सी पुस्तकें और पुस्तिकायें भी प्रकाशित कीं, जो या तो कतिपय रियासतों की खास-खास घटनाओं के सम्बन्ध में थीं या उन क्षेत्रों को राजाओं के स्वेच्छाचारी शासन से मुक्त करने की सामान्य समस्या के सम्बन्ध में। ब्रिटिश भारत के समाचारपत्रों ने रियासती प्रजा के आन्दोलन में उस के पक्ष को प्रकाश में ला कर स्वेच्छा से जो सहयोग दिया वह विशेष महत्त्व का था। ब्रिटिश भारत से जो पत्र प्रकाशित होते थे, उनमें से अधिकांश कांग्रेस-समर्थक थे और वे रियासती प्रजा के आन्दोलन को विशाल स्वतन्त्रता संग्राम का ही एक प्रमुख अंग समझते थे। अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के कई सक्रिय कार्यकर्त्ता पत्रकार तथा पत्र-संवाद-दाता थे; अतः वह शक्ति के इस स्रोत से पूरा लाभ उठाती थी और उन पत्रों की रियासती समाचारों की भूख को पूर्णतया शान्त करती रहती थी।[1]

वास्तविक संकट की घड़ी में अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के नेताशासकों के क्रोध का प्रहार सहने के लिए चट से सामने आ जाते थे। यदि कहीं कोई रियासती सरकार प्रजा पर अत्याचार करके उसे सत्याग्रह के लिए उत्तेजित करती थी तो रियासती प्रजा परिषद प्रतिरोध के लिए सदा आगे आने को तैयार रहती थी। उसकी सहायता के बिना किसी रियासत में सत्याग्रह नहीं हो सकता था। चाहे पंजाब में पटियाला, लोहारू या क्षुद्र दुजाना हो; चाहे राजस्थान में अलवर और प्रगतिशील जयपुर, जोधपुर एवं बीकानेर हो; चाहे धुर दक्षिण में "प्रबुद्ध" मैसूर और त्रावणकोर हो; चाहे मध्यभारत के सूखे मैदानों में दूरवर्ती झाबुआ हो; और चाहे शिमला के आसपास

---

[1] "जन्मभूमि" ने आवश्यकता के समय रियासती प्रजा-परिषद की बहुत सहायता की। लगभग सभी बड़ी रियासतों में उसके संवाददाता थे। बम्बई में उसका कार्यालय अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के समस्त भारत में फैले हुए कार्यकर्त्ताओं के लिए अड्डा बन गया था।

हिमालय की उपत्यकाओं से घिरे धामी जैसे क्षुद्र राज्यक्षेत्र हों; सर्वत्र प्रतिरोध आन्दोलन सदा अनिवार्य रूप से प्रजा परिषद द्वारा ही, यदि वस्तुतः संचालित नहीं तो कमसे कम समर्थित अवश्य होता था। वह स्वेच्छा से सभी कष्ट सहती थी और स्थानीय जनता के हृदयों में उत्साह का संचार करती थी। उसके नेता पकड़े जाते थे और मध्ययुगीन जेलों में वन्द कर दिये जाते थे। परन्तु संघर्ष जारी रखने के लिए तथा प्रत्येक छोटी-वड़ी घटना को अखिल भारतीय प्रश्न वनाने के लिए वे सव कुछ सहते रहते थे।

जानकारी-प्रचार अभियान से तथा उस सक्रिय सहायता और पथप्रदर्शन से जो उसने प्रजा के कष्ट के समय किया, रियासती प्रजा परिषद को रियासती जनता की निगाह में वही दर्जा मिल गया जो ब्रिटिश भारत में कांग्रेस को मिला हुआ था। 1927 से 1947 तक 20 वर्ष पर्यन्त प्रजा और राजा भी, यद्यपि वे जाहिरा तौर पर ऐसा नहीं कहते थे, परिषद को रियासती प्रजा का प्रामाणिक संगठन मानते रहे। संघर्ष के दिनों में यह वात वहुत मूल्यवान् सिद्ध हुई, परन्तु उसके वाद जव सरदार पटेल ने रियासतों के सीमा-निर्धारण की योजना आरम्भ की, तो इस संगठन को और भी अधिक महत्वपूर्ण भाग लेना पड़ा।

एकीकरण के विषय में अन्यत्र काफी कहा जा चुका है। यहां केवल यह वताना है कि रियासतों के निकटवर्ती प्रान्तों में विलय से अथवा पृथक् संघों के निर्माण से एक ऐसी सांविधानिक समस्या पैदा हो गयी, जो केवल रियासती प्रजा परिषद की सहायता से ही सुलझायी जा सकी। ज्यों ही कोई रियासत लोकतन्त्रीकरण की प्रक्रिया में शामिल होती थी, त्यों ही भारत की संविधान सभा और स्थानीय तदर्थ सभा में उसकी प्रजा के प्रतिनिधित्व की आवश्यकता पड़ती थी। परन्तु चूंकि वहुत सी रियासतों में प्रतिनिधिक संस्थायें ही न थीं, अतः उनके प्रतिनिधि प्रजा मण्डलों और रियासती प्रजा परिषद को चुनने पड़ते थे। राजस्थान, सौराष्ट्र, हिमाचल प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश और मणिपुर में तो प्रथम वार लोकप्रिय मन्त्री भी रियासती प्रजा परिषद के स्थानीय कार्यकर्त्ताओं में से ही चुने गये। इससे अधिक अच्छी और रियासती प्रजा परिषद के लिए अधिक भाग्यशाली और क्या वात हो सकती थी कि व्यावहारिक अनुभव के विद्यालय में उसके द्वारा प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता विधानमण्डलों और प्रशासन की जिम्मेदारी संभालने के लिए सामने आ रहे थे।

कुछ प्रासंगिक मन्तव्य

अब से लगभग 20 वर्ष पहले, देशी रियासतें राजनीति और संविधान के विचार से संघटित हुई थीं और प्रान्तों तथा जिसे भारतीय भारत कहते थे उसके बीच भेद समाप्त हो गया था। शासकों को पेंशनें देकर हटाने तथा उनकी रियासतों को शेष भारत के साथ मिलाने के बाद, भारतीय संघ धीरे-धीरे अपना स्वरूप ग्रहण करने लगा। सैकड़ों छोटे-बड़े राज्यक्षेत्र, जहां कभी स्वेच्छाचारी राजाओं और नवाबों का शासन था, अब अतीत की वस्तु बन गये हैं, जिन्हें केवल पुरानी पीढ़ी के लोग ही जानते हैं। अब उस अतीत की केवल स्मृति ही शेष है। केवल राजनीतिक प्रवृत्तियां कभी-कभी बेसुरीला राग अलाप कर अथवा किसी बात पर विशेष बल देकर उन क्षेत्रों की याद दिला देती हैं, जो कभी व्यक्तिगत शासन में थे।

पीछे की ओर निगाह डालने पर तथा विगत चौथाई शताब्दी की घटनाओं पर विचार करने पर यह लोभ होता है कि कुछ मन्तव्य प्रकट किये जायें, कुछ टिप्पणियां की जायें---इतिहास के "अगर-मगर" के बारे में ही नहीं, कतिपय घटनाओं के बारे में भी, जो ऐसे निष्कर्षों की ओर संकेत करती प्रतीत होती हैं, जिनकी भविष्य के लिए कुछ संगति हो सकती है। यदि इसे विद्याव्यसनी का व्यायाम भी मान लिया जाय, तो भी कुछ प्रासंगिक मन्तव्य उपस्थित करने के लिए इसका पर्याप्त ऐतिहासिक औचित्य होगा।

(1) यह सोचने का प्रलोभन होता है कि यदि 1936-39 में राजा लोग अपेक्षित संख्या में अधिमिलन-पत्र पर हस्ताक्षर कर देते, जिससे ब्रिटिश सरकार भारत शासन अधिनियम 1935 के संघ-सम्बन्धी भाग को लागू कर सकती, तो क्या होता ? यदि राजा लोग अपनी मानसिक संकीर्णता से बाहर निकलने में सफल हो जाते और प्रस्तावित संघ में मिलने के लिए राजी हो जाते, तो रियासती प्रजा और ब्रिटिश भारत के राजनीतिक दलों की यह मांग, कि राजाओं को संघीय विधान मण्डल में नामित प्रतिनिधि न भेज कर निर्वाचित प्रतिनिधि भेजने चाहिए, संघ निर्माण में बाधक न होती। यदि राजा लोग अधिमिलन-पत्र पर केवल हस्ताक्षर ही कर देते, तो भी वाइसराय लगभग निश्चित रूप से समस्या का हल कर डालता और संघीय विधान मण्डल में रियासती प्रतिनिधियों के भेजने के तरीके की उपेक्षा करके, प्रान्तीय स्वशासन के साथ ही अथवा उसके तुरन्त बाद, भारतीय संघ का श्रीगणेश कर देता।

यह भी उतना ही सही है कि एक या दो वर्ष में यह विवाद स्वयमेव शान्त हो जाता।

राजा लोग सिद्धान्त रूप में प्रतिनिधियों का निर्वाचन आमतौर से स्वीकार कर लेते। मैसूर, बड़ौदा, ग्वालियर आदि कुछ रियासतों के राजाओं ने तो ऐसा करना स्वीकार भी कर लिया था।

अब यह सोचने की कोशिश कीजिए कि यदि 1939 में महायुद्ध के आरम्भ होने से पहले ही संघ बन जाता तो स्थिति क्या होती। यह स्पष्ट दिखायी देता है कि यदि ऐसा हो जाता तो देशी रियासतों की स्थिति अधिक दृढ़ हो जाती और वे सत्ता-हस्तान्तरण के समय तथा उसके बाद संविधान-निर्माण के कार्य में अधिक प्रभावी ढंग से भाग ले सकती थीं। यही नहीं, उस अवस्था में, सौदा करने के लिए भी वे अच्छी स्थिति में होतीं। मोस्ले[1] का कहना है कि माउन्ट बेटन राजाओं को "भिनगों का ऐसा गुच्छा बताया करते थे, जिन्होंने कांग्रेस की बढ़ती हुई शक्ति को देख कर भी अपने प्रशासनों का लोकतन्त्रीकरण नहीं किया और 1935 में अवसर मिलने पर भी भारतीय संघ में शामिल होने का प्रयत्न नहीं किया।"

यह भी सम्भव है कि यदि ऐसा हो जाता तो भारत में राजनीतिक प्रवृत्तियों में कुछ मुलायमी आ जाती और उन्हें एक नयी दिशा मिल जाती। पिछले वर्षों में कांग्रेस और मुसलिम लीग ने जो कड़ा रुख अख़्त्यार किया था, उस पर निःसन्देह प्रभाव पड़ता। यह सोचना गलत न होगा कि यदि भारत के इन दोनों राजनीतिक दलों के सख़्त और परस्पर-विरोधी रुखों में नरमी आ जाती तो देश का विभाजन अनिवार्य न बनता। अपने ही हित में राजा लोग उस साम्प्रदायिक समस्या का कामचलाऊ राजनीतिक हल निकालने के लिए तत्पर हो जाते, जिसने कांग्रेस और मुसलिम लीग दोनों को परेशान कर दिया था।

राजाओं को संघ में मिलाने के लिए लार्ड लिनलिथगो ने जो सच्चे और गम्भीर प्रयत्न किये, उनको भी उन्होंने कोई परवाह न की। इसके लिए उनके माथे पर कलंक का यह टीका सदा लगा रहेगा कि उन्होंने देशभक्ति और दूरदर्शिता का काम नहीं किया। यद्यपि यह विदित हो चुका है कि अधिकतर राजनीतिक विभाग के अधिकारी ही राजाओं को बहकाते रहते थे और इस प्रकार सम्राट् के प्रतिनिधि के साथ विश्वास-घात करते थे; फिर भी राजा लोग स्वयं स्वार्थी और बुद्धू होने के दोष से मुक्त नहीं किये जा सकते।

1946-47 में, जब अग्रणी राजाओं ने स्थिति की वास्तविकता से अपनी आंखें

---

[1] "दी लास्ट डेज आफ दी ब्रिटिश राज"—पृ० 153

मूंद लीं, तो स्वार्थपरता और अदूरदर्शिता के आरोप की और भी पुष्टि हो गयी। यद्यपि उनमें से कुछ ने, विशेष रूप से जयपुर ग्वालियर और मैसूर के राजाओं ने, 1946-47 में उत्तरदायी शासन का वचन दे दिया था, फिर भी उन्होंने समय पर अपना वचन पूरा करने की बुद्धिमानी नहीं दिखायी। राजाओं के सबसे अच्छे मित्र सर कानरेड कारफील्ड के भी, जुलाई 1947 में भारत से विदा होते समय, ऐसे ही विचार थे। वह सम्राट् के प्रतिनिधि का राजनीतिक परामर्शदाता था। उसका कहना है कि :–

> "इस अन्तिम अवस्था में भी शासकों के लिए यह समझना कठिन हो गया कि सम्राट् की सरकार उनका साथ छोड़ रही है और उन्हें नयी सरकारों से सुलह करने के लिए छोड़े जा रही है—और वह भी ऐसी परिस्थितियों में, जबकि पूर्ण शासन-सत्ता उनके राजनीतिक विरोधियों को हस्तान्तरित की जा रही है। यदि वे अपने शासन का सांविधानिकीकरण करने, अपने निजी खर्च को सीमित करने तथा अपनी रियासतों को जीवन-क्षम एककों में समूहित करने की सम्राट् की सरकार की पुरानी सलाह को मान लेते तो बातचीत करने के लिए उनकी स्थिति अधिक दृढ़ हो जाती।"[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रजा के हाथों में सत्ता न सौंपने के कारण ही राजा लोग उसे अपने वश में न कर सके, और अपनी रक्षा के लिए अन्धे बन कर सर्वोच्च सत्ता की क्षमता पर निर्भर रहते रहे, जिससे उनका सर्वनाश हुआ। 1946-47 में भी, यदि अधिमिलन-पत्र पर हस्ताक्षर करने से पूर्व, वे अपनी रियासतों के सांविधानिक (प्रतीक) अध्यक्ष बन जाते तो यह नितान्त सम्भव था कि उनमें से अधिकांश अपने दर्जे, अपने विशेषाधिकारों और अपने पद को अक्षुण्ण बना सकते थे। यदि प्रजा को पूर्ण लोकतन्त्रीय अधिकार मिल जाते, तो अधिकांश मामलों में वह न केवल अपने महाराजाओं को ही बना रहना पसन्द करती, अपितु उनके लिए लड़ती भी। यह कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि ऐसी परिस्थितियों में रियासतों के सम्बन्ध में अ० भा० रियासती प्रजा परिषद की अथवा किसी भी राजनीतिक दल की भूमिका भिन्न ही होती। रियासत मन्त्रालय की उसकी अनधिकृत अग्रिम सेना के रूप में सहायता करने के बजाय अ० भा० रियासती प्रजा परिषद अपने सतत् शासकों की वास्तविक "अंगरक्षक" बन जाती।

---

[1]वही—पृ० 175

(2) यदि सत्ता-हस्तान्तरण से पहले कुछ बड़ी जीवन-क्षम रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार बन जाती, तो विलय का इंजन उतनी तेजी से न चलता, जितनी तेजी से वह चला। कम से कम कुछ रियासतों में दृढ़ स्थानीय राजभक्ति अवश्य विकसित हो जाती, जिसे लोकतन्त्र, आत्महित की सद्भावना और सांविधानिक व्यक्तिगत शासन को स्थायी बनाने की अभिलाषा से बल मिलता।

आदर्श उदाहरण के रूप में हम ग्वालियर के मामले पर विचार करेंगे। महाराजा सिन्धिया को इतना अधिक समर्थन प्राप्त था तथा प्रजा में उसके प्रति इतनी अधिक सद्भावना थी, कि यदि वह, जैसा कि उसने वचन दिया था, 1946 में ही अपनी रियासत का सांविधानिक (प्रतीक) अध्यक्ष बन जाता, तो ग्वालियर की जनता रियासत के स्वरूप की रक्षा अवश्य करती और इस बात का प्रयत्न करती कि सिन्धिया ही आजीवन उसका अध्यक्ष रहे।[1]

यह मत असंगत नहीं है। इसकी सत्यता उस विरोध से प्रमाणित हो जाती है, जिसका सामना मैसूर में कर्णाटक के एकीकरण के समर्थकों को करना पड़ा। तर्क की दृष्टि से मान लीजिये, यदि मैसूर को पूर्ण उत्तरदायी सरकार पहले ही मिल जाती, तो यह बहुत कम संभव था कि मैसूर रियासत की जनता अपना विरोध वापस लेने के लिए राजी हो जाती और बम्बई तथा मद्रास के कन्नड भाषी जिलों को उसमें मिल जाने देती।

यद्यपि पूर्ण उत्तरदायी शासन मिलने में देर थी और बारह वर्ष पुराने सांविधानिक संघर्ष की दुःखदायी स्मृतियां भी लोगों के दिमागों में ताजा थीं, फिर भी मैसूर के अधिकांश लोगों ने समीपवर्ती कन्नडभाषी क्षेत्रों को उससे मिलाने के प्रस्ताव का विरोध किया, और यह तब, जबकि कर्णाटक के एकीकरण के लिए वर्षों से प्रबल और धुंआधार लोकप्रिय आन्दोलन चल रहा था। यदि राज्य पुनर्गठन आयोग एकीकृत भाषायी राज्य बनाने के पक्ष में पहले से ही कृतनिश्चय न होता, तो उसके सामने जो साक्ष्य उपस्थित था, उसी के आधार पर वह यह सिफारिश कर सकता था कि मैसूर रियासत वैसी ही रहे जैसी अब तक रही है, और बम्बई, मद्रास तथा हैदराबाद के कन्नडभाषी जिलों के लिए कुछ और व्यवस्था कर सकता था। जब तक प्रश्न सांविधा-

---

[1]ग्वालियर के कम से कम दो चोटी के नेताओं ने, जो 1960 में उत्तरदायित्व-पूर्ण पदों पर विराजमान थे, लेखक के साथ निजी बातचीत में इस तथ्य को प्रमाणित किया।

निक सुधार का तथा मैसूर को भारतीय संघ का एक घटक राज्य बनाने का रहा, तब तक मैसूर का बच्चा बच्चा केन्द्र का समर्थन करता रहा; परन्तु जब राज्यों के पुनर्गठन का प्रश्न उपस्थित हुआ, तो पुरानी भावनाओं को तिलांजलि दे दी गयी, कर्णाटक के एकीकरण का प्रस्ताव उठा कर ताक में रख दिया गया, और मैसूर की सीमाओं को यथातथा बनाये रखने के पक्ष में जनमत दृढ़ हो गया। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है :—

> "राज्यों के पुनर्गठन के जीवन्त राजनीतिक प्रश्न बनते ही, प्रस्तावित कर्णाटक राज्य की क्षेत्रीय व्यवस्थिति के बारे में हाल ही में कुछ मतभेद पैदा हो गये हैं। ये मतभेद मुख्य रूप से दो चीजों के बारे में हैं—एक तो कर्णाटक राज्य का वित्तीय भविष्य और दूसरी प्रस्तावित कर्णाटक राज्य में उस मैसूर रियासत को मिलाने की वांछनीयता, जो विशिष्ट प्रशासनिक और सांस्कृतिक परम्पराओं का दावा करती है। ···मैसूर के बाहर कर्णाटक के क्षेत्र अर्ध-विकसित समझे जाते हैं और उनसे वित्तीय घाटे की सम्भावना हो सकती है। अतः पिछले दो या तीन वर्षों में कर्णाटक के अन्य क्षेत्रों के साथ मैसूर के एकीकरण के विरुद्ध विरोध बढ़ने लगा है।"[1]

सीमाओं में किसी प्रकार के परिवर्तन के बिना मैसूर रियासत के इसी रूप में बने रहने के पक्ष में जनमत बदल जाने के कारण, रियासती सरकार को फरवरी 1954 में एक तथ्य-जांच समिति नियुक्त करनी पड़ी। बहुत सी सामग्री की छानबीन करने तथा आर्थिक विकास, भू राजस्व प्रणाली, सरकारी नौकरों के वेतनमान, शान्ति और व्यवस्था की स्थिति आदि अनेक विषयों पर विस्तारपूर्वक विचार करने के बाद, समिति ने सिफारिश की कि—

> "हैदराबाद और बम्बई के कन्नडभाषी जिलों को पृथक् कमिश्नरियों में समूहबद्ध करना पड़ेगा और उन्हें एक कमिश्नर के प्रशासनिक नियन्त्रण में रखना होगा, जिसे निर्णय करने और उन्हें क्रियान्वित करने के व्यापक अधिकार होंगे।"[2]

इस घटना पर किसे आश्चर्य हो सकता है और कौन यह नहीं कह सकता कि ऐसी परिस्थितियों में कुछ अन्य रियासतें भी, तथाकथित सांस्कृतिक और भाषायी समानता

---

[1]राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट—पृ० 90

[2]तथ्य-जाँच समिति की रिपोर्ट—पृ० 141

के वावजूद, उसी प्रकार दूसरे क्षेत्रों के साथ अपने विलय का विरोध करतीं, जिस प्रकार मैसूर ने किया। यदि ऐसा नहीं हुआ, तो दोष अधिकतर स्वयं उन राजाओं का है, जिन्होंने अपनी प्रजा के प्रामाणिक प्रतिनिधियों को रियासत-मन्त्रालय के साथ वातचीत करने का अधिकार देने के वजाय स्वयं वातचीत की अथवा अपने दीवानों से करायी।

(3) पिछले 20 वर्षों की घटनाओं के प्रकाश में यह कहा जासकता है कि हमारे संघीय ढांचे में एक कमी यह है कि संघ के अधिकांश घटक राज्य आकार में बहुत वड़े हैं; और जिस अनुपात में वे वड़े हैं, उसी अनुपात में उनकी समस्यायें भी वड़ी और पेचीदा हैं। अधिकांश मामलों में, आकार वड़ा होने के कारण, राज्यों के साधनों में बहुत भिन्नता आ गयी है। उदाहरणार्थ, उत्तर प्रदेश की जनसंख्या लगभग 9 करोड़ और क्षेत्रफल लगभग 294364 वर्ग किलोमीटर है तथा नवनिर्मित नागालैंड राज्य की जनसंख्या 4 लाख से भी कम और क्षेत्रफल 16488 वर्ग किलोमीटर है। आकार में इन दोनों की असमानता को देख कर सिर चकराने लगता है। यह तो माना जा सकता है कि नागालैंड की छुटाई नहीं रोकी जा सकती; परन्तु यह समझ में नहीं आता कि उत्तर प्रदेश के मामले में एक ही राज्य में इतना विशाल क्षेत्र क्यों इकट्ठा किया गया है।

स्वतन्त्रता के बाद राज्यक्षेत्रों के संघटन के समय एकता और एकीकरण पर जो अधिक बल दिया गया, उसी का यह परिणाम था। कम से कम समय में रियासतों के एकीकरण की सर्वोपरि आवश्यकताओं के सन्दर्भ में बड़े आकार के राज्य बनाने की बात तो कुछ-कुछ समझ में आती है, परन्तु जो विलकुल समझ में नहीं आती वह राज्य पुनर्गठन आयोग की वह मनोवृत्ति है, जिसने संघ में राज्यों के ढांचे को युक्ति-संगत बनाने के वजाय किसी-किसी मामले में उसे और अधिक काबू से वाहर कर दिया। पुनर्गठन पर भाषायी सिद्धान्त लागू करने की उत्सुकता में, आयोग ने बड़े-बड़े राज्य बनाने की गलती कर दी। कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसने समस्या का आगा-पीछा सोचे विना ऐसा किया। रिपोर्ट से प्रकट होता है कि विचार के समय उसने छोटे या उचित आकार के राज्य बनाने के पक्ष और विपक्ष में सभी तथ्यों पर ध्यान दिया। परन्तु समस्या के हल के समय उसने छोटे राज्यों के पक्ष के सब तर्कों को रद्दी की टोकरी में डाल दिया। इस सम्बन्ध में आयोग के निष्कर्ष कितने गलत थे यह उन कारणों पर दृष्टिपात करने से प्रकट हो जायगा, जिन्होंने उसे छोटे राज्यों के वजाय बड़े राज्य बनाने के लिए प्रवृत्त किया। रिपोर्ट के अनुच्छेद 212 में कहा गया है कि :—

"निर्वाचक मण्डल और प्रतिनिधियों में घनिष्ठ सम्बन्ध रहने से जनता और उसके शासन का भार संभालने वालों के मध्य दृष्टिकोण और हितसाम्य की वास्तविक एकता स्थापित करने में सहायता मिलेगी।"

इस अपवादरहित निर्दोष सिद्धान्त को भी आयोग ने अनुच्छेद 241 में यह तर्क देकर अस्वीकार कर दिया कि :—

"पहले तो इसी में सन्देह है कि प्रत्यक्ष लोकतन्त्र का आदर्श, स्विट्जरलैंड के केन्टनों को छोड़ कर, और कहीं प्राप्त भी हो सका है। जहां तक स्थानीय आवश्यकताओं की जानकारी का सम्बन्ध है, इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए आयोजन-तन्त्र मौजूद है। यह नितान्त असम्भव है कि छोटी रियासत अपनी परियोजनाओं में धन लगा सकेगी। वर्तमान स्थिति में इन परियोजनाओं पर राष्ट्रीय स्तर पर विचार किये जाने की कोई सम्भावना भी नहीं है।"

इस अनुच्छेद में जो तर्क उपस्थित किया गया है वह सत्य सिद्ध नहीं हुआ यह इस बात से प्रमाणित हो जाता है कि आयोजन-तन्त्र सभी मामलों में स्थानीय आवश्यकताओं की जानकारी प्राप्त करने में सफल नहीं हो सका। आमतौर से हमारी योजनाओं की आलोचना में कहा जाता है कि उन्होंने रोटी पर मक्खन केवल चुपड़ा है, रखा नहीं है। इससे भी आयोग की आशा झूठी सिद्ध हो जाती है। और जो यह कहा गया है कि छोटी रियासतों में अपनी उन परियोजनाओं पर धन खर्च करने की क्षमता नहीं है, जिन पर राष्ट्रीय स्तर पर विचार करना असम्भव है, सो राज्य पुनर्गठन आयोग का अध्यक्ष स्वयं अपनी हिमाचल प्रदेश सम्बन्धी टिप्पणी में इसका खण्डन कर चुका है। पृथक् हिमाचल प्रदेश की वकालत करते हुए तथा पंजाब के साथ उसे मिलाने का विरोध करते हुए, सर फजल अली ने अपनी टिप्पणी में स्वयं आयोग द्वारा पहले किये गये एक निर्णय का उद्धरण दिया है। यह निर्णय अनुच्छेद 186 में दिया हुआ है, जो इस प्रकार है :—

"भारत की विकास-योजनायें ऐसी परियोजनाओं का स्थान निश्चित करने के लिए तथा उन्हें क्रियान्वित करने के लिए अधिकाधिक केन्द्र-संचालित प्रयास का रूप ले सकती हैं, जिनका उद्देश्य कम से कम समय में अधिक से अधिक लाभ पहुंचाना है। यह लाभ सारे देश को मिलेगा, उसके किसी खास क्षेत्र या प्रदेश को नहीं। यदि ऐसी किसी विकास योजना या योजनाओं से अधिक से अधिक लाभ उठाना है, तो केन्द्रीय आयोजनतन्त्र को कार्य-प्रणालियों और धनविनियोग के चुनाव में कम से कम नियन्त्रणों के अधीन रह कर काम करना

चाहिए तथा संघ के अन्दर संकीर्ण प्रवृतियों को निरुत्साहित करना चाहिए।"

संक्षेप में, भारतीय संघ में छोटे राज्यों की संख्या 30 से भी अधिक हो सकती है; परन्तु इनकी वकालत का अर्थ रियासत मन्त्रालय अथवा राज्य पुनर्गठन आयोग की आलोचना करना नहीं है। सच्ची बात यह है कि 1947 के बाद परिस्थिति इतनी तेजी से बदली कि एक ओर अभिधारणायें और स्वतःसिद्ध प्रमाण तथा दूसरी ओर राजनीतिक कार्यसाधन और आदर्श प्रायः बुरी तरह से मिल गये। जो वास्तव में कालोचित साधनमात्र होता था, वह प्रायः अपरिवर्तनीय सत्य दिखायी पड़ता था और सत्य ही मान लिया जाता था। इसका फल यह हुआ कि कुछ अनुमान प्रमाण मान लिये गये और अभिधारणायें स्वयंसिद्ध तथ्य बन गयीं।

शायद भारत जैसे विशाल देश के मामलों पर विचार व्यक्त करना उसके साथ खिलवाड़ करना ही है। फिर भी यह आवश्यक है कि नेता लोग विश्वास के पात्र बनें और इसलिए वे समय-समय पर स्थिति की जांच करने के लिए तथा आवश्यकतानुसार समुचित सामंजस्य करने के लिए तैयार रहें।

इन तथ्यों के प्रकाश में दो विचार उपस्थित किये जा सकते हैं। एक तो यह कि *भाषायी एकता के सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं है कि एक भाषा बोलने वाले समस्त* क्षेत्रों या प्रदेशों को अनिवार्य रूप से एक ही राज्य में लाकर इकट्ठा कर दिया जाय। आर्थिक, प्रशासनिक और विकास सम्वन्धी आवश्यकताओं को देखते हुए उन्हें दो या दो से अधिक राज्यों में विभाजित किया जा सकता था और लाभ उठाया जा सकता था। दूसरे यह कि द्विभाषी बम्बई के साथ सौराष्ट्र को तथा विशाल मध्य प्रदेश के साथ मध्य भारत को मिलाना न तो आवश्यक था और न वांछनीय ही।

(4) एक और प्रश्न अक्सर यह पूछा जाता है कि लोकतन्त्रीय व्यवस्था में राजतन्त्र की संस्था का क्या स्थान हो सकता है? हमारे देश के सन्दर्भ में इसका यह अर्थ है कि क्या विशाल आकारवाले और ऐतिहासिक परम्परा तथा सांस्कृतिक विकास के मामले में लगभग असीमित विविधता वाले राज्यों के संघ में ऐसे घटक राज्य नहीं बनाये जा सकते थे, जो राज्यपालों के अधीन भी रहते और सांविधानिक अध्यक्षों के रूप में वंशक्रमागत शासकों के अधीन भी रहते। भारत में ऐसा होना सम्भव था, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु नहीं हुआ, यह एक तथ्य है। अब हम इस बात पर विचार करेंगे कि यदि राज्यों के अध्यक्ष राज्यपाल और राजा दोनों ही रहते तो क्या व्यवस्था अधिक अच्छी न हो जाती।

वंशक्रमागत राजा के व्यक्तिगत शासन से बहुत लाभ हैं, विशेष रूप से लोक-

तन्त्रीय संविधान के अन्दर, जबकि जनता चौकन्नी हो जाती है और राज्याध्यक्ष के अधिकार एवं प्राधिकार-क्षेत्र सीमित तथा स्पष्टतया निर्धारित हो जाते हैं। ऐसा राज्याध्यक्ष जनता के अधिक निकट होता है, इसलिए जनता उसे अधिक पसन्द करती है। इसके अलावा वह प्रत्येक कार्य में अधिक अग्रसरता दिखा सकता है। अपने कर्त्तव्य के पालन में उसे नामित राज्यपाल की अपेक्षा अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। यदि कुछ बड़ी रियासतों को आवश्यकतानुसार मामूली क्षेत्रीय समंजनो के बाद ज्यों का त्यों बना रहने दिया जाता तो ऐसी व्यवस्था सम्भव हो सकती थी।

यदि यह भी मान लिया जाय कि रियासतों के वंशक्रमागत शासकों का बना रहना अतीत की व्यथा का स्मरण दिलानेवाला था, फिर भी यह सोचने की बात है कि क्या पदमुक्त राजा भारतीय संघ में राजनीतिक जीवन से लिए गये राज्यपालों की अपेक्षा अधिक अच्छे राज्याध्यक्ष न ठहरते; अथवा राज्यपाल और भूतपूर्व राजा एक निश्चित समय के लिए ही, राज्याध्यक्ष के रूप में साथ-साथ काम करते तो क्या अच्छा न रहता। संघ-सरकार की ओर से राजाओं के साथ जो विभिन्न करार और समझौते किये गये, उनसे यह साफ जाहिर होता है कि उस समय कुछ ऐसी व्यवस्था राजाओं के ही नहीं, सरदार पटेल के भी दिमाग में थी। राज्य पुनर्गठन आयोग ने चाहे कुछ भी सिफारिश की; परन्तु यह समझ में नहीं आता कि संघ-सरकार कुछ राजाओं को आजीवन राजप्रमुख बनाने के अपने वचन से कैसे पीछे हट गयी (राजप्रमुख और राज्यपाल में कोई अन्तर न था)। तात्कालिक इतिहास का विद्यार्थी कम से कम यह जानने की अपेक्षा अवश्य रखता है कि क्या उन राजाओं के सामने कोई युक्तियुक्त विकल्प रख कर वचन पूरा करने का कोई प्रयत्न किया गया, जो राज्यों के पुनर्गठन के फलस्वरूप, उस पद से वंचित हो गये थे, जिसका कुछ ही वर्ष पहले संघ सरकार ने निश्चित वायदा किया था। और जब हम यह सोचते हैं कि ऐसा करना कितना आसान था, अर्थात् जनता के कल्याण और हमारे राष्ट्रीय आदर्शों से मेल न खानेवाली परिस्थितियां पैदा किये बिना ही दिया हुआ वचन पूरा किया जा सकता था, तो हम इस गलती के लिए दु:खी हुए बिना नहीं रह सकते। कोई इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि कुछ भूतपूर्व शासक, राज्यपालों के रूप में, उस ऊंचे किन्तु मुख्यतया शोभा के पद पर नियुक्त राजनीतिक नेताओं की अपेक्षा जनता का अधिक विश्वास और अधिक आदर प्राप्त कर सकते थे।

(5) देशी रियासतें और लिनलियगो

देशी रियासतों के उन सांविधानिक सुधारों का क्रमबद्ध वर्णन, जिनके कारण

अन्त में उनका एकीकरण और निकटवर्ती प्रान्तों में विलयन हुआ, लार्ड लिनलिथगो के उस योगदान के उल्लेख के बिना पूरा नहीं हो सकता, जो उसने वाइसराय और गवर्नर जनरल की हैसियत से समस्या के समाधान को सरल बनाने के लिए किया। इस प्रश्न के निष्पक्ष अध्ययन से यह बात प्रमाणित हो जायगी कि कम से कम जहां तक छोटी और मध्यम आकार की रियासतों का सम्बन्ध था, लिनलिथगो ने ही उनके समूहीकरण की आधारशिला रखी थी। उसने उसके विचार को राजाओं से मनवा कर ही नहीं, बल्कि वस्तुतः प्रयोग आरम्भ करके, उसका सूत्रपात किया। 1938-39 में वह इस बात पर बल देने में कभी नहीं चूका कि समूहीकरण की संभावना और औचित्य पर जोर दिये बिना रियासती समस्या का हल होना असम्भव है। मार्च 1939 में नरेन्द्र-मण्डल के अधिवेशन का उद्घाटन करते समय, लिनलिथगो ने निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण विचार प्रकट किया :—

> "किसी भी मामले में सहयोग और मेल की आवश्यकता इतनी स्पष्ट, इतनी निश्चित और इतनी तात्कालिक नहीं है, जितनी छोटी रियासतों के मामले में। इन रियासतों के साधन इतने सीमित हैं कि वे अलग-अलग आधुनिक मानकों के अनुसार अपनी प्रजा की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकतीं। अतः वास्तव में उनके सामने इसके अलावा और कोई व्यावहारिक विकल्प है ही नहीं। इस अवसर पर मैं पूरे जोर के साथ यह बात इन रियासतों के शासकों को हृदयंगम करा देना चाहता हूं कि बुद्धिमानी इसी में है कि वे प्रशासनिक सेवाओं के मामले में अपने पड़ौसियों से, जहां तक व्यावहारिक रूप में सम्भव हो सके, मिलने के लिए जल्दी से जल्दी कदम उठायें।"

इसके लगभग तुरन्त बाद, कुर्की योजना (अटैचमेंट स्कीम) चालू हो गयी, जिसके अनुसार पश्चिमी भारत, उड़ीसा और शिमला पहाड़ी की बहुत सी रियासतें प्रशासन के प्रयोजनों के लिए समूहबद्ध कर दी गयीं। अधिकांश मामलों में उनके न्याय-अधिकारी, पुलिस, राजस्व, चिकित्सा और वन-अधिकारी एक ही रहे।

अटैचमेंट स्कीम के प्रति राजाओं की प्रतिक्रिया आमतौर से प्रतिकूल थी। उनमें से अधिकांश इसे खूंटे की पैनी नोक समझते थे। परन्तु इससे लिनलिथगो विचलित न हुआ। तीन वर्ष पश्चात् वह और आगे बढ़ा और समूहीकरण योजना (ग्रूपिंग स्कीम) आरम्भ कर दी, जिसके अनुसार छोटी रियासतों को प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए अपने किसी बड़े पड़ौसी से मिलना था।

गुजरात की कुछ रियासतें बड़ौदा से और कुछ नवानगर तथा कुछ अन्य रियासतों

से मिला दी गयीं। इस कदम से राजाओं के इस सन्देह की पुष्टि हो गयी कि उनकी क्षेत्रीय स्थिरता अब पवित्र और अभेद्य नहीं रही तथा सर्वोच्च सत्ता की निगाहों में अब प्रशासनिक सुविधा का स्थान सन्धि-अधिकारों से पहले हो गया।

संभवतः लार्ड लिनलियगो रियासतों में प्रशासनिक मानकों के मामले में अपने सरल रुख के कारण अधिमिलन-पत्र पर राजाओं के हस्ताक्षर कराने में असफल रहा। भाग्य की कैसी विडम्बना है कि लार्ड लिनलियगो की तत्परता और सदुद्देश्यों ने ही उसे राजाओं से मिलने वाले श्रेय तथा भारत की जनता से मिलने वाली मान्यता से वंचित कर दिया।

परिशिष्ट (क)

दिसम्बर 1927 में वम्बई में आयोजित
अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के अधिवेशन में
दीवान वहादुर एम० रामचन्द्र राव के
अध्यक्षीय भाषण से उद्धरण

नरेश और भारत का राजनीतिक विकास

एक और भी आधारभूत वात है, जिसका मैं उल्लेख करना चाहता हूं। लार्ड ओलिवर के शब्दों में, वह वात यह है कि "क्या वे सम्बन्ध, जो इस समय सम्राट् और समस्त देशी रियासतों के मध्य विद्यमान हैं, भारत की उस राष्ट्रीय सरकार को, जो आज की तरह ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी न हो बल्कि एक संघीय भारतीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी हो, हस्तान्तरित किये जा सकते हैं और कैसे हस्तान्तरित किये जा सकते हैं ?" पिछले दो या तीन वर्षों में, विधान सभा में, भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य के विषय पर विचार के समय, भारत सरकार के प्रवक्ताओं ने, लक्ष्य कर के यही प्रश्न एक से अधिक वार उठाया। सर मालकम हेली ने कहा कि भारत सरकार यह जानना चाहेगी कि "क्या रियासतें आज की तरह ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी सपरिषद गवर्नर जनरल के साथ अपना सम्बन्ध रखेंगी अथवा वे भारतीय विधान सभा के प्रति उत्तरदायी कार्यपालिका सरकार के साथ अपना सम्बन्ध रखेंगी ? क्या भारतीय स्वराज्य केवल ब्रिटिश भारत तक ही सीमित रहेगा अथवा उसका विस्तार रियासतों में भी होगा ? क्या वे सम्राट् पर आश्रित रहेंगी अथवा वे ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी सरकार द्वारा नियन्त्रित होने के बजाय केवल भारतीय विधानसभा के प्रति उत्तरदायी नयी सरकार द्वारा नियन्त्रित होंगी ?"

लार्ड ओलिवर और सर मालकम हेली द्वारा इस प्रकार उठाये गये सांविधानिक प्रश्न का, प्रमुख भारतीय राजनेता, जो भारत की सांविधानिक विधि के माने हुए पंडित हैं, अनेक वार उत्तर दे चुके हैं। यह तर्क निराधार है कि देशी रियासतों ने गवर्नर जनरल के साथ सन्धि-सम्बन्ध उस समय उसकी ब्रिटिश सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत से स्थापित किये, न कि भारत सरकार के कार्यपालक अध्यक्ष के प्रतिनिधि

की हैसियत से। सर पी० एस० शिवस्वामी अय्यर ने हाल ही में इस प्रश्न की फिर से जांच की और स्पष्टतया यह मत व्यक्त किया कि "सन्धियां केवल व्यक्तिगत अधिकार और ज़िम्मेदारियां ही नहीं देतीं, देशी रियासतों के तत्कालीन शासकों पर तत्कालीन भारत सरकार का भार संभालने वाले प्राधिकारियों के प्रति जिम्मेदारियां भी डालती हैं।" अतः यह कहना सही नहीं है कि ब्रिटिश भारत की इस संप्रभुता को ध्यान में रखे बिना सम्राट् के साथ सन्धियां की गयीं; और जब सम्राट् ब्रिटिश संसद की स्वीकृति से ब्रिटिश भारत की यह संप्रभुता भारत की राष्ट्रीय संसद को सौंप रहा है, तब देशी रियासतें सरकार से अलग केवल ब्रिटिश सम्राट् के साथ किसी प्रकार का ऐसा सांविधानिक सम्बन्ध रखने का दावा नहीं कर सकतीं, जैसा कि नये संविधान में परिभाषित है।

सर मालकम हेली ने अपने विचार व्यक्त करते हुए कहा कि, जैसा भारत सरकार को अनेक बार सुझाया गया है, हमारा उद्देश्य एक प्रकार का संघ स्थापित करना है। उसके भाषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि उसकी राय में ऐसा संघ आवश्यक तो है, परन्तु ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों के मध्य पहले वे शर्तें तय हो जानी चाहिए, जिनके आधार पर वह स्थापित किया जाय। सर मालकम को भारत के राजनीतिक विकास के सम्बन्ध में देशी नरेशों की सार्वजनिक घोषणाओं को नहीं भूलना चाहिए और न उनके रुख के विषय में उसे कोई सन्देह होना चाहिए। बीकानेर का महाराजा दस वर्ष पहले ही इन प्रश्नों का सामान्य रूप से उत्तर दे चुका था। उसने कहा था—"इससे अधिक गलत धारणा और कोई नहीं हो सकती कि देशी नरेश भारत में राजनीतिक विकास को घृणा या भय की दृष्टि से देखेंगे। इसके विपरीत वे भारत को ब्रिटिश झंडे के नीचे सांविधानिक मार्ग पर राजनीतिक प्रगति करते हुए देख कर प्रसन्न होंगे।" मुझे ऐसा भी कोई कारण दिखायी नहीं देता, जिससे राजाओं को केवल भारतीय विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी सरकार के साथ सांविधानिक सम्बन्ध रखने में हिचकिचाहट हो। रियासतों को संघीय मामलों के नियन्त्रण के लिए अस्तित्व में आनेवाले संघीय विधान मण्डल में और संघीय कार्यपालिका में तथा अन्य सभी संघीय संस्थाओं में समुचित प्रतिनिधित्व मिलेगा। संघीय विधान मण्डल और संघीय कार्यपालिका, जिनके निर्माण में राजाओं और रियासती प्रजा की आवाज होगी, उनके अधिकारों को निःसन्देह अच्छे ढंग से सुरक्षित रख सकेंगे। वे उनके अधिकारों की रक्षा उस सरकार से, जो उनके प्रति उत्तरदायी नहीं है, तथा उस संसद से भी, जिसमें उनका कोई प्रतिनिधित्व नहीं है, अधिक अच्छी तरह से करेंगे।

अतः मुझे यह विश्वास नहीं होता कि देशी नरेश सामूहिक रूप से ब्रिटिश भारत के साथ संघबद्ध होने में तथा भारत के राजनीतिक पुनर्निर्माण में हमारे साथ सहयोग न करेंगे।[1] हमारी मातृभूमि के राजनीतिक स्वातन्त्र्य के आदर्श की प्राप्ति में उनका सक्रिय सहयोग और सहायता आवश्यक है। समूचे भारत की जनता की आकांक्षाओं के साथ एकरूपता स्थापित करने के लिए हम उनकी उच्चकोटि की देशभक्ति पर निर्भर रह सकते हैं।

मैंने समस्या के इन महत्वपूर्ण पहलुओं पर थोड़ा सा प्रकाश डाला है और अब आगे विस्तार से विचार करने में आपका अधिक समय नहीं लेना चाहता। मैं उनमें से किसी योजना का भी उल्लेख करना नहीं चाहता, जो इस समय हमारे सामने हैं। हमारी शक्ति ऐसी योजना तैयार करने में लगनी चाहिए जो राजाओं तथा देशी रियासतों और ब्रिटिश भारत की जनता को स्वीकार्य हो। संघीय संविधान के अन्य विवरणों पर, जैसे संघीय विधान मण्डल या संघीय कार्यपालिका की रचना, संघीय सरकार के कामों, संघीय वित्त की व्यवस्था, राज्यों के आन्तरिक मामलों में संघीय सरकार के लिए सुरक्षित किये जानेवाले हस्तक्षेप के वास्तविक अधिकारों तथा अन्य विविध विषयों पर विस्तार से विचार बाद में किया जा सकता है। इन विषयों पर विचार तभी किया जाय जब रियासतें निम्नांकित श्रेणियों में सूचीबद्ध हो जायें--(1) वास्तविक सम्पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न रियासतें, (2) सामंती रियासतें, और (3) सर्वथा गैर-सम्प्रभुतावाली रियासतें। इसके लिए, मुझे विश्वास है, आप सामान्य सिद्धान्तों को स्वीकार करते हुए, एक उपयुक्त समिति नियुक्त करेंगे, जो एक योजना तैयार करेगी, जिसे रियासती प्रजा के इस अधिवेशन में अथवा निकट भविष्य में होनेवाले अन्य अधिवेशनों में अन्तिम स्वीकृति के लिए उपस्थित किया जायगा।

आन्तरिक प्रशासन

सबसे अधिक प्रगतिशील रियासतों सहित समस्त रियासतों की मुख्य विशेषता

---

[1]बाद की घटनाओं ने यह दिखा दिया कि वक्ता महोदय भारतीय संघ की स्थापना में राजाओं की भूमिका के बारे में आवश्यकता से अधिक आशावादी थे। यद्यपि दीवान बहादुर रामचन्द्र राव ने जो कुछ कहा, उसके लिए पर्याप्त कारण था, परन्तु वे यह न सोच सके कि जब राजाओं से वस्तुतः अधिमिलन-पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए कहा जायेगा, तो वे अपने लच्छेदार उपदेशवाक्यों से मुकर जायेंगे।

राजा का व्यक्तिगत शासन और विधिनिर्माण, प्रशासन एवं न्याय पर उसका नियन्त्रण है। रियासतें विकास की विभिन्न अवस्थाओं में हैं--कहीं वृद्ध पुरुष का शासन (पैट्रियार्की) है तो कहीं सामन्तशाही (फ़्यूडलिज्म) है; कहीं अधिक उन्नति हुई है तो कहीं प्रतिनिधिक संस्थायें स्थापित की गयी हैं, जो ब्रिटिश भारत की संस्थाओं की धुंधली और बेढंगी नकल मात्र हैं। मैसूर के नये संविधान की काफी प्रशंसा हुई है। हाल के वर्षों में रियासतों में यही एक सांविधानिक महत्त्व की बड़ी घटना है। जो सरकार शासक के व्यक्तिगत चरित्र के कारण उन्नति करती है, वह प्रगति की गारन्टी कभी नहीं दे सकती। अकबर एक बड़ा शासक था, परन्तु ऐसी व्यवस्था करना उसके लिए भी असम्भव था कि उसका उत्तराधिकारी भी 'अकबर' ही हो। एक निश्चित संविधान ही जनता की रक्षा का एकमात्र उपाय है, जो जनता के प्रति प्रशासन की जिम्मेदारी स्वीकार करता है तथा लोकप्रिय शासन के समस्त आवश्यक तत्त्व रखता है।

नयी व्यवस्था

बहुत से राजा विश्व राजनीति की गर्म धाराओं में गोते लगा चुके हैं और भारत के सम्बन्ध में विश्व शक्तियों की प्रतिक्रियाओं को भी देख चुके हैं। राष्ट्र संघ के सदस्यों की हैसियत से वे यूरोप के नक्शे को नया रूप देने के प्रयत्नों में भाग ले चुके हैं तथा छोटे राष्ट्रों के आत्म-निर्णय के अधिकार और अल्पसंख्यक जातियों के संरक्षण की वकालत कर चुके हैं। वे संसार के बहुत से देशों के वित्तीय, आर्थिक एवं राजनीतिक पुनर्निर्माण में तथा उन कार्यों में भी भाग ले चुके हैं, जिन्होंने समस्त राष्ट्रों को मानवता की नयी भावना प्रदान की है। फिर वे अपनी ही मातृभूमि के राजनीतिक पुनर्निर्माण में सहयोग देने तथा सहायता का हाथ बढ़ाने से कैसे इन्कार कर सकते हैं? राष्ट्रसंघ के सदस्यों की हैसियत से उन्हें संसार के प्रत्येक देश की राजनीतिक स्थिति के सर्वेक्षण का मौका मिला है और वे यह भलीभांति जान गये हैं कि राजवर्ग का दैवी अधिकार अब अतीत की वस्तु बन गया है। तब अपनी रियासतों में वे उसे पुराने आधार पर कायम रखने की आशा कैसे कर सकते हैं? महाराजा बीकानेर ने भारत के राजाओं की ओर से राष्ट्रसंघ को विश्वास दिलाया था कि पूर्णतया कानून के शासन की स्थापना के पक्ष में हैं। फिर न्यायतः वे देशी रियासतों में उसी कानून के शासन के विस्तार का विरोध कैसे कर सकते हैं? साम्राज्य परिषद (इम्पीरियल कान्फ्रेंस) के सदस्यों की हैसियत से, कुछ राजाओं ने भारत के लिए नये सांविधानिक अधिकारपत्र और औपनिवेशिक स्वराज्य की स्थापना के लिए जोरदार वकालत की है।

निष्कर्ष

महानुभावो! इस वर्ष आपकी परिषद की कार्यवाही विशेष महत्त्वपूर्ण रही है। इसका महत्त्व कई कारणों से है। ब्रिटिश भारत में स्वराज्य की स्थापना के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन की गति और प्रबलता बढ़ गयी है तथा अब हम नये संविधान में मौलिक परिवर्तनों के लिए दबाव डाल रहे हैं। कुछ समय पूर्व लार्ड लिटन ने भावी भारत सरकार के लिए हमारे आदर्शों को संक्षेप में इस प्रकार निर्दिष्ट किया था:—

(1) हम भारत को किसी भी विदेशी आधिपत्य से मुक्त देखना चाहते हैं।

(2) हम भारत को ऐसी सशस्त्र सेनाओं से प्रतिरक्षित देखना चाहते हैं, जो हमारी ही जनता से बनी हों तथा हमारी ही सरकार के आदेश पर चलती हों।

(3) हम भारत को एक कार्यपालिका से शासित देखना चाहते हैं, जो हमारी ही जनता द्वारा निर्वाचित संसद के प्रति उत्तरदायी हो।

ब्रिटेन के समाचारपत्रों में हमारे राजनीतिक विश्वास के तीन आधारभूत आदर्शों के इतने सही और इतने निर्भ्रान्त निरूपण के लिए हम लार्ड लिटन को धन्यवाद देते हैं। मैं यह विश्वास कभी नहीं कर सकता कि देशी रियासतों में, क्या राजा और क्या किसान, ऐसा कोई व्यक्ति होगा, जो इन आदर्शों को हृदय से स्वीकार न करेगा और उनकी प्राप्ति के लिए अधिक से अधिक प्रयत्न न करेगा। भारत के राजनीतिक भविष्य का एक विशाल स्वरूप भारत-भर में समस्त वर्गों की जनता के मनों में समा गया है और इस मुख्य प्रश्न पर ब्रिटिश भारत और देशी रियासतों की जनता में निश्चित रूप से न कोई मतभेद हैं और न हो सकता है। स्वतन्त्र, दृढ़, एकताबद्ध, स्वशासी और स्वावलम्बी भारत हमारा लक्ष्य है और यही हमारा आदर्श है। अतः रियासती जनता को हमारे राष्ट्रीय आदर्शों से परिचित कराने के लिए, आपकी सेवायें अमूल्य हैं; और यह परिषद ब्रिटिश भारत की राजनीतिक घटनाओं के साथ रियासतों का सामान्य सामंजस्य स्थापित करने का पूरा प्रयत्न कर रही है। इस समय भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, मुसलिम लीग, राष्ट्रीय उदार संघ (नेशनल लिबरल फेडरेशन), हिन्दू महासभा, तथा ब्रिटिश भारत के अन्य राजनीतिक संगठन भारत के लिए नए संविधान के प्रश्न पर विचार करने में सक्रिय रूप से संलग्न हैं। अ० भा० कांग्रेस समिति ने देश के विभिन्न राजनीतिक दलों के परामर्श से एक योजना तैयार करने का भार कांग्रेस की कार्य समिति को सौंपा है। मैं सच्चे हृदय से आशा करता हूं कि यह समिति तथा अन्य राजनीतिक संगठन नये संविधान में देशी रियासतों की स्थिति

को अपरिभाषित छोड़ कर केवल ब्रिटिश भारत के ही सम्बन्ध में प्रस्ताव तैयार करके सन्तुष्ट न हो जायेंगे। यह बड़े दुर्भाग्य की बात होगी। अतः यह अत्यन्त वांछनीय है कि परिषद की प्रबन्ध-समिति ब्रिटिश भारत के राजनीतिक संगठनों का सहयोग अविलम्ब प्राप्त करे तथा समस्त भारत के लिए एक नया सांविधानिक ढांचा तैयार करने में उनको सहायता दे।

परिशिष्ट (ख)

प्रतिज्ञा-पत्र

संयुक्त काठियावाड़ रियासत संघ के निर्माण के लिए
काठियावाड़ की रियासतों के शासकों
द्वारा अभिविहित

—: ० :—

हम काठियावाड़ की कुछ रियासतों के शासक इस बात से आश्वस्त होकर कि इस क्षेत्र की जनता का भलीभांति कल्याण एक ऐसी रियासत की स्थापना से ही हो सकता है जिसमें काठियावाड़ की अनेक रियासतें, जागीरें और ताल्लुके समाविष्ट हों और सबकी कार्यपालिका विधानमंडल तथा न्यायपालिका भी एक ही हों;

तथा यह संकल्प कर के, कि उस रियासत के लिए, भारत के, जिसमें हम पहले ही मिल गये हैं, संविधान तथा इस प्रतिज्ञापत्र के ढांचे के अनुसार, एक लोकतन्त्रीय संविधान की रचना का काम, जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों से बनी एक संविधान सभा को सौंप दिया जायगा; एतद्द्वारा, भारत सरकार की सहमति और गारन्टी के साथ, निम्नलिखित प्रतिज्ञा से आबद्ध होते हैं।

अनुच्छेद 1

इस प्रतिज्ञा पत्र में,

(क) "प्रतिज्ञा-बद्ध रियासत" का अर्थ है अनुसूची (1) में उल्लिखित ऐसी कोई रियासत, जिसके शासक ने स्वयं अथवा विधिवत् प्राधिकृत प्रतिनिधि द्वारा इस प्रतिज्ञापत्र पर हस्ताक्षर किये हैं;

(ख) "प्रतिज्ञा-बद्ध सलामी रियासत" का अर्थ है ऐसी कोई प्रतिज्ञा-बद्ध रियासत, जो अनुसूची (1) के भाग (क) में वर्णित है;

(ग) "प्रतिज्ञा-बद्ध गैर-सलामी रियासत" का अर्थ है ऐसी कोई प्रतिज्ञा-बद्ध रियासत, जो अनुसूची (1) के भाग (ख) में वर्णित है; तथा

(घ) यदि विषय या सन्दर्भ में कोई विरोधी चीज नहीं है, तो रियासत के शासक अथवा ताल्लुके के ताल्लुकेदार से उस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह का भी बोध होगा,

सम्पूर्ण भारत को सांविधानिक स्वराज्य के अन्तर्गत होना चाहिए न तो एक भाग अपमानजनक विदेशी प्रभुत्व में रहे और न दूसरा निरंकुश देशी शासन में। प्रत्येक भारतीय देशभक्त की प्रेम-पुष्ट राष्ट्रीय आकांक्षा एक भारतीय संघ बनाने की है, चाहे उसे भारतीय संघ कहिए, चाहे और किसी उपयुक्त नाम से पुकारिये। यह संघ स्वशासी रियासतों और प्रान्तों का हो, जिसमें रियासतें अपने वंशक्रमागत शासकों के अधीन रहें और शासक उन पर सांविधानिक अध्यक्ष के रूप में शासन करें। उनकी भक्ति एक सुदृढ़ उत्तरदायी केन्द्रीय सरकार के प्रति होनी चाहिए, जो रियासतों और प्रान्तों दोनों का सही अर्थ में प्रतिनिधित्व करती हो।

बटलर समिति

महानुभावो! मेरे तुच्छ विचार से बटलर-समिति अपनी नियुक्ति के उद्देश्य की दृष्टि से खराब थी; उस समय की दृष्टि से खराब थी, जो उसकी नियुक्ति के लिये चुना गया था; अपने विचार्य विषयों की दृष्टि से खराब थी; अपने सदस्यों की दृष्टि से खराब थी और अपनी जांच-प्रणाली की दृष्टि से भी खराब थी; तथा उसकी रिपोर्ट तर्कविधि में खराब है और निष्कर्ष निकालने में भी खराब है। ऐसा कहते समय मैं उस कटु आलोचना के गुण और परिमाण से बेखबर नहीं हूं, जो ऐसी भाषा का प्रयोग करने में मेरी धृष्टता के लिए मेरे सिर पर लादी जायगी, जो इतनी स्पष्ट और इतनी निर्भीकता से अप्रशंसात्मक है। परन्तु आलोचना सुनना तो किसी भी कुशल सार्वजनिक कार्यकर्त्ता के लिए उसके दैनिक कार्य का एक अंग है। मैं समझता हूँ हमारे कुछ राजाओं ने, जो विवेकशील होने की अपेक्षा उत्साही अधिक हैं, इस समिति की मांग की थी; मांग क्या की थी आफत मोल ली थी। 'कुछ' शब्द का प्रयोग मैंने इसलिए किया है, क्योंकि उनमें से कुछ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजा इसे नहीं चाहते थे या इसकी परवाह नहीं करते थे। मुझे बताया गया है कि भिन्न मत रखने वाले एक राजा ने विनम्र शब्दों में अपने विचार प्रकट करते हुए कहा था कि "सोते शेर को न जगाओ"। यह एक तथ्य है कि राजा लोग भारत सरकार के साथ रियासतों के सम्बन्धों से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं हैं। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि उनके व्यक्तिगत सम्बन्ध अप्रिय हैं, अथवा सरकार ने उन्हें सब प्रकार की उपाधियों से लादने में सुस्ती से काम लिया है। बल्कि उन्हें यह विश्वास हो गया है कि कुछ अधिकार, जो सन्धि से उन्हें मिले हैं और वस्तुतः उनके होने चाहिए, किसी न किसी तर्क पर उनसे छीन लिये गये हैं और वे इस भय से मुक्त नहीं हैं कि यह प्रक्रिया जारी रह सकती

है और यदि यह जारी रही तो उनको व्यक्तिगत रूप से रोष होगा तथा उनकी रियासतों की हानि होगी।

खेदजनक लक्षण

परन्तु उन्हें कैसी समिति मिली और उससे क्या सन्तोष प्राप्त हुआ? उनके प्रति किसी प्रकार का अनादर प्रकट किये बिना मैं यह कहूंगा कि इसके लिए उन्होंने गलत समय चुना और गलत ही तरीका चुना। मैं कुछ राजाओं की उस सहानुभूति की कृतज्ञतापूर्वक प्रशंसा करता हूं, जो उन्होंने ब्रिटिश भारत में राजनीतिक सुधारों के लिए किये जाने वाले सांविधानिक आन्दोलन के प्रति प्रकट की है। उनमें मुख्य महाराजा गायकवाड़, स्व० महाराजा सिन्धिया और महाराजा बीकानेर हैं। पर साथ ही, जिस प्रकार 1917-18 में मैं यह कहे बिना न रह सका, उसी प्रकार अब भी यह महसूस किये बिना और कहे बिना नहीं रह सकता कि ठीक उस समय, जबकि ब्रिटिश भारत में सुधारों का श्रीगणेश या विस्तार विचाराधीन है, अपने अधिकारों के लिए अतिशयोक्तिपूर्ण चिन्ता प्रकट कर राजाओं ने यह दुर्भाग्यपूर्ण धारणा पैदा कर दी है कि वे अपने ही देशवासियों के उद्देश्यों और प्रयोजनों में वही विश्वास रखने के लिए तैयार नहीं हैं, जो वे ब्रिटिश सरकार में रखते हैं, वही ब्रिटिश सरकार, जिसके विषय में उनकी शिकायत है कि उसने उनके सन्धि-अधिकारों की रक्षा में पूरा न्याय नहीं किया।

सबसे बड़ी शरारत

सर हारकोर्ट बटलर और उनके साथियों ने भारत को इतना आघात पहुंचाया है कि उसके लिए उनकी कड़ी से कड़ी निन्दा होनी चाहिए और वह निन्दा उन्हें स्वीकार करनी चाहिए तथा इसके लिए नरेन्द्र मण्डल की स्थायी समिति के राजाओं को पूरी जिम्मेदारी लेनी चाहिए। उनके प्रति किसी प्रकार का अनादर प्रकट किये बिना मैं यह कहूंगा कि वे भी इस पाप में भागीदार हैं। "सम्राट् के साथ सीधा सम्बन्ध" के नये सिद्धान्त से जो भी गुप्त-प्रकट अर्थ निकालने का इरादा है, उसका सर लेस्ली स्काट ने नीचे उद्धृतअंश में अत्यन्त नग्न रूप में वर्णन किया है :—

> "सर्वोच्च सत्ता की हैसियत से ब्रिटिश सरकार ने समस्त रियासतों की प्रतिरक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया है। इसलिए उस जिम्मेदारी को निभाने के लिए जितनी सैनिक तथा नाविक शक्ति की आवश्यकता होगी, उसके साथ

वह भारत में रहेगी। इस शक्ति को वह और किसी दूसरी सरकार को नहीं दे सकती--न फ्रांस या जापान जैसी दूरवर्ती विदेशी शक्तियों को दे सकती है, न कनाडा या आस्ट्रेलिया जैसी औपनिवेशिक सरकारों को दे सकती है, और न ब्रिटिश भारत को ही दे सकती है।"

नेहरू समिति ने, जिसमें पंडित मोतीलाल नेहरू, सर तेजबहादुर सप्रू और सर सैयद अली इमाम सरीखे उच्चकोटि के वकील थे तथा सर शिवस्वामी अय्यर और सर रामस्वामी अय्यर ने, जो उसी कोटि के वकील थे, सर लेस्ली स्काट के उक्त कथन की वैधता की जांच की और उसे सर्वसम्मति से अस्वीकार कर दिया।

रियासतों का शासन

अब मैं रियासतों के आन्तरिक शासन के विषय पर आता हूं, जिससे, मैं समझता हूं, इस परिषद के सदस्य इस समय अधिक चिन्तित हैं। महानुभावो, जहां तक मैं आपकी स्थिति को समझा हूं, आप में से कोई यह नहीं चाहता कि रियासतें समाप्त हो जायें और ब्रिटिश प्रान्तों में बदल जायें। यदि आप चाहते होते, तो मैं साफ कहता हूं कि मैं यहां न होता। परन्तु आप नहीं चाहते। यदि आप चाहते होते तो अस्वाभाविक होता। कोई प्रजा स्वदेशी शासन को विदेशी शासन से बदलने की इच्छा कैसे कर सकती है? जैसा कि कहा जाता है, यह सच है कि जिस स्वराज्य का आप उपभोग कर रहे हैं, वह वह स्वराज्य नहीं है, जिसे आप और हम समान रूप से चाहते हैं अर्थात् "जनता के द्वारा, जनता के लिए, जनता की सरकार"। इस परिषद का उद्देश्य रियासतों के शासन के स्वरूप और संविधान में ऐसा परिवर्तन करना है, जिससे वह अब्राहम लिंकन द्वारा उस ऐतिहासिक वाक्यांश में परिभाषित आदर्श के निकट आ सके, जिसे मैंने उद्धृत किया है। ब्रिटिश भारत और भारतीय भारत दोनों में सांविधानिक शासन ही अभीष्ट है।

संघीय संविधान

रियासतों में उत्तरदायी शासन की ओर ले जाने वाले सुधार ब्रिटिश भारत के उत्तरदायी शासन से मिल कर रियासतों और प्रान्तों का एक संघ बनाने में सुविधा पहुंचायेंगे। यह संघ सम्पूर्ण भारत के लिए एक संघीय सरकार के अधीन होगा तथा प्रत्येक बड़ी रियासत और प्रत्येक राज्यपाल का प्रान्त उसके एकक होंगे। सांविधानिक समस्याओं के एक बड़े विशेषज्ञ ने भावी भारत सरकार के आवश्यक

तत्त्व ये बताये हैं :—(1) भारत का संविधान सख्त होना चाहिए; (2) संघात्मकता संविधान का सांकेतिक शब्द होना चाहिए; (3) रियासतों और प्रान्तों को स्वशासन; (4) अन्तिम अधिकार केन्द्रीय सरकार के; (5) देसी रियासतों का वही दर्जा होना चाहिए जो पृथक् प्रान्तीय एककों का हो; (6) पृथक् निर्वाचक-मण्डल न हों; (7) केन्द्रीय विधान मण्डल में दो सदन हों; (8) अवर सदन (लोअर चैम्बर) जनसंख्या के आधार पर होना चाहिए और प्रवर सदन (अपर चैम्बर) एककों के रूप में प्रान्तों और रियासतों के आधार पर होना चाहिए।

क्या संघ तत्काल सम्भव है ?

मैं अत्यन्त आदर के साथ किन्तु विशेष बलपूर्वक राजाओं से पुनः कहूंगा कि उनके सबसे घनिष्ठ मित्र और सच्चे हितैषी भारतीय नागरिक सेवा (इंडियन सिविल सर्विस) में या राजनीतिक विभाग में अथवा भारत या इंगलैंड के अंग्रेजों में नहीं मिलेंगे; बल्कि वे उन्हींकी राजभक्त प्रजा में तथा ब्रिटिश भारत की जनता में मिलेंगे। इस सत्य को उन्हें अच्छी तरह हृदयंगम कर लेना चाहिए। यदि यह हो गया तो फिर और सब कुछ अपेक्षाकृत आसान हो जायगा। यदि रियासतों और प्रान्तों में सहयोग हो सके तो हमारे लिए स्वराज्य उतना ही निश्चित है जितना कल पूर्व दिशा में पुनः सूर्य का उदय होना।

15 और 16 फरवरी 1939 को लुधियाना में आयोजित अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू के अध्यक्षीय भाषण से उद्धरण

जनता की इच्छा सर्वोपरि

विगत वर्षों में, अनेक लोगों ने रियासतों के प्रति कांग्रेस के रुख की आलोचना की है और उसके हस्तक्षेप अथवा अहस्तक्षेप के विषय में गर्मागर्म बहस हुई है। वह आलोचना और वह तर्क बीते हुए कल के साथ ही बीत गये और अब निरर्थक हैं। फिर भी कांग्रेस की रियासत-सम्बन्धी नीति के विकास पर संक्षेप से विचार करना उचित है। मैंने इस नीति के सभी कथनों को सदा स्वीकार नहीं किया है और न समस्या के कुछ पहलुओं पर बल देना ही पसन्द किया है। परन्तु मुझे यह विश्वास है कि तात्कालिक परिस्थितियों में यही आधारभूत नीति सही थी, और वास्तव में बाद की घटनाओं ने इसे पूर्णतया सत्य सिद्ध कर दिया है। जिस नीति का उद्देश्य महत्त्वपूर्ण परिवर्तन या क्रान्ति करना हो, उसे वास्तविकता तथा तात्कालिक परिस्थितियों का ध्यान रखना चाहिए। परिस्थितियों के साथ नीति भी बदलती है। जोशीली बातें और संकेत या बाह्य परिस्थितियों की उपेक्षा करनेवाले सख्त प्रस्ताव, ऐसा सगर्भ वातावरण उपस्थित नहीं कर सकते, जिससे क्रान्तिकारी परिवर्तन का जन्म होता है। यह वातावरण कृत्रिम रूप से भी तैयार नहीं किया जा सकता तथा जन-आन्दोलन भी तब तक आरम्भ नहीं किये जा सकते, जब तक जनता स्वयं उनके लिए तैयार न हो। कांग्रेस इस बात को समझती थी और रियासती जनता की अकर्मण्यता को जानती थी। अतः उसने भली भांति यह समझते हुए कि रियासती जनता को प्रभावित करने तथा उसे अपने संघर्ष के लिए तैयार करने का सबसे अधिक प्रभावी तरीका यही है, बाह्य संघर्ष में ही अपनी शक्ति का सद्व्यय किया।

हरिपुरा का प्रस्ताव कांग्रेस-नीति के विकास में एक सीमा-चिन्ह था। उसमें स्पष्ट शब्दों में उसकी व्याख्या की गयी थी। भारत की अखण्डता और एकता उस स्वतन्त्रता का आवश्यक अंग है, जिसके लिए हम काम कर रहे हैं, और रियासतों को भी उसी प्रकार पूरी मात्रा में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता मिलेगी, जिस प्रकार शेष भारत को। इस पर कोई समझौता नहीं हो सकता; इसलिए कांग्रेस ने रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन तथा नागरिक स्वतन्त्रता की गारन्टी के पक्ष

में पुनः घोषणा की। इसके अलावा उसने यह भी घोषणा की कि रियासतों में अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए काम करना उसका अधिकार है तथा विशेषाधिकार भी है। अहस्तक्षेप का तो प्रश्न ही नहीं है। कांग्रेस भारतीय जनता की इच्छाशक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। अतः वह ऐसे किसी प्रतिबन्ध को स्वीकार नहीं कर सकती, जो भारत या उसकी जनता से सम्बन्धित किसी मामले में उसकी गतिविधि की स्वतन्त्रता को सीमित कर दे। भारत के हितों की मांग पर, ऐसे किसी मामले में हस्तक्षेप करना उसका अधिकार है, विशेषाधिकार है और कर्त्तव्य भी है।

कांग्रेस यह भलीभांति जानती है कि रियासतों का पिछड़ापन हमारी राष्ट्रीय प्रगति में बाधक है और भारत तब तक स्वतन्त्र नहोगा, जब तक रियासतें अपना वर्तमान रूप न बदलेंगी। कांग्रेस यह आवश्यक और महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने के लिए उत्सुक है; परन्तु वह यह भी जानती है कि यह परिवर्तन नीचे से ही शुरू किया जा सकता है। यह परिवर्तन तब आ सकता है जब रियासती जनता स्वावलम्बी और संगठित हो जाय तथा अपने संघर्ष के भार को स्वयं उठाने के लिए समर्थ हो जाय। कांग्रेस नेइस बात पर बल दिया। ऐसा न करना बहकाना होता, व्यर्थ भ्रान्ति फैलाना होता तथा स्वयं रियासतों में ऐसे संगठन के निर्माण को विलम्बित करना होता, जो जनता की इच्छा और शक्ति का प्रतिनिधित्व करता।

महान् संघर्ष

हरिपुरा के बाद जो घटनायें घटी हैं उनसे कांग्रेस की बुद्धिमत्ता भली प्रकार प्रमाणित हो गयी है। सभी रियासतें सजग हो गयी हैं और उनमें से अनेक रियासतों में प्रबल जन आन्दोलन चल रहे हैं। रियासतों की जनता शेष भारत के साथ कदम से कदम मिला कर चलने को आतुर हो उठी है। अब वह हमारे ऊपर भार बोझ बन कर हमें पीछे को नहीं खींच रही। वह भारत को गति दे रही है, और उसका संघर्ष हमारी राष्ट्रीय राजनीति पर छा गया है। अतः अब समय आ गया है कि रियासतों के इन विविध संघर्षों को ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध पहले परस्पर मिला कर और फिर बड़े संघर्ष से मिला कर एक कर दिया जाय। स्वतन्त्रता के लिए अब बहुत से अलग-अलग संघर्ष नहीं हो रहे; भारत की स्वतन्त्रता के लिए केवल एक ही महान् संघर्ष है, भले ही उसके पहलू अनेक हों और उसके युद्ध-क्षेत्र भिन्न-भिन्न हों। जैसा कि गांधी जी ने कहा है, स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष का अर्थ है सम्पूर्ण भारत की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष, चाहे वह कभी हो।

यह उचित ही था कि रियासतों के लिए संकट की इस घड़ी में, भारत का नेता, जो सदा ही उसकी स्वतन्त्रता के लिए चिन्तित रहता है तथा उसके सम्मान के लिए व्यग्र रहता है, आगे बढ़ता और अपने उसी पुराने गम्भीर उद्घोष द्वारा, जो हमें भली भांति याद है, जनता को विश्वास और उत्साह प्रदान करता। गांधी जी के नेतृत्व ने वे सब तर्क अन्तिम रूप से शान्त कर दिये हैं, जिन्होंने वास्तविक प्रश्न को छिपा रखा था। अब वह प्रश्न स्पष्ट और निश्चित रूप में सामने आ गया है।

सन्धियाँ

हमें रियासतों की तथाकथित स्वतन्त्रता (स्वतन्त्र सत्ता) के विषय में बताया गया है और सर्वोच्च सत्ता के साथ उनकी उन सन्धियों के विषय में भी बताया गया है, जो पवित्र और अभंजनीय मानी जाती हैं, इसलिए सदा इसी रूप में बनी रहेंगी। हम देख चुके हैं कि जब अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियां और पवित्र से पवित्र प्रतिज्ञापत्र साम्राज्यवाद के प्रयोजनों के अनुकूल नहीं रहते तो उनका क्या हाल होता है। हाल ही में हमने इंगलैंड और फ्रांस को इन सन्धियों की धज्जियां उड़ाते हुए, अपने मित्रों और सहायकों को नीचतापूर्वक छोड़ते हुए एवं उनके साथ विश्वासघात करते हुए तथा दिये हुए वचन को भंग करते हुए देखा है। जब लोकतन्त्र और स्वतन्त्रता को आघात पहुंचता है, तो चिन्ता की कोई आवश्यकता नहीं समझी जाती। परन्तु जब प्रतिक्रिया, स्वेच्छाचारिता और साम्राज्यवाद को कोई आघात पहुंचता है, तो तुरन्त चिन्ता पैदा हो जाती है और पुरानी से पुरानी सन्धियां भी, चाहे वे कितनी ही कीड़ों की खायी और जनता के लिए हानिकारक हों, सुरक्षित रखने योग्य समझी जाती हैं। सवा शताब्दी पुरानी इन सन्धियों के अनुसार चलने के लिए कहना, जिनके विधान में जनता की कोई आवाज न थी, एक दानवी छल है। यह आशा करना कल्पना की विचित्र उड़ान है कि जनता अपनी दासता की उन जंजीरों को पहने ही रहेगी, जो छल और बल से कसी गयी थीं तथा उस प्रणाली को मानती रहेगी, जिसने उसका रक्त चूस लिया है। एकमात्र अन्तिम प्राधिकार और सर्वोच्च सत्ता, जिसे हम स्वीकार करते हैं, जनता की इच्छाशक्ति है और एकमात्र अन्तिम वस्तु, जिसकी कोई गिनती है, जनता का हित है।

जनता के सामने विकल्प

आज संघर्ष का क्या रूप है? यह समझ लेना चाहिये। यह हर रियासत में कुछ-कुछ भिन्न है, परन्तु मांग सब जगह पूर्ण उत्तरदायी शासन की है। फिर भी,

इस समय संघर्ष उस मांग को मनवाने के लिए नहीं है; बल्कि उस मांग के लिए लोगों को संगठित करने के अधिकार की स्थापना के लिए है। जब यह अधिकार अस्वीकृत कर दिया जाता है और नागरिक स्वतन्त्रता कुचल दी जाती है, तो लोगों के लिए सांविधानिक ढंग से आन्दोलन चलाने का कोई मार्ग शेष नहीं रह जाता। नागरिक स्वतन्त्रता की पूर्ण स्थापना किसी भी प्रगति के लिए आवश्यक भूमिका है। रियासतों में अध्यादेशी शासन, संगठनों का दमन, सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबन्ध और अपराधियों जैसा व्यवहार सहन करने के लिए भारत से कहना उसका अपमान करना है। क्या रियासतों को विशाल कारागार ही बने रहना है, जहां मनुष्य की आत्मा का हनन होता है और जहां प्रजा के साधनों का इस्तेमाल दरबारों की शान तथा भोगविलास के लिए होता है, जबकि जनता भूखी मरती है और निरक्षर तथा पिछड़ी बनी रहती है? क्या मध्य युग भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के संरक्षण में इसी प्रकार जारी रहेगा ?

25 और 26 मई 1929 को बम्बई में आयोजित
अ० भा० रियासती प्रजा परिषद के द्वितीय अधिवेशन में
सी० वाई० चिन्तामणि के अध्यक्षीय भाषण से उद्धरण

संघीय राज्य के पक्ष में तर्क

हाल के वर्षों में हमारी राजनीतिक संस्थाओं पर इस प्रकार का दबाव बहुत बढ़ा है कि रियासती जनता के हित को अपना हित समझा जाय तथा उसके लाभ के वास्ते सुधारों के लिए वैसा ही प्रयत्न किया जाय, जैसा ब्रिटिश भारत में किया जाता है। इस अपील पर अनुकूल प्रतिक्रिया हुई है, जो विलम्बित और अपर्याप्त भले ही हो, पर दिखावटी नहीं है। जहां तक अलग-अलग सार्वजनिक व्यक्तियों के रुख का प्रश्न है, मैं स्वयं सचाई के साथ इस बात को स्वीकार करता हूं कि मैं उन व्यक्तियों में से हूं जिन्होंने सबसे बाद में अपना विचार-परिवर्तन किया है और यह स्वीकार किया है कि हमें अपने भारी कार्यक्रम में अपने रियासती देशवासियों की शिकायतों तथा न्याय्य अधिकारों की वकालत भी शामिल कर लेनी चाहिए। आरम्भ में, काम उन लोगों को करना पड़ेगा, जो हाल ही में प्रभावित हुए हैं, क्योंकि वे प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर अधिकार के साथ बात कर सकते हैं, तथा उन्हें शिकायतें दूर कराने के लिए और सुधार लागू कराने के लिए हर सांविधानिक प्रयत्न करने का अधिकार है, जिसे उनसे कोई छीन नहीं सकता। इसे वे समझ गये हैं, जैसा कि यह परिषद और ऐसी ही और भी अनेक परिषदें, जो हाल ही में अस्तित्व में आयी हैं, इतनी मुखरता से प्रमाणित करती हैं। इस काम में उनका ब्रिटिश भारत के सार्वजनिक लोगों से सहयोग मांगना और उसकी आशा करना सर्वथा न्यायोचित है; क्योंकि तथाकथित ब्रिटिश भारत और तथाकथित भारतीय भारत दोनों मिल कर पूरा एक बनते हैं भारत, जिसे हम प्यार करते हैं, जिसका हम आदर करते हैं और जिसकी हमें सेवा करनी चाहिए भारत, एक और अविभाज्य, पवित्र देश, जो युग-युगान्तर से मनुष्यों का प्रेरणा-स्रोत रहा है और युग-युगान्तर तक रहेगा; भारत, जिसे स्वयं भगवान् ने श्रीकृष्ण के रूप में आकर पवित्र किया है; बुद्ध और शंकर का तथा ऋषियों और मुनियों का भारत, गंगा और काशी और हिमाचल का देश, जो सदा जीवित रहता है, जब कि अन्य देश अपने अहंकार और महत्त्वाकांक्षा के क्षणों में बेचैनी से दौड़ लगाते हैं और नष्ट हो जाते हैं; बाद में केवल चेतावनी के रूप में उनका नाम लिया जाता है।

जो तत्काल शासक या ताल्लुकेदार की नाबालिगी के कारण अथवा अन्य किसी कारण से, उसके अधिकारों को प्रयोग में ला रहा है।

अनुच्छेद 2

1. प्रतिज्ञाबद्ध रियासतें---

(क) अपने राज्य-क्षेत्रों को एक रियासत में, जिसका नाम "संयुक्त काठियावाड़ रियासत" होगा और जिसमें सबकी कार्यपालिका विधानमंडल और न्यायपालिका एक ही होंगी, मिलाने और समाकलित करने के लिए; तथा

(ख) इस प्रकार स्थापित संयुक्त रियासत में, अन्य किसी ऐसी रियासत, ताल्लुका या जागीर को, जिसका शासक या ताल्लुकेदार, भारत सरकार के अनुमोदन से, उस रियासत, ताल्लुका या जागीर को संयुक्त काठियावाड़ रियासत में विलयन के लिए राजी हो, शामिल करने के लिए सहमत हैं।

2. इस अनुच्छेद के पैरा (1) के खण्ड (ख) में उल्लिखित विलयन सम्बन्धी सभी करारनामों की शर्तें संयुक्त रियासत पर बन्धनकारी होंगी और इस प्रतिज्ञापत्र का अंग समझी जायेंगी।

अनुच्छेद 3

1. प्रतिज्ञाबद्ध सलामी रियासतों के शासकों की एक परिषद होगी।

2. एक अध्यक्षमण्डल होगा, जिसमें पाँच सदस्य होंगे। प्रत्येक सदस्य किसी प्रतिज्ञाबद्ध रियासत का शासक होगा और अवस्था में 21 वर्ष से कम न होगा।

3. इस अनुच्छेद के पैरा 2 में उल्लिखित शर्त के अधीन रहते हुए, नवानगर और भावनगर के शासक अध्यक्षमण्डल के स्थायी सदस्य होंगे; एक सदस्य प्रतिज्ञाबद्ध गैर-सलामी रियासतों के शासकों द्वारा अपने में से चुना जायगा; और शेष सदस्य, नवानगर और भावनगर के शासकों को छोड़ कर, शासक-परिषद के अन्य सदस्यों द्वारा अपने में से चुने जायेंगे।

4. शासक-परिषद अध्यक्षमण्डल के एक सदस्य को अध्यक्षमण्डल का प्रधान और एक दूसरे को उसका उपप्रधान चुनेगी, और इस प्रकार चुना गया प्रधान संयुक्त रियासत का राजप्रमुख होगा।

5. इस अनुच्छेद के पैरा 3 के अनुसार अध्यक्षमण्डल के सदस्य के रूप में, अथवा पैरा 4 के अनुसार अध्यक्षमण्डल के प्रधान या उपप्रधान के रूप में, चुना गया शासक,

ऐसे सदस्य, प्रधान या उपप्रधान के रूप में, जैसी स्थिति हो, उस दिन से, जिस दिन उसने उस पद का भार ग्रहण किया है, पाँच वर्ष की अवधि तक, पद को धारण करने का अधिकारी होगा।

6. इस अनुच्छेद के पूर्ववर्ती पैराग्राफों में किसी विरोधी बात के होते हुए भी,

(क) नवानगर और भावनगर के वर्तमान शासक, जो 17 जनवरी 1948 को, सम्बन्धित शासकों द्वारा, अध्यक्षमण्डल के क्रमशः प्रधान और उपप्रधान चुने जा चुके हैं, अध्यक्षमण्डल के क्रमशः प्रथम प्रधान और प्रथम उपप्रधान बने रहेंगे;

(ख) ध्रांगध्रा, पालिताना और कोटदा-संगनी के वर्तमान शासक, जो 17 और 21 जनवरी 1948 को सम्बन्धित शासकों द्वारा, अध्यक्षमण्डल के सदस्य चुने जा चुके हैं, अध्यक्षमण्डल के प्रथम निर्वाचित सदस्य बने रहेंगे, तथा

(ग) इस अनुच्छेद के पैरा 5 के प्रयोजन के लिए, यह मान लिया जायगा कि अध्यक्षमण्डल के उक्त प्रधान, उपप्रधान और सदस्यों ने 1 फरवरी 1948 को अपने-अपने पदों का भार ग्रहण कर लिया है।

अनुच्छेद 4

1. सुविधा एवं गौरव के साथ अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन करने के योग्य बनने के लिए, राजप्रमुख को वही वेतन, भत्ते तथा अन्य सुविधायें प्राप्त करने का अधिकार होगा, जिन्हें बम्बई का राज्यपाल 20 जनवरी 1948 को प्राप्त करने का अधिकारी है।

2. यदि राजप्रमुख, अनुपस्थिति या बीमारी के कारण अथवा अन्य किसी कारण से, अपने पद के कर्त्तव्यों का पालन करने में असमर्थ होगा, तो अध्यक्षमण्डल का उपप्रधान उन कर्त्तव्यों का पालन तब तक करता रहेगा, जब तक राजप्रमुख उन्हें पुनः आरम्भ नहीं कर देता। इस अवधि में, उपप्रधान उन्हीं वेतन, भत्तों और अन्य सुविधाओं का अधिकारी होगा, जिनका राजप्रमुख है।

अनुच्छेद 5

1. अनुच्छेद 7 के पैरा 2 में उल्लिखित कार्यों को छोड़ कर, शेष कार्यों के सम्पादन में राजप्रमुख की सहायता करने के लिए तथा उसे परामर्श देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद होगी।

2. मन्त्री राजप्रमुख द्वारा चुने जायेंगे और उसके प्रसाद पर्यन्त पद पर रहेंगे।

3. पहली मन्त्रि-परिषद चुनने के लिए, राजप्रमुख, अधिक से अधिक 20 फरवरी 1948 तक, (भारत की संविधान परिषद के लिए प्रतिनिधि निर्वाचित करने के लिए बनाये गये) काठियावाड़ निर्वाचक-मण्डल के सदस्यों की एक सभा बुलायेगा, परन्तु इसमें कच्छ, ईदर और राधनपुर रियासतों के सदस्य शामिल न होंगे।

अनुच्छेद 6

1. प्रत्येक प्रतिज्ञाबद्ध रियासत का शासक, उतनी जल्दी जितना शक्य हो, तथा किसी भी स्थिति में 15 अप्रेल 1948 के बाद नहीं, अपनी रियासत का प्रशासन राज-प्रमुख को सौंप देगा और उसके बाद---

(क) शासक के समस्त अधिकार, प्राधिकार और क्षेत्राधिकार, जो प्रतिज्ञा-बद्ध रियासत की सरकार से सम्बन्धित या आनुषंगिक हैं, संयुक्त काठियावाड़ रियासत में निहित हो जायेंगे और तत्पश्चात् उस व्यवस्था के अनुसार प्रयोग में लाये जायेंगे, जो इस प्रतिज्ञापत्र में की गयी है अथवा जो इसके अनुसार निर्मित संविधान में की जायगी;

(ख) प्रतिज्ञाबद्ध रियासत की सरकार से सम्बन्धित या आनुषंगिक शासक के समस्त कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व संयुक्त काठियावाड़ रियासत पर न्यागत हो जायेंगे और उसके द्वारा पूरे किये जायेंगे; और

(ग) प्रतिज्ञाबद्ध रियासत की समस्त आस्तियाँ और देनदारियाँ संयुक्त काठिया-वाड़ रियासत की आस्तियां और देनदारियां हो जायेंगी।

2. जब उस विलयन-करार के अनुसार, जिसका उल्लेख अनुच्छेद 2 के पैरा 1 के खण्ड (ख) में किया गया है, किसी दूसरी रियासत, ताल्लुके या जागीर का प्रशासन राजप्रमुख को सौंपा जायगा, तो इस अनुच्छेद के पैरा 2 के खण्ड (क) और (ख) के उपबंध, तथा रियासत की स्थिति में, इसके खण्ड (ग) के भी उपबंध, उस रिया-सत, ताल्लुका या जागीर के सम्बन्ध में उसी प्रकार लागू होंगे, जिस प्रकार वे किसी प्रतिज्ञाबद्ध रियासत पर लागू होंगे, केवल इस परिवर्तन के साथ कि उक्त खण्डों में ताल्लुका या जागीर के सन्दर्भ में शासक का अर्थ ताल्लुकेदार होगा।

अनुच्छेद 7

1. प्रत्येक प्रतिज्ञाबद्ध रियासत की सेना, यदि कोई हो तो, उस दिन से, जिस

दिन उस रियासत का प्रशासन राजप्रमुख को सौंपा जायगा, संयुक्त काठियावाड़ रियासत की सेना हो जायगी।

2. उन निदेशों और अनुदेशों के अधीन, जो इस सम्बन्ध में, समय समय पर, भारत सरकार द्वारा दिये जायें, संयुक्त रियासत की सेना के निर्माण, अनुरक्षण एवं प्रशासन का अधिकार एकमात्र राजप्रमुख में निहित होगा।

परन्तु, इस अनुच्छेद की कोई चीज राजप्रमुख को, उक्त किसी मामले में, अध्यक्ष-मण्डल अथवा मन्त्रिमण्डल की राय लेने से नहीं रोक सकेगी।

अनुच्छेद 8

इस प्रतिज्ञापत्र के उपबन्धों तथा इसके अनुसार बनाये जाने वाले संविधान के उपबन्धों के अधीन, संयुक्त रियासत के कार्यपालिका-प्राधिकार, राजप्रमुख या तो प्रत्यक्ष रूप से अथवा अपने अधीन अधिकारियों के द्वारा प्रयोग में लायेगा; परन्तु इस अनुच्छेद की कोई चीज संयुक्त रियासत के संक्षम विधानमण्डल को अधीन प्राधि-कारियों को कार्य सौंपने से अथवा किसी प्रतिज्ञाबद्ध रियासत में किसी मौजूदा विधि द्वारा किसी न्यायालय, न्यायाधीश, अधिकारी या स्थानीय प्राधिकरण को सौंपे गये कार्यों को राजप्रमुख को हस्तान्तरित करने से न रोक सकेगा।

अनुच्छेद 9

1. जितनी जल्दी शक्य हो उतनी जल्दी, अनुसूची 2 में बतायी गयी विधि से, काठियावाड़ संविधान सभा बनायी जायगी।

2. उक्त सभा का कर्त्तव्य, संयुक्त रियासत के लिए, इस प्रतिज्ञापत्र तथा भारत के संविधान के ढांचे के अन्तर्गत, एक ऐसा संविधान (एकात्मक अथवा संघीय प्रकार का) तैयार करना होगा, जिसमें विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी शासन की व्यवस्था की गयी हो।

3. जब तक इस प्रकार बनाया गया संविधान, राजप्रमुख की स्वीकृति मिलने के बाद, लागू न हो, तब तक संयुक्त रियासत का विधायिका-प्राधिकार राजप्रमुख में निहित रहेगा। राजप्रमुख रियासत या उसके किसी भाग में शान्ति और सुशासन के लिए अध्यादेश बना सकता है और उसे लागू कर सकता है, और इस प्रकार बनाया गया कोई भी अध्यादेश उसी प्रकार वैध होगा, जिस प्रकार रियासत के विधान मण्डल द्वारा पारित कोई अधिनियम।

अनुच्छेद 10

1. प्रत्येक प्रतिज्ञाबद्ध रियासत का शासक, अपने प्रिवी पर्स के लिए, संयुक्त रियासत के राजस्व से, प्रति वर्ष उतनी रकम पाने का अधिकारी होगा, जो अनुसूची (1) में उस प्रतिज्ञाबद्ध रियासत के सामने निर्दिष्ट की गयी है।

2. उक्त रकम के अन्तर्गत शासक और उसके परिवार के सभी खर्चे हैं, जिनमें उसके निजी कर्मचारियों, निवास-स्थानों के रख-रखाव, विवाह और अन्य उत्सवों आदि पर होनेवाले खर्चे भी शामिल हैं; और यह रकम किसी भी कारण से न तो बढ़ायी जायगी और न घटायी जायगी।

3. राजप्रमुख शासक को उक्त रकम चार बराबर किस्तों में प्रत्येक तिमाही के आरम्भ में अग्रिम दिलाने की व्यवस्था करेगा।

4. उक्त रकम संयुक्त रियासत की सरकार अथवा भारत सरकार द्वारा लगाये गये समस्त करों से मुक्त होगी।

अनुच्छेद 11

1. प्रत्येक प्रतिज्ञाबद्ध रियासत का शासक उन सभी निजी सम्पत्तियों (रियासती सम्पत्तियों से भिन्न) के पूर्ण स्वामित्व, प्रयोग और उपभोग का अधिकारी होगा, जो राजप्रमुख को उस रियासत का प्रशासन सौंपने के दिन उसके अधिकार में थीं।

2. वह उक्त दिन से एक महीने के अन्दर उन सभी अचल सम्पत्तियों, प्रतिभूतियों और नकदी की सूची राजप्रमुख को देगा, जो ऐसी निजी सम्पत्ति के रूप में उसके पास हैं।

3. यदि इस विषय में कोई विवाद उठ खड़ा हो कि कोई सम्पत्ति शासक की निजी सम्पत्ति है अथवा रियासत की सम्पत्ति है, तो वह ऐसे व्यक्ति के सुपुर्द कर दिया जायगा, जिसे भारत सरकार नामित करेगी और उस व्यक्ति का निर्णय अन्तिम होगा तथा सभी सम्बन्धित पक्षों को अनिवार्यरूप से मानना होगा।

अनुच्छेद 12

प्रत्येक प्रतिज्ञाबद्ध रियासत का शासक तथा उसके परिवार के सदस्य उन सभी व्यक्तिगत विशेषाधिकारों, प्रतिष्ठा और उपाधियों के अधिकारी होंगे, जिनका उपभोग वे, 15 अगस्त 1947 से ठीक पहले, अपनी रियासतों के राज्य-क्षेत्रों के अन्दर या बाहर करते थे।

अनुच्छेद 13

1. विधि और प्रथा के अनुसार, प्रत्येक प्रतिज्ञावद्ध रियासत की गद्दी के तथा उसके शासक के व्यक्तिगत अधिकारों, विशेषाधिकारों, प्रतिष्ठा और उपाधियों के उत्तराधिकार की एतद्द्वारा गारन्टी दी जाती है।

2. किसी प्रतिज्ञावद्ध सलामी रियासत के सम्बन्ध में विवादग्रस्त उत्तराधिकार का प्रत्येक प्रश्न शासक परिषद द्वारा काठियावाड़ के उच्च न्यायालय में भेजने के वाद भी उस न्यायालय द्वारा दी गयी राय के अनुसार, निर्णीत किया जायगा।

अनुच्छेद 14

काठियावाड़ रियासत के द्वारा अथवा उसके प्राधिकार के अधीन, किसी प्रतिज्ञावद्ध रियासत के शासक के विरुद्ध, उसके उस रियासत के प्रशासन-काल में, उसके द्वारा या उसके प्राधिकार से, व्यक्तिगत हैसियत से अथवा अन्य किसी प्रकार से, किये गये अथवा उपेक्षित किये गये, किसी कार्य के सम्बन्ध में, कोई जांच नहीं की जायगी और न उस रियासत के किसी न्यायालय में कानूनी कार्रवाई ही की जायगी।

अनुच्छेद 15

काठियावाड़ सरकार, ऐसे किसी विषय में नीति और क्रियान्विति के अधिक अच्छे समन्वय के लिए सिफारिशों की जांच करने तथा उन पर विशेष रूप से विचार करने के वास्ते, भारत सरकार और वम्वई सरकार के परामर्श से, काठियावाड़ के मन्त्रियों तथा वम्वई प्रान्त के मन्त्रियों की एक संयुक्त सलाहकार परिषद वनाने के लिए आवश्यक समस्त उपाय करेगी।

अनुच्छेद 16

संयुक्त काठियावाड़ रियासत इस वात की गारन्टी देती है कि प्रत्येक प्रतिज्ञावद्ध रियासत की सार्वजनिक सेवाओं के स्थायी सदस्यों की सेवायें या तो उन शर्तों पर जारी रखी जायेंगी, जो उन शर्तों से कम लाभदायक न होंगी, जिन पर वे उस रियासत का प्रशासन राजप्रमुख को सौंपे जाने की तारीख से पहले काम कर रहे थे या उनकी समुचित क्षतिपूर्ति कर दी जायगी।

2. संयुक्त काठियावाड़ रियासत यह भी गारन्टी देती है कि किसी भी प्रतिज्ञावद्ध रियासत में, उस रियासत की सार्वजनिक सेवाओं के उन सदस्यों के लिए, जो इस

अनुच्छेद के पैरा (1) में निर्दिष्ट तारीख से पहले सेवानिवृत्त हो गये हैं या निवृत्ति-पूर्व-छुट्टी पर चले गये हैं, संक्षम प्राधिकारियों द्वारा स्वीकृत पेंशनें और छुट्टी-वेतन जारी रखे जायेंगे।

3. इस अनुच्छेद के पैरा (1) और (2) के उपबन्ध काठियावाड़ की ऐसी किसी रियासत की सार्वजनिक सेवाओं पर भी लागू होंगे, जो संयुक्त काठियावाड़ रियासत में विलीन होगी; तथा पैरा (1) के उपबन्ध पश्चिमी भारत एवं गुजरात-रियासतों के क्षेत्रीय आयुक्त (रीजनल कमिश्नर, वेस्टर्न इंडिया ऐंड गुजरात स्टेट्स) के उन कर्मचारियों पर भी लागू होंगे, जो संयुक्त काठियावाड़ रियासत की सेवा में स्थानान्तरित होंगे।

अनुच्छेद 17

राजप्रमुख की पूर्वानुमति के बिना, किसी व्यक्ति के विरुद्ध, किसी प्रतिज्ञावद्ध रियासत के कर्मचारी की हैसियत से उसके कर्त्तव्यपालन के समय, उस दिन से पहले, जिस दिन उसका प्रशासन राजप्रमुख को सौंपा गया है, उसके द्वारा किये गये या किये जाने वाले किसी कार्य के सम्बन्ध में, कोई दीवानी या फौजदारी सम्बन्धी कानूनी कार्रवाई नहीं की जायगी।

अनुच्छेद 18

इस प्रतिज्ञापत्र की कोई बात काठियावाड़ सरकार को, उन शर्तों पर, जो काठियावाड़ की शासक-परिषद एवं मन्त्रिपरिषद द्वारा मान्य हों, अन्य गुजराती-भाषी क्षेत्रों के साथ काठियावाड़ का संघ बनाने के सम्बन्ध में बातचीत करने से नहीं रोक सकेगी।

अनुसूची—1

प्रतिज्ञाबद्ध रियासतें और प्रिवी पर्स की राशियां

भाग (क)——सलामी रियासतें

		रु०
1.	नवानगर	10,00,000
2.	भावनगर	10,00,000
3.	पोरबन्दर	3,80,000
4.	ध्रांगध्रा	3,80,000
5.	मोर्वी	8,00,000
6.	गोंडल	8,00,000
7.	जाफराबाद	16,000
8.	वांकानेर	1,80,000
9.	पालिताना	1,80,000
10.	ध्रोल	1,10,000
11.	लिम्बडी	1,95,000
12.	राजकोट	2,85,000
13.	वधवान	1,42,000

भाग (ख)——गैर-सलामी रियासतें

1.	लक्तर	91,000
2.	सेला	62,500
3.	चूडा	51,250
4.	वाला	88,750
5.	जसदन	1,50,000
6.	अमरनगर थाना देवली	1,00,000
7.	वाडिया	78,250
8.	लाठी	77,500
9.	मूली	. .

10.	वाजना	65,500
11.	वीरपुर	44,500
12.	मालिया	47,500
13.	कोटदा-संगानी	67,000
14.	जेतपुर	1,00,000
15.	बिल्खा	1,00,000
16.	पाटदी	20,000
17.	खेरासरा	30,000

अनुसूची—2

1. संविधान सभा में संयुक्त काठियावाड़ रियासत की जनता के, लगभग एक लाख की जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि के हिसाब से चुने गये, पैंतालीस से अधिक निर्वाचित प्रतिनिधि न होंगे;

परन्तु, प्रत्येक प्रतिज्ञाबद्ध रियासत की जनता को, अपनी संख्या का विचार किये विना कम से कम एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार होगा।

2. संयुक्त काठियावाड़ रियासत क्षेत्रीय निर्वाचन-क्षेत्रों में विभाजित की जायगी और कुल सीटें उनमें इस प्रकार बांट दी जायेंगी कि प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र को सुविधानुसार एक या दो सीटें नियत की जा सकें। जहां तक संभव होगा, निर्वाचन-क्षेत्र की सीमा इस प्रकार निर्धारित की जायगी कि वह किसी प्रतिज्ञाबद्ध रियासत के किसी संहत भाग की सीमाओं को न काटे।

3. संविधान सभा की सदस्यता के लिए तथा मतदाता-सूची में सम्मिलित किये जाने के लिए योग्यतायें वे ही होंगी, जो बम्बई की प्रान्तीय विधान सभा के लिए निर्धारित हैं; पर, आवश्यक परिवर्तन किये जा सकते हैं;

परन्तु, कोई भी व्यक्ति, केवल इस कारण से कि वह किसी प्रतिज्ञाबद्ध या अन्य रियासत का शासक अथवा किसी ताल्लुके या जागीर का ताल्लुकेदार है, संविधान सभा का सदस्य चुने जाने या होने अथवा किसी निर्वाचन-क्षेत्र की मतदाता-सूची में सम्मिलित किये जाने के अयोग्य न समझा जायगा।

4. राज प्रमुख, इस अनुसूची के पूर्ववर्ती उपबन्धों के साथ सामंजस्य रखते हुए, निम्नलिखित के लिए, यथा समय एक आदेश तैयार करेगा और उसे जारी करेगा :—

(क) निर्वाचन-क्षेत्रों का परिसीमन;

(ख) मतदाता-सूची तैयार करना;

(ग) संविधान सभा की सदस्यता के लिए योग्यतायें;

(घ) चुनावों में मतदान का अधिकार प्राप्त करने के लिए योग्यतायें;

(ङ) आकस्मिक रिक्तियां भरने के लिए उपनिर्वाचनों सहित, निर्वाचनों का संचालन;

(च) ऐसे निर्वाचनों के अवसर पर अथवा उनके सम्बन्ध में भ्रष्ट आचरण; और

(छ) ऐसे निर्वाचनों से अथवा उनके सम्बन्ध में उठनेवाली शंकाओं और विवादों के सम्बन्ध में निर्णय।

उपर्युक्त प्रतिज्ञापत्र की सम्पुष्टि में हम अपनी ओर से, अपने दायादों की ओर से तथा उत्तराधिकारियों की ओर से, अपने हस्ताक्षर करते हैं।

(ह०) प्रतिज्ञाबद्ध रियासतों के शासक

भारत सरकार एतद्द्वारा उपर्युक्त प्रतिज्ञापत्र से सहमत है और इसके समस्त उपबन्धों के लिए गारन्टी देती है। इसकी सम्पुष्टि में, रियासत-मन्त्रालय में भारत सरकार के सचिव श्री वापल पंगुन्नी मेनन, भारत सरकार की ओर से तथा उसके प्राधिकार से अपने हस्ताक्षर करते हैं।

(ह०) वी० पी० मेनन
सचिव, भारत सरकार,
रियासत-मन्त्रालय।